

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापक-आचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

सम्पूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक



श्री चैतन्य पञ्चतत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीता के आदर्श आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु अपने पार्षदों के
श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द । श्री अद्वैत गदाध



धृतराष्ट्र की सञ्जय से युद्ध-विषयक जिज्ञासा (१.१)



युद्धभूमि मे उपस्थित बन्धु-बान्धवो के विविध वर्गों को देखकर अर्जुन करुणा से अभिभूत हो गया (१.२७)



श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है और वे सब कारणों के परम कारण, आदि पुरुष गोविन्द हैं (२.२)



श्रीभगवान् ने कहा, पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गए हैं, उनके लिए भी शोक नहीं करते (२ ११)



जीवात्मा को देह मे क्रमशः कौमार, यौवन और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है। अन्त में, जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है (ऊपर), उसी प्रकार (नीचे) आत्मा जीर्ण हुए पुराने शरीरों को त्यागकर नूतन देह ग्रहण करता है (२.१३, २२)



चित्रपट की भांति शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, परन्तु आत्मा सदा निर्विकार रहता है (२.१३)






इन्द्रिय-विषयो का चिन्तन करने से मनुष्य की उनमे ग्रासक्ति हो जाती है, ग्रासक्ति से काम उत्पन्न होता है ग्रौर काम से क्रोध प्रकट होता है; क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है ग्रौर मोह से स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति-भ्रम से बु
बुद्धिनाश से संसार कूप मे फिर से पतन हो जाता है (२.६२, ६३)





यज्ञो से सन्तुष्ट हुए देवता भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति से मनुष्य की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण कर देते है (३ १२)

भगवान् श्रीकृष्ण ने इस अविनाशी योग का सूर्य को उपदेश किया, सूर्य ने मनु से कहा और मनु ने पुत्र इक्ष्वाकु को दी। इस प्रकार परम्परा के द्वारा [illegible] (४।१)



विनयी तत्त्ववेत्ता को प्रत्येक देह में जीवात्मा के साथ परमात्मा का दर्शन होता है (५.१८)



जीवात्मा देहरूपी रथ में सवार है। बुद्धि इसका सारथी है, मन लगाम है और इन्द्रियां घोड़े हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियों के संग में जीव दुःख-सुख भोगता है (६.३४)

श्रीमद्भगवद्गीता
यथारूप

॥ श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

कलियुगपावन स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतार
श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परंपरायां दशम्
विश्वव्यापीश्रीहरेकृष्ण महामन्त्रप्रचारकप्रवर
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीरूपानुगवर जगद्गुरु
ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत
श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हिन्दी भाषान्तरकार
राजीव गुप्ता

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
न्यूयार्क-लास ऐन्जोलीस-लण्डन-बम्बई

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु में रुचिवान् पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रों से सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है :

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१. हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई—४०००५४
२. २१/ए, फिरोज गाँधी रोड, नई दिल्ली—११००२४
३. श्रीकृष्ण बलराम-मन्दिर, भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती वृन्दावन, (मथुरा उ. प्र.) दूरभाष : १७८
४. हरे कृष्ण लैण्ड, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद-५०००० १। (आ० प्र०)
५. इस्कोन, हरे कृष्ण लैण्ड, दक्षिण मार्ग, नं० ५६६ सेक्टर, ३६-बी चण्डीगढ़ (पंजाब)
६. ७, कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड, अहमदाबाद (गुजरात)
७. इस्कोन, नं० ८१ फ्लैट ४०, शिव दर्शन बिल्डिंग, इन्फैंट्री रोड बंगलोर-१
८. ३, एल्बर्ट रोड, कलकत्ता-७०००१७ (पं० बंगाल)
९. श्रीमायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो० श्रीमायापुर धाम (नदिया, पं० बंगाल)

Printed and Published by Bhaktivedanta Book Trust, Juhu Road, Juhu, Bombay, at Usha Offset Printers Pvt. Ltd., 125, Industrial Estate, Kandivli, Bombay 400 067.

समर्पण

वेदान्त दर्शन पर गोविन्द भाष्य के प्रणेता

श्रील बलदेव विद्याभूषण

को

"श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप" पर प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मतियाँ

"श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं और उनके ग्रन्थ मानव-समाज के कल्याण में बड़े सहायक हैं।

लाल बहादुर शास्त्री, भूतपूर्व प्रधानमन्त्री

"श्रील प्रभुपाद ने वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए जो कार्य किया है, वह अतुलनीय है। आज के संघर्षमय संसार में यह मूर्धन्य भाष्य देदीप्यमान सूर्य है।

डा० जगदीश शर्मा, पंजाब विश्वविद्यालय

"इस भाष्य में प्रकट हुई विद्वत्ता तथा भक्ति-भाव की अवधि सर्वथा अनिर्वचनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रील प्रभुपाद के सत्प्रयास से हमारी भावी पीढ़ियों के लिये उज्ज्वल जीवन का निर्माण होगा।"

डा० विश्वनाथ शुक्ल, अलीगढ़ विश्वविद्यालय

"यह भाष्य दिव्य आलोक और चिन्तन से युक्त अन्तःस्पर्शी कृति है। गीता के हजारों संस्करण प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इतने प्रामाणिक संस्करण के दर्शन आज तक नहीं हुए।

डा० शालिग्राम शुक्ल, जार्जटाऊन, अमरीका

"पश्चिम में रहने वाले एक मूल भारतीय के नाते मुझे अपने देशवासियों को गुरु के रूप में पश्चिम आते देखकर अपार दुःख हुआ है। इस सन्दर्भ में श्री स्वामी भक्तिवेदान्त प्रभुपाद के 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' नामक प्रामाणिक संस्करण का प्रकाशन हर्ष का विषय है। इससे पाखण्डी और अप्रामाणिक 'गुरुओं' और 'योगियों' के कपट-व्यापार को रोकने में सहायता मिलेगी।

डा० कैलाश वाजपेयी, मैक्सीको विश्वविद्यालय

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व है। यह भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की मकरन्द-सुधा है। पाँच हजार वर्षों से यह भारतीय जनमानस को अनुप्राणित करता रहा है; परन्तु आज इसकी पावन कीर्ति भारत तक ही सीमित नहीं है। आज सम्पूर्ण विश्व के मनीषी-वर्ग तथा जन-जन में भगवान् श्रीकृष्ण की इस दिव्य वाणी का प्रसार हुआ है। इस अभूतपूर्व कार्य का श्रेय श्री भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद और उनके अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ को है। श्रील प्रभुपाद भगवान् श्रीकृष्ण से चली आ रही परम्परा के आधुनिक आचार्य हैं। उनके शुद्ध भक्त-स्वरूप का प्रमाण स्वयं गीता में ही विद्यमान है। गीतोपदेश के अन्त में श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा (१८,६८-६९): "जो पुरुष इसका भक्ति-भाव से प्रचार करेगा, उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई नहीं है; और भविष्य में भी नहीं होगा। श्रील प्रभुपाद से पूर्व गीता पर अगणित भाष्यों की रचना हुई। परन्तु प्रायः सभी भाष्यकारों ने गीता की आत्मा को वैयक्तिक अर्थ के आरोपण से ढक दिया है। ये व्याख्याकार तो वस्तुतः श्रीकृष्ण को वक्ता-पद से हटा कर स्वयं वक्ता बन बैठे हैं, जिससे गीता का प्रयोजन ही नष्टप्रायः हो गया। श्रील प्रभुपाद ने गीता को उसी रूप में प्रस्तुत किया है, जिस रूप में श्रीकृष्ण ने उसे सुनाया और अर्जुन ने धारण किया। श्री भगवान् के मत में गीता पर शुद्ध भक्त का भाष्य ही यथार्थ एवं प्रामाणिक मान्य है।

आवरण : कुरुक्षेत्र की रणभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का उपदेश कर रहे हैं।

अनुक्रमणिका

'उपक्रमणिका'

मूलरूप में मैंने 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' को इसी बृहद् आकार में लिखा था। परन्तु प्रकाशन के समय मूल पाण्डुलिपि को चार सौ से भी कम पृष्ठों तक सीमित करना पड़ा, जिससे श्रीमद्भगवद्गीता के अधिकांश मूल श्लोकों की व्याख्या उस संस्करण में नहीं आ सकी। 'श्रीमद्-भागवत', श्रीईशोपनिषद् 'श्रीचैतन्य चरितामृत' आदि मेरे अन्य सभी ग्रन्थों में मूल श्लोक के साथ उनका अन्वय, अनुवाद तथा विशद व्याख्या रहती है। इस विधि से ग्रन्थ बड़ा प्रामाणिक और विद्वतापूर्ण बन जाता है तथा अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः अपनी मूल पाण्डुलिपि की काट-छाँट से मैं प्रसन्न नहीं था। बाद में, 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' की लोकप्रियता बहुत बढ़ जाने पर विद्वानों और भक्तों ने आग्रह किया कि मैं ग्रन्थ को उसके मूल बृहद् रूप में प्रस्तुत करूं तथा मैकमिलन एण्ड कं० सम्पूर्ण संस्करण के प्रकाशन के लिए सहमत हो गए। अतएव इस महान् ज्ञान-शास्त्र की पूर्ण 'परम्परा व्याख्या' को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कृष्णभावनामृत आन्दोलन उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ आधार पर स्थापित हो।

हमारा 'कृष्णभावनामृत आन्दोलन' प्रामाणिक, ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकृत, स्वाभाविक तथा दिव्य है, क्योंकि इसका आधार श्रीमद्-भगवद्गीता है। यह शनैः शनैः सम्पूर्ण विश्व में, विशेष रूप से, तरुणवर्ग में सबसे अधिक लोकप्रिय आन्दोलन का स्थान पाता जा रहा। यही नहीं, प्रौढ़ वर्ग भी अब इसमें रुचि लेने लगा है। यहां तक कि मेरे शिष्यों के पिता, पितामह, आदि हमारे महान् संघ—अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के आजीवन सदस्य बनकर हमें प्रोत्साहित कर रहे हैं। जब मैं लॉस एंजिलिस में था, तो बहुत से माता-पिता संपूर्ण विश्व में कृष्णभावनामृत

ग्रान्दोलन का संचालन करने के लिए मुझे धन्यवाद देने आते थे। उनमें कुछ का उद्गार था कि अमरीकी जनता का सौभाग्य है कि मैंने कृष्ण-भावनामृत आन्दोलन का प्रवर्तन ग्रमरीका में किया। परन्तु वास्तव में इस ग्रान्दोलन के ग्रादि-पिता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उनसे ग्रतीत काल में प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन शिष्य परंपरा के द्वारा मानव-समाज में चला आ रहा है। यदि इस सम्बन्ध में मुझे कुछ सफलता मिली है, तो उनका श्रेय स्वयं मुझको नहीं, वरन् मेरे नित्य गुरु, कृष्णकृपाविग्रह ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद को है।

इस सन्दर्भ में यदि मुझको कुछ श्रेय है, तो बस इतना ही कि मैंने श्रीमद्भगवद्गीता को विकृत किए बिना, उसके यथार्थ रूप में (यथारूप—As it is) प्रस्तुत किया है। मेरे इस 'भगवद्गीता यथारूप' संस्करण से पूर्व गीता के जितने भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उसमें से प्राय: सभी किसी न किसी स्वार्थ-पूर्ति के लिए लक्षित थे। परन्तु 'श्रीमद्-भगवद्गीता' को प्रकाशित करने में हमारा एकमात्र लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण के संदेश को प्रस्तुत करना है। हमारा काम श्रीकृष्ण की इच्छा को प्रकट करना है; यह राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, वैज्ञानिक, ग्रादि लौकिक विद्वानों की मनोधर्मी के समान नही है, क्योंकि नाना प्रकार के ज्ञान से युक्त होने पर भी उनमें श्रीकृष्ण के ज्ञान का प्राय: अभाव ही रहता है। जब श्रीकृष्ण कहते है कि, 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु' इत्यादि तो इन तथाकथित विद्वानों के विपरीत हम ऐसा नहीं कहते कि श्रीकृष्ण ग्रौर उनकी ग्रन्तरात्मा में भेद है। श्रीकृष्ण ग्रद्वय-तत्त्व हैं; उनके नाम, रूप, दिव्य, गुण, लीला ग्रादि में कोई भेद नही है। जो मनुष्य परम्परा के ग्रन्तर्गत कृष्णभक्त नही है, उसके लिए श्रीकृष्ण के इस ग्रद्वय-तत्त्व को जान पाना कठिन होगा। सामान्यत: देखा गया है कि तथाकथित विद्वान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा स्वामीगण, जो श्रीकृष्ण के पूर्ण तत्त्वज्ञान से रहित हैं, भगवद्गीता पर भाष्य-रचना करने के रूप मे श्रीकृष्ण के ग्रस्तित्त्व को समाप्त कर देने का ही प्रयत्न करते हैं। भगवद्गीता के ऐसे ग्रप्रामाणिक भाष्यो को मायावादी भाष्य कहा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमे इन ग्रप्रामाणिक

व्याख्याकारों से सचेत किया है। उनकी वाणी है कि जो कोई भी गीता को मायावादी मत के अनुसार समझने का प्रयत्न करेगा, वह महान् अपराध कर बैठेगा। गीता का ऐसा भ्रान्त विद्यार्थी परमार्थ के पथ में निश्चित रूप से मोहित हो जायगा तथा अपने यथार्थ निवास—भगवद्-धाम को नहीं जा सकेगा।

हमारा एकमात्र प्रयोजन श्रीमद्भगवद्गीता को यथारूप (As it is) प्रस्तुत करना है, जिससे बद्ध जीव का उसी लक्ष्य की ओर मार्गदर्शन हो सके, जिसके लिए ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में, अर्थात् ८६,००,०००,००० वर्षों के कल्प में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अवतरित होते हैं। इस प्रयोजन का गीता में उल्लेख है और हमें इसे उसी रूप में (यथारूप) ग्रहण करना है। अन्यथा, भगवद्गीता और उसके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने के लिए साधन करना व्यर्थ होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता सर्वप्रथम सूर्यदेव को करोड़ों वर्ष पूर्व सुनाई थी। इस सत्य को स्वीकार कर श्रीकृष्ण के प्रमाण के आधार पर अर्थ का अनर्थ किए बिना गीता के ऐतिहासिक माहात्म्य को समझ लेना चाहिए। श्रीकृष्ण की इच्छा के विरुद्ध गीता का अर्थ करना महान् अपराध है। इससे अपनी रक्षा के लिए यह जान लेना आवश्यक है श्रीकृष्ण भगवान् हैं, जैसा उनके प्रथम शिष्य अर्जुन ने स्वयं उनसे जाना था। गीता का ऐसा ज्ञान ही यथार्थ में मानव समाज के कल्याण कार्य के लिए श्रेयकर तथा प्रामाणिक है, मानव जीवन की सार्थकता वस्तुतः इसी में है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीवन की परम संसिद्धि प्राप्त कराता है; अतः यह मानव-समाज के लिए अनिवार्य है। भगवद्गीता में इस विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। दुर्भाग्यवश, प्रापञ्चिक वाग्चातुरी करने वाले मूढ़ गीता की आड़ में अपनी आसुरी प्रवृत्ति को ही उभारते हैं, जिससे अबोध जनता जीवन के सामान्य नियमों के यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा और जीव के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। उसे यह बोध होना चाहिए कि जीव स्वरूपतः नित्य दास है; अतः यदि वह श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करेगा तो नाना रूपों में त्रिगुणमयी माया की सेवा करनी पड़ेगी, जिससे जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहेगा। यहां तक कि मायावादी ज्ञानी भी इस आवागमन से मुक्त

नहीं हो पाता। अस्तु, श्री भगवान् की महिमा और जीव के स्वरूप का यह ज्ञान परमोच्च विज्ञान है तथा इसका श्रवण करना जीव के अपने हित में है।

इस कलियुग में सामान्यतः लोग श्रीकृष्ण की बहिरंगा मायाशक्ति से मोहित रहते हैं और भ्रमपूर्वक समझते हैं कि भौतिक सुख-सुविधा की उन्नति से प्रत्येक मनुष्य सुखी हो सकता है। वे नहीं जानते कि माया बड़ी बलवान् है, जीव मात्र उसके दुस्तर नियमों में बंधा हुआ है। जीव का सुख श्री भगवान् के भिन्न-अंश के रूप में ही है। उसका स्वरूप-धर्म यही है कि बिना विलम्ब श्री भगवान् की सेवा के परायण हो जाय। माया के वशीभूत हुआ जीव विविध प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तृप्त करके सुखी होने का प्रयत्न करता है, परन्तु वास्तव में इस प्रकार वह कभी सुखी नहीं हो सकता। अपनी प्राकृत इन्द्रियों को तृप्त करने के स्थान पर श्रीभगवान् की इन्द्रियों को ही तृप्त करना चाहिए। यही जीवन की परमोच्च सफलता है। श्रीभगवान् ऐसा आग्रह पूर्वक चाहते हैं। भगवद्गीता के इस केन्द्र विन्दु को भली भांति समझना है। हमारा कृष्णभवनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व को इसी केन्द्र बिन्दु की शिक्षा दे रहा है। हम भगवद्गीता की आत्मा को भ्रष्ट (दूषित) नहीं करते, इसलिए जो कोई भगवद्गीता के अध्ययन से यथार्थ में श्रेय-प्राप्ति का अभिलाषी हो, वह साक्षात् भगवान् के मार्गदर्शन में गीता के क्रियात्मक ज्ञान के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का आश्रय अवश्य ग्रहण करे। हमें आशा है कि हमारे द्वारा प्रस्तुत 'भगवद्गीता यथारूप' का अध्ययन करने से जनता का परम कल्याण होगा तथा इससे यदि एक भी मनुष्य शुद्ध भगवद्भक्त बन गया, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

१२ मई, १९७१
सिडनी, आस्ट्रेलिया





अन्तर्दर्शन

ओमज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥

अज्ञान रूपी अन्धकार में मेरा जन्म हुआ। परन्तु करुणानिधान गुरुदेव ने ज्ञान-प्रकाश द्वारा मेरे नेत्रों को खोल दिया। मैं उनकी सादर वन्दना करता हूं।

श्री चैतन्य महाप्रभु की आकांक्षा-पूर्ति-हेतु इस संसार में हरे कृष्ण आन्दोलन स्थापित करने वाले श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद अपने चरणारविन्द का आश्रय मुझे कब प्रदान करेंगे ?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च।
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम्॥
साद्वैतं सावधूतं परिजन-सहितं कृष्ण चैतन्य देवं।
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च॥

मैं अपने गुरुदेव तथा सम्पूर्ण वैष्णव-वृन्द के पाद-पद्मों की आदर सहित वंदना करता हूं। श्रील रूप गोस्वामी, उनके अग्रज सनातन गोस्वामी, रघुनाथ दास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट तथा जीव गोस्वामी की भी सादर वन्दना करता हूं; सविनय श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु, श्री नित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैतआचार्य, गदाधर, श्रीवासादि पार्षदों की वन्दना करता हूं और अंत में श्रीललिता श्री विशाखा आदि सखियों के सहित श्री श्रीराधाकृष्ण की वन्दना करता हूं।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते॥

हे कृष्ण ! हे करुणासिन्धो ! हे दीनबन्धो! जगत्पते! हे गोपेश ! हे गोपिकाकान्त ! हे राधाकान्त ! मैं आपको सादर प्रणाम करता हूं।

तप्तकाञ्चन गौराङ्गि राधे वृन्दावनेश्वरी।
वृषभानुसुते देवी प्रणमामि हरिप्रिये॥

तप्त-कांचन सुवर्ण वाली वृन्दावनेश्वरी, वृषभानुनन्दिनी, कृष्णप्रिया श्रीमती राधारानी को सादर प्रणाम करता हूं।

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

श्री भगवान् के वैष्णव-भक्तों की मैं वन्दना करता हूं, जो सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने में कल्पतरु के समान समर्थ हैं तथा पतित जीवों के लिए अहैतुकी कृपा से ओतप्रोत हैं।

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द।
श्री अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौर भक्तवृन्द॥

श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु, प्रभु नित्यानंन्द, श्री अद्वैत, गदाधर, श्रीवास तथा अन्य सभी भक्तों की मैं सादर वन्दना करता हूं।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

श्रीमद्भगवद्गीता को 'गीतोपनिषद्' भी कहा जाता है। यह सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय की सर्वप्रधान उपनिषद् है, वस्तुतः वैदिक ज्ञान का सार सर्वस्व ही है। निस्सन्देह, आंग्ल भाषा में भगवद्गीता पर अनेक भाष्य उपलब्ध हैं। अतएव पाठक के हृदय में इस नवीन संस्करण के प्रयोजन की जिज्ञासा का उदय होना स्वाभाविक ही है। इस वर्तमान संस्करण का अभिप्राय इस प्रकार समझाया जा सकता है। कुछ दिन हुए एक अमरीकन महिला ने मुझ से आग्रह किया कि मैं भगवद्गीता के किसी अंग्रेजी-अनुवाद का परामर्श दूं। निस्सन्देह अमरीका में भगवद्गीता के अनेक अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं; किन्तु अमरीका में ही नहीं, वरन् भारत में भी, जहां तक मेरा अनुभव है, उनमें से किसी को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रायः सभी भाष्यकारों ने भगवद्गीता की आत्मा को यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, वरन् उस पर अपना वैयक्तिक मत ही आरोपित किया है।

भगवद्गीता की आत्मा का भगवद्गीता में ही निरूपण है। वह इस प्रकार है : किसी विशेष औषधी का सेवन उस पर लिखित आदेश के अनुसार ही किया जाता है। हम स्वेच्छा से अथवा मित्र के परामर्श पर उसे नहीं ले सकते। उस पर लिखी विधि अथवा चिकित्सक के निर्देशानुसार ही औषधी का सेवन करना होगा। इसी भांति भगवद्गीता को उसी प्रकार ग्रहण करना है, जैसा कि स्वयं गीता-गायक ने प्रवचन किया है। भगवद्गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उन्हें भगवद्गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर 'भगवान्' कहा गया है। निस्संदेह 'भगवान्' शब्द शक्तिशाली महापुरुष अथवा देवता के लिए भी प्रयुक्त होता है। गीता में 'भगवान्' शब्द श्रीकृष्ण को महापुरुष तो घोषित करता ही है; परन्तु *साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्* (आदि पुरुष) हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वैदिक ज्ञान के अन्य सभी आचार्यों ने इस सत्य को प्रमाणित किया है। श्रीकृष्ण ने भी गीता में स्वयं को परात्पर परमेश्वर,

स्वयं भगवान् घोषित किया है। ब्रह्म-संहिता तथा सभी पुराणों, विशेषत: श्रीमद्भागवत ने उनकी परात्परता को एक स्वर से स्वीकार किया है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतएव हम भगवद्गीता को उसी रूप में ग्रहण करें, जिस रूप में श्रीभगवान् ने उसे कहा है।

गीता के चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥
एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदु:।
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन:।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि इस योग-पद्धति अर्थात् भगवद्गीता का प्रवचन उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव के प्रति किया। सूर्यदेव ने इसे मनु को सुनाया और मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार शिष्य-परम्परा के अनुगामी वक्ताओं के द्वारा यह 'योग' मानव समाज में चला आता रहा। कालान्तर में, उस शिष्य परम्परा के विश्रृं-खलित हो जाने पर यह लुप्तप्राय हो गया। अत: श्रीभगवान् इसका पुन: प्रवचन कर रहे हैं और इस बार उनका श्रोता है, कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में स्थित हुआ अर्जुन।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वे इस परम रहस्य को उसे इसी-लिए सुना रहे हैं, क्योंकि वह उनका प्रिय भक्त एवं सखा है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता-रूपी दर्शन विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिये कहा गया है। साधकों की तीन कोटियां हैं: ज्ञानी, योगी तथा भक्त। यहां श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है कि गीता की पुरातन परम्परा विश्रृं-खलित हो गयी है, अत: वे उसे नूतन परम्परा का प्रथम श्रोता बना रहे हैं। स्पष्टत: श्रीभगवान् को ऐसी नवीन परम्परा को स्थापित करना अभीष्ट था, जो सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की अनुगामिनी हो। वे यह भी चाहते थे कि अर्जुन उनकी शिक्षा का पुन: प्रसार-प्रचार करे, अर्थात् भगवद्गीता-ज्ञान का अधिकृत आचार्य बन जाय। अस्तु, हम

देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिए ही किया गया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम भक्त, आज्ञाकारी शिष्य तथा अन्तरंग सखा था। प्रत्यक्षतः वही मनुष्य गीता को उत्तम प्रकार से से हृदयंगम कर सकता है, जो अर्जुन के सदृश गुणों से युक्त हो, अर्थात् भगवद्भक्त हो और श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध भी रखता हो। हृदय में भक्ति का उदय होते ही श्रीभगवान् से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है। यह अति विशद तत्त्व है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त और भगवान् में पांच रसों में से किसी एक में सम्बन्ध रहता है। ये पांच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।

अर्जुन और श्रीभगवान् में सखाभाव था। अवश्य ही, इस सख्य-भाव तथा सांसारिक मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तराल है। यह एक ऐसी दिव्य मित्रता है, जिसकी प्राप्ति सबके लिए सम्भव नहीं। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से एक विशिष्ट सम्बन्ध है जो भक्ति की संसिद्धि होने पर उद्भावित हो जाता है। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि जीवन की वर्तमान अवस्था में श्रीभगवान् की ही नहीं, वरन् उनसे अपने नित्य सम्बन्ध की भी हमें विस्मृति हो गई है। कोटि-कोटि जीवों में से प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। इसे 'स्वरूप' कहा जाता है। भक्ति योग के द्वारा इस स्वरूप को पुनः उद्भावित किया जा सकता है। यही अवस्था 'स्वरूपसिद्धि' कहलाती है। अस्तु, अर्जुन भक्त हैं और सख्य-भाव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध भी है।

अर्जुन ने भगवद्गीता को किस प्रकार हृदयंगम किया, यह ध्यान देने योग्य है। इसका उल्लेख दसवें अध्याय में है :

> अर्जुन उवाच।
> परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
> पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
> आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।
> असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

स्वयं भगवान् घोषित किया है। ब्रह्म-संहिता तथा सभी पुराणों, विशेषतः श्रीमद्भागवत ने उनकी परात्परता को एक स्वर से स्वीकार किया है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतएव हम भगवद्गीता को उसी रूप में ग्रहण करें, जिस रूप में श्रीभगवान् ने उसे कहा है।

गीता के चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥
एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि इस योग-पद्धति अर्थात् भगवद्गीता का प्रवचन उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव के प्रति किया। सूर्यदेव ने इसे मनु को सुनाया और मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार शिष्य-परम्परा के अनुगामी वक्ताओं के द्वारा यह 'योग' मानव समाज में चला आता रहा। कालान्तर में, उस शिष्य परम्परा के विशृं-खलित हो जाने पर यह लुप्तप्राय हो गया। अतः श्रीभगवान् इसका पुनः प्रवचन कर रहे हैं और इस बार उनका श्रोता है, कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में स्थित हुआ अर्जुन।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वे इस परम रहस्य को उसे इसी-लिए सुना रहे हैं, क्योंकि वह उनका प्रिय भक्त एवं सखा है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता-रूपी दर्शन विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिये कहा गया है। साधकों की तीन कोटियां हैं: ज्ञानी, योगी तथा भक्त। यहां श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है कि गीता की पुरातन परम्परा विशृं-खलित हो गयी है, अतः वे उसे नूतन परम्परा का प्रथम श्रोता बना रहे हैं। स्पष्टतः श्रीभगवान् को ऐसी नवीन परम्परा को स्थापित करना अभीष्ट था, जो सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की अनुगामिनी हो। वे यह भी चाहते थे कि अर्जुन उनकी शिक्षा का पुनः प्रसार-प्रचार करे, अर्थात् भगवद्गीता-ज्ञान का अधिकृत आचार्य बन जाय। अस्तु, हम

देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिए ही किया गया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम भक्त, आज्ञाकारी शिष्य तथा अन्तरंग सखा था। प्रत्यक्षतः वही मनुष्य गीता को उत्तम प्रकार से से हृदयंगम कर सकता है, जो अर्जुन के सदृश गुणों से युक्त हो, अर्थात् भगवद्भक्त हो और श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध भी रखता हो। हृदय में भक्ति का उदय होते ही श्रीभगवान् से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है। यह अति विशद तत्त्व है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त और भगवान् में पांच रसों में से किसी एक में सम्बन्ध रहता है। ये पांच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।

अर्जुन और श्रीभगवान् में सखाभाव था। अवश्य ही, इस सख्य-भाव तथा सांसारिक मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तराल है। यह एक ऐसी दिव्य मित्रता है, जिसकी प्राप्ति सबके लिए सम्भव नहीं। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से एक विशिष्ट सम्बन्ध है जो भक्ति की संसिद्धि होने पर उद्भावित हो जाता है। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि जीवन की वर्तमान अवस्था में श्रीभगवान् की ही नहीं, वरन् उनसे अपने नित्य सम्बन्ध की भी हमें विस्मृति हो गई है। कोटि-कोटि जीवों में से प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। इसे 'स्वरूप' कहा जाता है। भक्ति योग के द्वारा इस स्वरूप को पुनः उद्भावित किया जा सकता है। यही अवस्था 'स्वरूपसिद्धि' कहलाती है। अस्तु, अर्जुन भक्त हैं और सख्य-भाव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध भी है।

अर्जुन ने भगवदगीता को किस प्रकार हृदयंगम किया, यह ध्यान देने योग्य है। इसका उल्लेख दसवें अध्याय मे है .

अर्जुन उवाच।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

स्वयं भगवान् घोषित किया है। ब्रह्म-संहिता तथा सभी पुराणों, विशेषतः श्रीमद्भागवत ने उनकी परात्परता को एक स्वर से स्वीकार किया है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतएव हम भगवद्गीता को उसी रूप में ग्रहण करें, जिस रूप में श्रीभगवान् ने उसे कहा है।

गीता के चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥
एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि इस योग-पद्धति अर्थात् भगवद्गीता का प्रवचन उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव के प्रति किया। सूर्यदेव ने इसे मनु को सुनाया और मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार शिष्य-परम्परा के अनुगामी वक्ताओं के द्वारा यह 'योग' मानव समाज में चला आता रहा। कालान्तर में, उस शिष्य परम्परा के विशृंखलित हो जाने पर यह लुप्तप्राय हो गया। अतः श्रीभगवान् इसका पुनः प्रवचन कर रहे हैं और इस बार उनका श्रोता है, कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में स्थित हुआ अर्जुन।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वे इस परम रहस्य को उसे इसीलिए सुना रहे हैं, क्योंकि वह उनका प्रिय भक्त एवं सखा है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता-रूपी दर्शन विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिये कहा गया है। साधकों की तीन कोटियां हैं: ज्ञानी, योगी तथा भक्त। यहां श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है कि गीता की पुरातन परम्परा विशृंखलित हो गयी है, अतः वे उसे नूतन परम्परा का प्रथम श्रोता बना रहे हैं। स्पष्टतः श्रीभगवान् को ऐसी नवीन परम्परा को स्थापित करना अभीष्ट था, जो सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की अनुगामिनी हो। वे यह भी चाहते थे कि अर्जुन उनकी शिक्षा का पुनः प्रसार-प्रचार करे, अर्थात् भगवद्गीता-ज्ञान का अधिकृत आचार्य बन जाय। अस्तु, हम

देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिए ही किया गया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम भक्त, आज्ञाकारी शिष्य तथा अन्तरंग सखा था। प्रत्यक्षतः वही मनुष्य गीता को उत्तम प्रकार से से हृदयंगम कर सकता है, जो अर्जुन के सदृश गुणों से युक्त हो, अर्थात् भगवद्भक्त हो और श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध भी रखता हो। हृदय में भक्ति का उदय होते ही श्रीभगवान् से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है। यह अति विशद तत्त्व है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त और भगवान् में पांच रसों में से किसी एक मे सम्बन्ध रहता है। ये पांच रस हैं--शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।

अर्जुन और श्रीभगवान् मे सखाभाव था। अवश्य ही, इस सख्य-भाव तथा सासारिक मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तराल है। यह एक ऐसी दिव्य मित्रता है, जिसकी प्राप्ति सबके लिए सम्भव नही। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से एक विशिष्ट सम्बन्ध है जो भक्ति की संसिद्धि होने पर उद्भावित हो जाता है। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि जीवन की वर्तमान अवस्था में श्रीभगवान् की ही नही, वरन् उनसे अपने नित्य सम्बन्ध की भी हमें विस्मृति हो गई है। कोटि-कोटि जीवो में से प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। इसे 'स्वरूप' कहा जाता है। भक्ति योग के द्वारा इस स्वरूप को पुनः उद्भावित किया जा सकता है। यही अवस्था 'स्वरूपसिद्धि' कहलाती है। अस्तु, अर्जुन भक्त है और सख्य-भाव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध भी है।

अर्जुन ने भगवद्गीता को किस प्रकार हृदयंगम किया, यह ध्यान देने योग्य है। इसका उल्लेख दसवें अध्याय में है :

> अर्जुन उवाच।
> परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
> पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
> आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।
> असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

अस्तु, भगवद्गीता को भक्तिभाव से ही ग्रहण करना है। श्रीकृष्ण को अपने समान अथवा साधारण मनुष्य मानना तो दूर, महापुरुष-मात्र भी नहीं समझना चाहिये। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं—भगवद्गीता में आए श्रीभगवान् के वचनों से तथा गीता के जिज्ञासु अर्जुन के वचनों से यह सत्य कम-से-कम सिद्धान्त रूप से तो सिद्ध होता ही है। अतएव हम भी श्रीकृष्ण को सिद्धान्त रूप में भगवान् स्वीकार कर ही लें। इस दैन्यभाव से हमें भगवद्गीता का बोध हो जायगा। इसके बिना भगवद्गीता का अध्ययन करने पर भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह परम रहस्यमय (मर्म का विषय) है।

भगवद्गीता वस्तुतः क्या है? अज्ञान रूप भव-सागर से सम्पूर्ण मानवता का उद्धार करना ही भगवद्गीता का प्रयोजन है। सभी मनुष्य नाना प्रकार से कष्ट भोग रहे हैं। अर्जुन भी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मनोव्यथा को प्राप्त हो रहा था। किन्तु वह श्रीकृष्ण के शरणागत हो गया, जिससे इस भगवद्गीता शास्त्र का प्रवचन हुआ। अर्जुन की भांति हम सब भी इस भव-सागर में सदा उद्विग्नता से पूर्ण रहते हैं। यहां तो हमारी सत्ता ही असत् परिस्थिति से उपाधिग्रस्त हो गई है। वास्तव में हमारा अस्तित्व नित्य है। किन्तु जिस किसी कारणवश हमें 'असत्' में डाल दिया गया है। जो वस्तुतः नहीं है, उसे ही 'असत्' कहते हैं।

इस प्रकार दुःख भोगते हुए कोटि-कोटि मनुष्यों में कुछ इने-गिने विवेकी ही यह जिज्ञासा करते हैं कि हम कौन हैं? किस कारण से हम इस प्रकार दुःख भोग रहे हैं? इत्यादि। जब तक दुःख के कारण की जिज्ञासा नहीं होती, जब तक यह अनुभूति नहीं होती कि वह दुःख भोगना ही नहीं चाहता, अपितु सम्पूर्ण दुःखों से सदा के लिये मुक्ति ही चाहता है, तब तक तो उसे यथार्थतः मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता। चित्त में यह जिज्ञासा होने पर ही मानव-जीवन का प्रारम्भ होता है। 'ब्रह्मसूत्र' में इसे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' कहा है। जब तक मनुष्य भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं करता, तब तक उसकी सम्पूर्ण क्रियाएं व्यर्थ हैं। अतः जिनके हृदय में इस जिज्ञासा का उद्भाव हो चुका है कि हम दुःख किस कारण से भोगते हैं? हम कहां से आये हैं और मृत्यु के बाद कहां

जायेंगे ? —वे ही भगवद्गीता की शिक्षा के यथार्थ अधिकारी हैं। यथार्थ शिष्य में श्रीभगवान् के प्रति सुदृढ़ आदरभाव का होना आवश्यक है। अर्जुन ठीक इसी कोटि का ही शिष्य है।

जब-जब मनुष्य को जीवन के यथार्थ लक्ष्य की विस्मृति हो जाती है, तो भगवान् श्रीकृष्ण उसकी स्थापना के लिए विशेष रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। तथापि जागृत हुए अनेक-अनेक मनुष्यों में से भी कोई एक ही स्वरूप-ज्ञान के रहस्य में यथार्थ रूप में प्रवेश कर पाता है। उसी के लिए इस भगवद्गीता का गान किया गया है, क्योंकि वही गीता-ज्ञान का यथार्थ अधिकारी है। अज्ञान-रूपी सिंह वस्तुतः हम सभी के पीछे लगा हुआ है। किन्तु श्रीभगवान् जीवों पर, विशेषतः मनुष्यों पर बड़े कृपामय हैं। इसी कृपा से प्रेरित हुए उन पुरुषोत्तम ने सखा अर्जुन को अपना शिष्य बनाकर भगवद्गीता का गान किया है।

श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होने के कारण अर्जुन अज्ञान से पूर्णरूपेण मुक्त था। परन्तु कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में वह उनसे अज्ञानी की भांति जीवन के दुःखों के विषय में प्रश्न करने लगा, जिससे श्रीकृष्ण आगे होने वाले मनुष्यों के लाभ के लिए उनका समाधान करते हुए यथार्थ जीवन का दिग्दर्शन कराएं। श्रीभगवान् के आज्ञानुसार कर्म करने से ही मानव-जीवन कृतार्थ हो सकता है।

भगवद्गीता-ज्ञान में पांच मूल तत्त्वों का समावेश है। सर्वप्रथम भगवत्-तत्त्व का और जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन है। ईश्वर सब का नियंता है, जबकि जीव उसके द्वारा नियन्त्रित हैं। वस्तुतः पराधीन होते हुए भी जो जीव स्वयं को स्वतन्त्र घोषित करता है, वह अवश्य उन्मत्त है। कम से कम वृद्धावस्था में तो जीव प्रत्यक्ष रूप से सर्वथा परतन्त्र ही है। अतएव भगवद्गीता में दोनों, ईश्वर तत्त्व और जीव तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही, प्रकृति, काल और कर्म का भी इसमें विवेचन है। ब्रह्माण्डीय सृष्टि नाना प्रकार की क्रियाओं से परिपूर्ण है। जीव विविध कर्म कर रहे हैं। भगवद्गीता से हमें जानना है कि ईश्वर तत्त्व क्या है ? जीव तत्त्व क्या है ? प्रकृति क्या है ? ब्रह्माण्डीय सृष्टि क्या है और किस प्रकार काल द्वारा नियन्त्रित है ? तथा जीवों के कर्मों का स्वरूप क्या है ?

भगवद्गीता में स्थापित किया गया है कि पांच प्रतिपाद्य तत्वों में भगवान् श्रीकृष्ण अथवा परमब्रह्म अथवा परमेश्वर अथवा परमात्मा सर्वप्रधान हैं। यह सत्य है कि परमेश्वर और जीव समान चिद्गुणों से युक्त हैं। उदाहरणार्थ जैसा गीता के अनुवर्ती अध्यायों में कहा गया है, श्रीभगवान् संसार, प्रकृति आदि के नियन्ता हैं। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है; वह श्रीभगवान् के नियन्त्रण में क्रिया करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है, 'प्रकृति मेरी ही अध्यक्षता में कार्य करती है।' अपरा प्रकृति में अद्भुत घटनाओं को घटित होते देखकर हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस सब के पीछे एक ईश्वर (नियन्ता) अवश्य है। कोई भी वस्तु सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकती। अतः नियन्ता को भुला देना बालोचित प्रमाद ही होगा। किसी पशु-बल के बिना चलने वाला स्वचालित यन्त्र एक शिशु के लिये विस्मयकारी हो सकता है, किन्तु बुद्धिमान् उसकी संरचना को जानता है कि वाहन के पीछे एक मनुष्य चालक का हाथ है। इसी प्रकार श्रीभगवान् एक ऐसे चालक हैं. जिनके निर्देश में सब कार्य कर रहे हैं। जैसा उत्तरवर्ती अध्यायों में कहा गया है, जीव को श्रीभगवान् ने अपना अंश स्वीकार किया है। स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण ही है और सागर का एक बूंद जल भी खारा होता है। इस न्याय के अनुसार, परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्नांश हम जीवों में भी उनके समान गुण हैं, किन्तु हममें इन गुणो का अति अल्प अंश ही विद्यमान है, क्योंकि हम लघु-ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर नियन्त्रण करने के लिए प्रयत्नशील हैं, जैसे वर्तमान में अन्तरिक्ष तथा ग्रहों पर आधिपत्य करने का प्रयास चल रहा है। यह प्रवृत्ति मूल रूप से श्रीकृष्ण में है और इसी-लिए हममें भी है। *माया पर नियन्त्रण करने की इस प्रवृत्ति के होते हुए* भी हम यह जान लें कि हम परमेश्वर नहीं हैं। भगवद्गीता यही सिखाती है।

भौतिक प्रकृति क्या है? भगवद्गीता में इसे 'अपरा' प्रकृति कहा गया है। जीव-तत्त्व 'परा प्रकृति' है। प्रकृति परा हो अथवा अपरा-वह नित्य परमेश्वर के आधीन है। 'प्रकृति' स्त्रीलिंग है तथा श्रीभगवान् के द्वारा उसी भांति नियन्त्रित है, जैसे पत्नी की क्रियाओं का पति नियन्ता होता है। प्रकृति श्रीभगवान् के नित्य आधीन रहती है, जो उसके अध्यक्ष

हैं। इस प्रकार परा (जीव) तथा अपरा प्रकृति दोनों ही श्रीभगवान् के आधीन हैं। गीता के अनुसार श्रीभगवान् के भिन्नांश होते हुए भी जीव 'प्रकृति' की कोटि में आते हैं। सातवें अध्याय के श्लोक पांच में स्पष्ट उल्लेख है—'अपरेयमितस्त्वन्यां'—'यह मेरी अपरा प्रकृति है।' **'प्रकृति विद्धि मे पराम्। जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥** 'इससे अतीत मेरी एक अन्य जीवरूपा प्रकृति भी है।'

प्रकृति 'सत्त्व, रज और तम'—इन तीन गुणों से रचित है। इन त्रिविध गुणों से अतीत शाश्वत काल तत्त्व है, जिसके नियन्त्रण और अध्यक्षता में गुणों के संघटन से 'कर्म' की अभिव्यक्ति होती है। कर्म अनादि काल से किया जा रहा है, हम सभी अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ जो मनुष्य अथक परिश्रम और बुद्धिमत्ता से धन-संचय कर लेता है, वह सुख भोगता है, जबकि सम्पूर्ण धन खो बैठने वाला दुःख उठाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम इसी भांति कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। इस का नाम 'कर्म तत्त्व' है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, शाश्वत काल तथा कर्म- इन सब तत्त्वों का गीता में विशद विवेचन हुआ है। इनमें से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु वह मिथ्या नहीं है। कतिपय दार्शनिकों का कथन है कि प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है जबकि भगवद्गीता अथवा वैष्णवों का दर्शन कहता है कि यह सत्य नहीं है। संसार की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। वह सत्य अवश्य है, किन्तु साथ ही अस्थायी भी। इसकी तुलना आकाशगामी मेघ अथवा शस्य-पोषिका वर्षा-ऋतु से की जाती है। जैसे ही वर्षा ऋतु व्यतीत हो जाती है, अथवा मेघ चले जाते हैं, वर्षा से पोषित हुआ धान्य पुनः सूख जाता है। इसी प्रकार यह प्राकृत सृष्टि यथासमय प्रकट होती है, कुछ काल तक विद्यमान् रहती है और समय होने पर पुनः विलुप्त हो जाती है। प्रकृति का कार्य ऐसा ही है। परन्तु यह चक्र नित्य भ्रमायमान है। अतः प्रकृति को नित्य कहा है, मिथ्या नहीं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है, "यह मेरी प्रकृति है।" यह अपरा प्रकृति श्रीभगवान् की भिन्ना-शक्ति है। जीव भी श्रीभगवान् की शक्ति हैं,

किन्तु वे विलग नही हैं, श्रीभगवान् से उनका नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल—ये सभी नित्य तत्त्व परस्पर सम्बद्ध है। पांचवां तत्त्व—कर्म नित्य नहीं है। कर्मफल वस्तुत: अति पुरातन हो सकता है। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं,जबकि उस को बदलने की सामर्थ्य हममें है। यह हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध कर्म कर रहे है। इसमे सन्देह नही कि इन सम्पूर्ण क्रियाओं के शुभ-अशुभ फल से मुक्ति के लिए किस प्रकार की क्रिया करनी है, इसका हमें ज्ञान नही है। 'भगवद्गीता' में इसका भी वर्णन है।

परमेश्वर परम-चेतन हैं और उनके भिन्नांश होने के कारण जीव भी चेतन है। यद्यपि जीव और माया दोनों को प्रकृति (भगवत्-शक्ति) कहा गया है, इनमे से केवल जीव ही चेतन है, अपरा प्रकृति चेतन नही। दोनों में यही भेद है। अतएव 'जीव-प्रकृति' को 'परा' कहा जाता है। कहने का भाव यह है कि जीव श्रीभगवान् के सदृश चेतन है। ऐसा होने पर भी श्रीभगवान् परम चेतन है, जबकि जीव के लिए ऐसा नही कहा जा सकता। मुक्ति (संसिद्धि) की किसी भी अवस्था में जीव परम चेतन नही हो सकता। ऐसा कहने वाला मत निस्सन्देह भ्रान्त है। जीव चेतन तो है, किन्तु पूर्ण अथवा परम चेतन नही।

जीव और ईश्वर मे भेद का विवेचन भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में किया गया है। श्रीभगवान् तथा जीव दोनों ही 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् चेतन हैं। दोनों में भेद यह है कि जीव व्यष्टि-चेतन है और श्रीभगवान् समष्टि-चेतन। प्रकारान्तर से, जीव की चेतना एक देह तक ही सीमित है, जबकि श्रीभगवान् की चेतना सर्वव्यापी है। जीव मात्र के हृदय में अभिराजित होने से उन्हें जीवों की मानसिक वृत्ति का पूर्ण ज्ञान रहता है, इस तथ्य को स्मरण रखना चाहिए। यह भी कहा गया है कि जीव के हृदय में ईश्वर-रूप से स्थित हुए परमात्मा स्वेच्छानुरूप कर्म करने के लिए जीव को निर्देश देते हैं। मायाबद्ध जीव को तो कार्य-कर्म की भी विस्मृति हो जाती है। पहले वह कुछ कर्म करने का निश्चय करता है और अनन्तर अपने ही कर्म और कर्मफल मे बन्ध जाता है; एक प्रकार का शरीर त्याग कर अन्य देह में प्रविष्ट होता है, उसी भाँति जैसे

जीर्ण वस्त्रों को उतार कर नूतन परिधान को धारण किया जाता है। इस विधि से देहान्तर करता हुआ जीवात्मा अपने पिछले कर्मफल को भोगता है। इन कर्मों का स्वरूप तभी बदला जा सकता है, जब जीव सत्त्वगुण में स्थित होकर स्वस्थ-चित्त अपने लिए उपयुक्त कर्म का निश्चय कर ले। यदि वह ऐसा करे तो उसके विगत सम्पूर्ण कर्मों का फल बदला जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्मफल शाश्वत् (नित्य) नहीं है। इसीलिए हम कह आए हैं कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल-तत्त्व नित्य हैं, जबकि कर्म नित्य नहीं है।

परम-चेतन ईश्वर और जीव की समानता को इस प्रकार समझा जा सकता है। दोनों की ही चेतना दिव्य है। ऐसा नहीं कि चेतना का उद्भव जड़ प्रकृति के संग से होता है। यह विचार सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। भगवद्गीता इस मत को स्वीकार नहीं करती कि प्राकृतिक रसायनों के सम्मिश्रण की किसी विशिष्ट परिस्थिति में चेतना का उदय हुआ हो। किसी रंग के कांच में से प्रतिबिम्बित हुआ प्रकाश उसी वर्ण का प्रतीयमान होता है। माया-आवरण के कारण जीव की चेतना तो इसी प्रकार विकृत रूप से प्रतिबिम्वित हो सकती है, किन्तु श्रीभगवान् की चेतना माया से आवृत नहीं हो सकती। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं, 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः।' उनके संसार में अवतरित होने पर भी उनकी चेतना माया से अतीत ही रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो वे दिव्य-तत्त्व का प्रवचन नहीं कर सकते, जैसे उन्होंने भगवद्गीता में किया है। भगवद्धाम का वर्णन वही कर सकता है, जिसकी चेतना माया-विकारों से मुक्त हो। अतः यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् माया-दोष से नित्य मुक्त हैं। इसके विपरीत वर्तमान में हमारी चेतना माया-आवरण से दूषित है। भगवद्गीता सिखाती है कि इसका शुद्धीकरण करना है। जब यह चेतना शुद्ध हो जायगी तो हमारे कर्म श्रीभगवान् की इच्छा पूर्ति में में ही तत्पर रहेंगे, जिसके परिणामतः हमें शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी। यह नहीं कि सर्वथा निष्क्रिय हो जाना है। अपितु अपनी क्रियाओं का शुद्धिकरण करना होगा और शुद्ध क्रियाओं को ही 'भक्ति' कहते हैं। भक्तिमय कर्म साधारण प्रतीत होते हुए भी माया-दूषित नहीं होते। यह न जानने वाले अज्ञानी को भक्त और भगवान् भले ही साधारण मनुष्य के समान कर्म करके प्रतीत हों, किन्तु यह नितान्त सत्य है कि भक्तिमय

कर्म माया के त्रिगुणो से सर्वथा मुक्त एवं शुद्ध होते है। इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि वर्तमान अवस्था में हमारी चेतना (मति) माया-आवरण से दूषित है।

माया से दूषित हुआ जीव ही वद्ध (उपाधिग्रस्त) कहा जाता है। मैं प्रकृतिजन्य हूं—इस प्रकार का भ्रम विकृत मति से ही उत्पन्न होता है। यही मिथ्या अहंकार कहलाता है। जिसकी देह में आत्मबुद्धि है, वह अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता। जीव को देहात्मबुद्धि से मुक्त करने के लिये भगवद्गीता का गान किया गया है। अतएव भगवान् से इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने भी वह स्थिति ग्रहण की। देहात्म-बुद्धि से अवश्य मुक्त हो जाय, यह योगी का प्रथम कर्तव्य है। जो मुक्त होना चाहता है, उसे सबसे पहले यही सीखना है कि वह इस प्राकृत देह से भिन्न है। 'मुक्ति' का अर्थ है मोह से स्वतन्त्रता। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि इस संसार की मलिन मति (मोह) से मुक्त होकर शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित हो जाना 'मुक्ति' है। भगवद्गीता के सम्पूर्ण उपदेश का उद्देश्य इसी शुद्ध चेतन-स्वरूप को जागृत करना है। इस कारण हम देखते है कि गीता के उपदेश को समाप्त कर श्रीकृष्ण अर्जुन से यही प्रश्न करते है कि उसकी चेतना मोह से मुक्त होकर शुद्ध हो गई अथवा नहीं? मोहरहित शुद्ध चेतना का अर्थ है श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना। यही सार है। श्रीभगवान् के भिन्नांश होने से हम में चेतना तो पहले से ही है, किन्तु माया के त्रिविध गुणों के सम्पर्क में रहने से हम बन्ध जाते हैं। परमपुरुष श्रीभगवान् इस प्रकार कभी नहीं बंधते। परमेश्वर और बद्ध जीव में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है? इस चेतना का स्वरूप है, 'मैं हूं'। मोहावस्था में 'मैं हूं' का अर्थ है कि मैं माया का स्वामी हूं, भोक्ता हूं। प्रत्येक जीव अपने को प्राकृत संसार का स्वामी तथा सृष्टा समझता है; इसी कारण यह जगत् का चक्र चल रहा है। मोह के दो मनोवैज्ञानिक विभेद हैं, एक यह कि मैं स्रष्टा हूं और दूसरा यह कि मैं भोक्ता हूं। यथार्थ में श्रीभगवान् ही स्रष्टा और भोक्ता हैं, उनका भिन्नांश जीव स्रष्टा अथवा भोक्ता न होकर सहयोगी मात्र है। वह तो वस्तुतः श्रीभगवान् द्वारा रचित है और उन्हीं के द्वारा भोगा जाता है। उदाहरणार्थ, संयन्त्र का प्रत्येक

अङ्ग-प्रत्यंग सम्पूर्ण उपकरण के साथ सहयोग करता है। इसी प्रकार हाथ, पैर, नेत्र आदि शरीर के अङ्ग वस्तुतः स्वयं भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो एकमात्र उदर ही है। पैर चलते हैं, हाथ भोजन कराते हैं, दांत चर्वण करते हैं तथा शरीर के अन्य अङ्ग भी उदर-पूर्ति में तत्पर रहते हैं, क्योंकि उदर से सम्पूर्ण शारीरिक संरचना का परिपोषण होता है। इस कारण उदर को ही सम्पूर्ण भोजन प्राप्त होता है। मूल का अभिसिंचन करने से सम्पूर्ण वृक्ष का और उदर-पूर्ति से सम्पूर्ण शरीर का पोषण हो जाता है। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को उदर-पूर्ति करने में सहयोग करना होगा। इसी भांति श्रीभगवान् स्रष्टा और भोक्ता हैं अतएव उनके आश्रित हम सभी जीवों से अपेक्षित हैं कि उनके परितोषण के लिए सहयोग करें। यदि हम ऐसा करें तो वस्तुतः हमें ही लाभ होगा, जैसे उदरगत आहार से शरीर के अन्य सभी अङ्गों का पोषण होता है। हाथ की अंगुलियां स्वयं भोजन नहीं कर सकतीं। सृजन और भोक्तापन के केन्द्र परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जीव तो उनके सहयोगी-मात्र हैं। वे सहयोग से भोगते हैं। परमेश्वर और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी-सेवक जैसा है। स्वामी के सन्तुष्ट हो जाने से सेवक का तोषण स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि संसार को प्रकट करने वाले श्रीभगवान् की भांति जीव भी संसार का स्रष्टा और भोक्ता बनना चाहता है, परन्तु श्रीभगवान् को परितुष्ट करने में ही उसका यथार्थ कल्याण सन्निहित है।

इस भगवद्गीता शास्त्र से हमें यह ज्ञात होता है कि पूर्ण तत्त्व में परमेश्वर, जीव, प्रकृति, महाकाल तथा कर्म का समावेश है। ग्रन्थ में इन सभी तत्त्वों का विवेचन है। इन सभी तत्त्वों के पूर्ण समावेश से पूर्ण तत्त्व बना है, जो परम सत्य है। भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्ण परतत्त्व अथवा परम सत्य हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं की शक्तियों का कार्य है। अस्तु, वे पूर्ण परतत्त्व (परब्रह्म) हैं।

गीता में कहा गया है कि निर्विशेष ब्रह्म भी पूर्ण परतत्त्व के आश्रित है। 'ब्रह्म सूत्र' में ब्रह्म तत्त्व का अधिक स्पष्ट विवरण है। इसे सूर्य से निस्सृत किरण-राशि की उपमा दी गई है। निर्विशेष ब्रह्म श्रीभगवान् की देदीप्यमान ज्योति है। बारहवें अध्याय में कहा गया है कि निर्विशेष

ब्रह्म तथा परमात्मा के ज्ञान से परम सत्य की भ्रपूर्ण भ्रनुभूति ही होती है। वहां यह भी उल्लेख है कि भगवान् पुरुषोत्तम, निर्विशेष ब्रह्म भ्रौर परमात्मा रूपी भ्रांशिक तत्वानुभूति -इन दोनों से भ्रतीत हैं। इसी से उन्हें सच्चिदानन्द-विग्रह कहा जाता है। 'ब्रह्म संहिता' का प्रारम्भ इस प्रकार होता है, **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः भ्रनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणम् ॥**" *श्री कृष्ण सब कारणों के परम कारण भ्रादि* पुरुष हैं। उनका श्रीविग्रह मूर्तिमान् सच्चिदानन्दघन है। निर्विशेष ब्रह्म प्राप्ति से उनके 'सत्' भ्रंश की भ्रनुभूति होती है भ्रौर परमात्मा-स्वरूप के ज्ञान से 'चित्' भ्रंश (शक्ति) की ही भ्रनुभूति होती है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर तो उनके सच्चिदानन्दमय सम्पूर्ण विग्रह की भ्रनुभूति हो जाती है।

भ्रल्पज्ञ मनुष्य परम सत्य को निराकार-निर्विशेष ही मानते हैं, जबकि यथार्थतः वे दिव्य पुरुष हैं, जैसा सम्पूर्ण वेदों से प्रमाणित है— 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाम्'। जिस प्रकार हम सब जीवों का पृथक स्वरूप है, उसी प्रकार परम सत्य भी भ्रन्ततः एक पुरुष-विशेष ही हैं। भ्रतएव भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर समस्त दिव्य तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। पूर्ण परात्पर-तत्त्व निराकार नही है। यदि वे निराकार होते भ्रथवा किसी भ्रन्य तत्त्व से न्यून होते, तो उनकी पूर्ण परात्परता सिद्ध ही नही होती। पूर्ण परतत्व में उन सभी तत्त्वों का समावेश होना भ्रावश्यक है, जो हमारे भ्रनुभवगत हों भ्रथवा भ्रनुभव से अतीत भी हों। भ्रन्यथा उसे पूर्ण नही कहा जा सकता। इससे सिद्ध है कि पूर्ण परतत्व श्रीभगवान् भ्रमित शक्तियों से युक्त हैं।

श्रीकृष्ण विविध शक्तियों के साथ किस प्रकार क्रियाशील हैं, भगवद्गीता में इसक भी वर्णन है। जिसमें हम बद्ध हैं,वह प्राकृत जगत् भी भ्रपने में पूर्ण है; क्योकि सांख्य के भ्रनुसार इसका सृजन चौबीस तत्त्वों से हुभ्रा है, जो इस भांति पूर्ण रूप से संगठित हैं कि इस जगत् के धारण-पोषण के लिए भ्रावश्यक सम्पूर्ण पदार्थों का स्वयं निर्माण कर सकते हैं। भ्रतः इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व क्रियाशील है भ्रौर न ही कोई भ्रभाव है। परम पूर्ण शक्ति के द्वारा निश्चित किया हुभ्रा इस सृष्टि का एक नियत काल है, जिसके पूर्ण हो जाने पर पूर्ण तत्त्व की

अङ्ग-प्रत्यंग सम्पूर्ण उपकरण के साथ सहयोग करता है। इसी प्रकार हाथ, पैर, नेत्र आदि शरीर के अङ्ग वस्तुतः स्वयं भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो एकमात्र उदर ही है। पैर चलते हैं, हाथ भोजन कराते हैं, दांत चर्वण करते हैं तथा शरीर के अन्य अङ्ग भी उदर-पूर्ति में तत्पर रहते हैं, क्योंकि उदर से सम्पूर्ण शारीरिक संरचना का परिपोषण होता है। इस कारण उदर को ही सम्पूर्ण भोजन प्राप्त होता है। मूल का अभिसिंचन करने से सम्पूर्ण वृक्ष का और उदर-पूर्ति से सम्पूर्ण शरीर का पोषण हो जाता है। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को उदर-पूर्ति करने में सहयोग करना होगा। इसी भांति श्रीभगवान् स्रष्टा और भोक्ता हैं अतएव उनके आश्रित हम सभी जीवों से अपेक्षित हैं कि उनके परितोषण के लिए सहयोग करें। यदि हम ऐसा करें तो वस्तुतः हमें ही लाभ होगा, जैसे उदरगत आहार से शरीर के अन्य सभी अङ्गों का पोषण होता है। हाथ की अंगुलियां स्वयं भोजन नहीं कर सकतीं। सृजन और भोक्तापन के केन्द्र परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जीव तो उनके सहयोगी-मात्र हैं। वे सहयोग से भोगते हैं। परमेश्वर और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी-सेवक जैसा है। स्वामी के सन्तुष्ट हो जाने से सेवक का तोषण स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि संसार को प्रकट करने वाले श्रीभगवान् की भांति जीव भी संसार का स्रष्टा और भोक्ता बनना चाहता है, परन्तु श्रीभगवान् को परितुष्ट करने में ही उसका यथार्थ कल्याण सन्निहित है।

इस भगवद्गीता शास्त्र से हमें यह ज्ञात होता है कि पूर्ण तत्त्व में परमेश्वर, जीव, प्रकृति, महाकाल तथा कर्म का समावेश है। ग्रन्थ में इन सभी तत्त्वों का विवेचन है। इन सभी तत्त्वों के पूर्ण समावेश से पूर्ण तत्त्व बना है, जो परम सत्य है। भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्ण परतत्त्व अथवा परम सत्य हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं की शक्तियों का कार्य है। अस्तु, वे पूर्ण परतत्त्व (परब्रह्म) हैं।

गीता में कहा गया है कि निर्विशेष ब्रह्म भी पूर्ण परतत्त्व के आश्रित है। 'ब्रह्म सूत्र' में ब्रह्म तत्त्व का अधिक स्पष्ट विवरण है। इसे सूर्य से निस्सृत किरण-राशि की उपमा दी गई है। निर्विशेष ब्रह्म श्रीभगवान् की देदीप्यमान ज्योति है। बारहवें अध्याय में कहा गया है कि निर्विशेष

ब्रह्म तथा परमात्मा के ज्ञान से परम सत्य की अपूर्ण अनुभूति ही होती है। वहां यह भी उल्लेख है कि भगवान् पुरुषोत्तम, निर्विशेष ब्रह्म और परमात्मा रूपी आंशिक तत्वानुभूति -इन दोनों से अतीत हैं। इसी से उन्हें सच्चिदानन्द-विग्रह कहा जाता है। 'ब्रह्म संहिता' का प्रारम्भ इस प्रकार होता है, **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणम् ॥''** श्री कृष्ण सब कारणों के परम कारण आदि पुरुष हैं। उनका श्रीविग्रह मूर्तिमान् सच्चिदानन्दघन है। निर्विशेष ब्रह्म प्राप्ति से उनके 'सत्' अंश की अनुभूति होती है और परमात्मा-स्वरूप के ज्ञान से 'चित्' अंश (शक्ति) की ही अनुभूति होती है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर तो उनके सच्चिदानन्दमय सम्पूर्ण विग्रह की अनुभूति हो जाती है।

अल्पज्ञ मनुष्य परम सत्य को निराकार-निर्विशेष ही मानते हैं, जबकि यथार्थतः वे दिव्य पुरुष हैं, जैसा सम्पूर्ण वेदों से प्रमाणित है— **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाम्'**। जिस प्रकार हम सब जीवों का पृथक स्वरूप है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः एक पुरुष-विशेष ही हैं। अतएव भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर समस्त दिव्य तत्वों का ज्ञान हो जाता है। पूर्ण परात्पर-तत्त्व निराकार नही है। यदि वे निराकार होते अथवा किसी अन्य तत्त्व से न्यून होते, तो उनकी पूर्ण परात्परता सिद्ध ही नही होती। पूर्ण परतत्व में उन सभी तत्त्वों का समावेश होना आवश्यक है, जो हमारे अनुभवगत हों अथवा अनुभव से अतीत भी हों। अन्यथा उसे पूर्ण नही कहा जा सकता। इससे सिद्ध है कि पूर्ण परतत्व श्रीभगवान् अमित शक्तियों से युक्त हैं।

श्रीकृष्ण विविध शक्तियों के साथ किस प्रकार क्रियाशील हैं, भगवद्गीता में इसक भी वर्णन है। जिसमें हम बद्ध हैं, वह प्राकृत जगत् भी अपने में पूर्ण है; क्योकि सांख्य के अनुसार इसका सृजन चौबीस तत्त्वों से हुआ है, जो इस भांति पूर्ण रूप से संगठित हैं कि इस जगत् के धारण-पोषण के लिए आवश्यक सम्पूर्ण पदार्थों का स्वयं निर्माण कर सकते हैं। अतः इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व क्रियाशील है और न ही कोई अभाव है। परम पूर्ण शक्ति के द्वारा निश्चित किया हुआ इस सृष्टि का एक नियत काल है, जिसके पूर्ण हो जाने पर पूर्ण तत्त्व की

पूर्ण व्यवस्था से इस अनित्य सृष्टि का विनाश हो जाता है। जीवों को, जो अणु अंश होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं, पूर्ण तत्त्व की प्राप्ति के लिए पूर्ण सुविधा प्रदान की गई है, पूर्ण तत्त्व के ज्ञान की अपूर्णता के कारण ही विविध प्रकार की अपूर्णताओं की प्रतीति होती है। अस्तु, भगवद्गीता में वैदिक विद्या के पूर्ण ज्ञान का समावेश है।

वैदिक ज्ञान सर्वथा पूर्ण और अमोघ (दोषमुक्त) है। हिन्दू उसे ऐसा ही मानते हैं। उदाहरणार्थ स्मृति का विधान है कि यदि पशु-विष्टा का स्पर्श कर लिया जाय तो आत्मशुद्धि के लिए स्नान करना आवश्यक है। गोमय भी पशु-विष्टा है। परन्तु वैदिक शास्त्रों में गोमय को शुद्धि कारक माना गया है। यद्यपि इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वैदिक-विधान होने से यह मान्य है; इसे मानना वस्तुतः भूल न होगी। अनुवर्ती काल में, आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी यह सिद्ध हो चुका है कि गोमय समस्त कृमिनाशक गुणों से युक्त है। अतएव संशय-भ्रम से सर्वथा मुक्त होने से वैदिक ज्ञान पूर्ण है। भगवद्गीता इसी वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व है।

वैदिक ज्ञान अनुसन्धान का विषय नहीं है। हमारा अनुसन्धान-कार्य सर्वथा अपूर्ण (दोषयुक्त) है, क्योंकि जिन इन्द्रियों से हम अनुसन्धान करते हैं, वे ही अपूर्ण तथा दोषयुक्त हैं। अतः हमें उसी पूर्ण ज्ञान को स्वीकार करना होगा, जो भगवद्गीता के अनुसार परम्परा से अवतरित होता है। यह परम्परा ही ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ स्रोत है, जो परम-गुरु भगवान् से प्रारम्भ होकर अनुगामी आचार्यों के रूप में चली आ रही है। जिसने स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण से गीतोपदेश सुना, उस अर्जुन ने भी विरोध किये बिना उनके एक-एक वचन को स्वीकार किया है। भगवद्गीता के एक अंश को मानकर दूसरे को न मानने की स्वतन्त्रता किसी को भी प्राप्त नहीं है। हमें भगवद्गीता को मनमाने अर्थ लगाए बिना, उसके किसी भी अंश का बहिष्कार किये बिना, हठधर्मी के बिना यथारूप ग्रहण करना है। गीता तो वस्तुतः वैदिक ज्ञान का सर्वाधिक पूर्ण प्रस्तुतीकरण है। वैदिक ज्ञान की प्राप्ति दिव्य स्रोतों से होती है। सर्वप्रथम स्वयं श्रीभगवान् ने इसका प्रवचन किया था। श्रीभगवान् की वाणी साधारण मनुष्यों के समान नहीं है, जो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा

(शठता) और करणपाटव (इन्द्रियों की अपूर्णता)—इन चार विकारों से दूषित रहते हैं। जो इन चार दोषों से युक्त है, वह तत्त्वज्ञान को शुद्ध रूप में प्रदान नहीं कर सकता।

सुतरां, वैदिक ज्ञान का प्रसार उपरोक्त कोटि के दोषपूर्ण जीवों के द्वारा नहीं किया जाता। उसका संचार सर्वप्रथम आद्य-जीव ब्रह्मा के हृदय में किया गया था। ब्रह्माजी ने भगवान् से प्राप्त हुए इसी ज्ञान को शुद्ध रूप में अपने पुत्रों और शिष्यों में प्रचारित किया। श्रीभगवान् पूर्ण हैं; वे मायावश नहीं हो सकते। अतएव बुद्धिमानी से यह जान ले कि वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के एकमात्र स्वामी हैं और वे ही आदि-स्रष्टा अर्थात् ब्रह्मा के भी जन्मदाता हैं। इसी से एकादश अध्याय में श्रीभगवान् को 'प्रपितामह' कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मा जी को 'पितामह' कहा जाता है और श्रीकृष्ण उनके भी पिता हैं। अतएव किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार न समझे, वरन् उन्हीं वस्तुओं को स्वीकार करे, जो जीवन धारण के लिये श्रीभगवान् द्वारा नियत हैं।

श्रीभगवान् के द्वारा हमारे लिये नियत की गई वस्तुओं का सदुपयोग किस विधि से करें, इसके अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं। भगवद्गीता में भी इसका वर्णन है। अर्जुन ने प्रारम्भ में यह निश्चय किया था कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ेगा। यह उसका अपना निर्णय था। एक बार तो उसने श्रीकृष्ण से स्पष्ट कह ही दिया कि स्वजनों का वध करने से प्राप्त हुए राज्य को भोगना उसके लिए सम्भव नहीं है। अर्जुन का यह निर्णय देहात्म-बुद्धि पर ही आधारित था, क्योंकि वह समझ रहा था कि वह स्वयं देह है और भाई, भतीजे, साले, पितामह आदि उसके बन्धु हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही वह इस प्रकार विचार कर रहा था। भगवद्गीता का प्रवचन इस दृष्टिकोण को बदलने के लिए ही किया गया और अन्त में अर्जुन ने भी श्रीभगवान् के मार्गदर्शन में लड़ने का ही निश्चय किया। उसने अन्त में कहा है, **'करिष्ये वचनं तव'**, 'मैं आपके वचनों का पालन करूंगा।'

मनुष्य इस संसार में शूकरवत् परिश्रम करने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। यह परम आवश्यक है कि इस मनुष्य-योनि की महत्ता को

जानकर वह पशु के समान निकृष्ट आचरण न करे। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों में यह निर्देश किया गया है और इसी उपदेश का सार भगवद्-गीता में दिया गया है। वैदिक शास्त्र मनुष्य के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। पशु पशु का वध कर देने पर भी पाप का भागी नहीं होता। किन्तु यदि मनुष्य अपनी असंयमित रसना की तृप्ति के लिए किसी पशु की हत्या करे तो उसे प्राकृतिक नियम को तोड़ने का पाप अवश्य लगेगा। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं: सत्त्वगुणमय, रजोगुणमय तथा तमोगुणमय। आहार के भी सत्त्व, रज और तम—ये तीन भेद हैं। यह सब विशद रूप से वर्णन किया गया है इसलिए यदि भगवद्गीता की शिक्षा का पर्याप्त सदुपयोग किया जाय तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जायगा और अन्ततः हमें उस परम लक्ष्य की प्राप्ति भी हो जायगी, जो इस प्राकृत आकाश से परे है।

उस लक्ष्य को 'सनातन धाम' अथवा 'परव्योम' कहा जाता है। हम देखते हैं कि प्राकृत जगत् में सब कुछ अनित्य और क्षणभंगुर है। यह जन्म लेता है, बढ़ता है, कुछ समय तक विद्यमान् रहता है, कुछ उप-सृजन करता है, क्षय होता है और अन्त में विलुप्त हो जाता है। इस संसार का यही नियम है, चाहे हम अपने शरीर का उदाहरण लें, फल का अथवा किसी अन्य पदार्थ का। किन्तु इस जगत् से अतीत एक अन्य लोक की जानकारी भी हमें प्राप्त होती है। वह लोक एक अन्य प्रकृति से बना है, जो 'सनातन' अर्थात् नित्य है। पन्द्रहवें अध्याय में जीव को भी सनातन कहा गया है तथा श्रीभगवान् तो सनातन हैं ही। श्रीभगवान् से हमारा नित्यसिद्ध अन्तरंग सम्बन्ध है तथा चिद्गुणों में हम सब एक हैं—वह धाम, श्रीभगवान् तथा जीव भी सनातन हैं। अतएव जीव में उसके सनातन धर्म को पुनः जागृत करना ही सम्पूर्ण भगवद्गीता का ऐकान्तिक लक्ष्य है। इस समय हम क्षणिक रूप से विविध कर्मों में संलग्न हैं, किन्तु क्षणभंगुर क्रियाओं का परित्याग कर श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट क्रिया करने से इन सभी कर्मों का परिशोधन हो जायगा। वस्तुतः वही हमारा शुद्ध जीवन है।

श्रीभगवान्, भगवद्धाम और जीव भी सनातन हैं तथा सनातन धाम में श्रीभगवान् और जीव का सङ्ग मानव-जीवन की परम सार्थ-

कता है। श्रीभगवान् अपने जीव-पुत्रों पर अशेष कृपा का परिवर्षण करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, **'सर्वयोनिषु'**·· 'अहं **बीजप्रदः पिता'**, 'मैं सबका पिता हूं।' जीवों को कर्मानुसार विविध योनियों की प्राप्ति होती है। किन्तु यहा श्रीभगवान् का उद्घोष है कि वे उन सब के पिता हैं। अत: इन सभी पतित, बद्ध जीवों के उद्धार के लिए वे अवतरित होते हैं, तथा सनातन धाम की ओर उनका आह्वान करते हैं, जिससे उनके सनातन सङ्ग में वे सनातन जीव अपने सनातन स्वरूप को प्राप्त हो जाएं। श्रीभगवान् स्वयं विविध अवतार लेते है अथवा बद्ध जीवों के उद्धारार्थ अपने अन्तरंग सेवकों को पुत्र रूप मे भेजते हैं अथवा पार्षदों और आचार्यों को ही भेजते है।

अस्तु, 'सनातन धर्म' का तात्पर्य किसी साम्प्रदायिक पद्धति अथवा मत-मतान्तर से नहीं है। वरन्, वह तो श्रीभगवान् से सम्बन्धित है और सनातन जीव का स्वरूपभूत सनातन कर्तव्य है। श्रीमद् रामानुजाचार्य के अनुसार 'सनातन' उसे कहते हैं जिसका आदि-अन्त न हो। श्रील रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सनातन धर्म का आदि-अन्त नहीं है।

अंग्रेजी शब्द 'रिलिजन' का अर्थ 'सनातन धर्म' से भिन्न है। 'रिलिजन' का अर्थ विश्वास समझा जाता है और विश्वास बदल सकता है। जिस पद्धति में भी मनुष्य का विश्वास हो, उसे बदल कर अन्य पद्धति को अङ्गीकार कर लेने में वह स्वतन्त्र है। 'सनातन धर्म' तो यथार्थतः वह क्रिया है, जिसे बदला ही नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, जल से रस को तथा अग्नि से तेज को अलग नहीं किया जा सकता। इसी भांति, जीव के सनातन धर्म को भी उससे अलग नहीं किया जा सकता। सनातन धर्म तो वस्तुतः जीव का नित्य स्वरूप ही है। अतएव श्री रामानुजाचार्य की प्रामाणिकता के आधार पर हम कह सकते हैं कि सनातन धर्म का आदि अथवा अन्त नहीं होता। इससे सिद्ध हो जाता है कि सनातन धर्म साम्प्रदायिक नहीं है, क्योंकि देश-काल की सीमाओं से मुक्त है। तद्यपि विविध साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के अनुयायी भ्रम-पूर्वक सनातन धर्म को भी साम्प्रदायिक मान बैठते है। किन्तु यदि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में गम्भीर अन्तर्दृष्टि से इस विषय का विवेचन

किया जाय तो यह सत्य दृष्टिगोचर हो जायगा कि संसार के सब मनुष्यों के लिये ही नहीं, वरन् जगत् के सम्पूर्ण जीवों के लिये सनातन धर्म का प्रयोजन है।

सनातन धर्म से इतर सभी सम्प्रदायों (मतों) का आरम्भ विश्व-इतिहास से जाना जा सकता है। किन्तु सनातन धर्म के प्रवर्तन का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वह तो जीवों के स्वरूप में ही नित्य अन्तर्निहित रहता है। जीव के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है कि वह जन्म-मृत्यु से मुक्त है। गीता में भी उसे अजन्मा और नित्य कहा गया है। जीव सनातन तथा अविनाशी है, क्षणभंगुर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। 'सनातन धर्म' के स्वरूप को भली-भांति हृदयंगम करने के लिये हमें 'धर्म' शब्द के धातु-मूल को देखना होगा। 'धर्म' का अर्थ है, 'वह गुण जो किसी वस्तु के साथ नित्य बना रहता है।' अग्नि के साथ तेज और प्रकाश नित्य रहते हैं, तेज और प्रकाश के बिना 'अग्नि' शब्द का कुछ अर्थ ही नहीं रहता। इसी प्रकार हमें जीव के स्वरूपभूत अवयव (अङ्ग) को जानना है। यही अवयव उसका नित्य सहचर है। वह नित्य सहचर उसका सनातन गुण है और वही सनातन गुण उसका सनातन धर्म है।

जब सनातन गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो श्रीमन्महाप्रभु ने उत्तर दिया कि जीव का स्वरूप श्रीभगवान् की सेवा करना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के इस कथन पर विचार करने से हमें यह सहज दृष्टिगोचर हो जायगा कि प्रत्येक जीव किसी अन्य जीव की सेवा में ही नित्य तत्पर रहता है। जीव अन्य जीवों की दो प्रकार से सेवा करता हुआ जीवन का उपभोग करता है, निम्न पशुवर्ग तो भृत्यवत् मनुष्यों की सेवा करता ही है। 'क' मनुष्य 'ख' स्वामी की सेवा करता है, 'ख' 'ग' स्वामी की सेवा करता है, 'ग' 'घ' स्वामी की सेवा करता है, इत्यादि। इस परिस्थिति में, हम देखते हैं कि मित्र, मित्र की, माता पुत्र की, पत्नी पति की और पति पत्नी की सेवा में तत्पर है, आदि आदि। इस आशय से उत्तरोत्तर गवेषणा करने पर हम पायेंगे कि ऐसा कोई जीव नहीं है, जो किसी दूसरे की सेवा न करता हो। राजनीतिज्ञ चुनाव घोषणा-पत्र इसीलिए निका-

नता है, जिससे जनता को विश्वास हो जाय कि वह वास्तव में उसकी सेवा कर सकता है। मतदाता भी उसे अपने मूल्यवान् मत यही मानकर देते हैं कि वह समाज की उल्लेखनीय सेवा करेगा। दुकानदार ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर पूंजीपति की। पूंजीपति कुटुम्ब की सेवा में तत्पर है और सनातन जीव के सनातन स्वरूप के अनुसार परिवार राजा की सेवा करता है। इस प्रकार जीव-मात्र अन्य जीवों की सेवा कर रहा है, कोई भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं है। अतः यह निष्कर्ष सुगमता से निकाला जा सकता है कि सेवा-भाव जीव का नित्य सहचर है; वस्तुतः सेवा करना ही जीव का सनातन धर्म है।

तथापि देशकाल के अनुसार मनुष्य अपने को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि मत-मतान्तरों का अनुयायी मानता है। ये सभी उपाधियां सनातन धर्म से इतर हैं। एक हिन्दू अपना मत बदलकर मुस्लिम बन सकता है, मुस्लिम अपना मत त्याग कर हिन्दू-मत अंगीकार कर सकता है। इसी प्रकार ईसाई आदि भी मत-परिवर्तन करने में स्वतन्त्र हैं। किन्तु किसी भी परिस्थिति में, दूसरों की सेवा करने के सनातन स्वरूप (धर्म) में अन्तर नहीं आता। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी किसी न किसी के सेवक हैं। अस्तु, स्वयं को किसी सम्प्रदाय-विशेष का मानना अपने सनातन धर्म में अनास्था का द्योतक है। वस्तुतः सेवा करना ही जीव का सनातन धर्म है।

यथार्थ में श्रीभगवान् से हमारा सम्बन्ध सेवा-भाव का है। श्रीभगवान् परम भोक्ता हैं और हम सब जीव उनके सेवक हैं। हमारा सृजन वस्तुतः उनके उपभोग के लिये ही हुआ है, अतः श्रीभगवान् के साथ उस सनातन आनन्दास्वादन में भाग लेने से ही हम सुखी हो सकेंगे, अन्यथा नहीं। उदर से सहयोग किये बिना शरीर का कोई भी अङ्ग सुखी नहीं हो सकता। उसी भांति जीव के लिये भी स्वतन्त्र रूप से सुखी होना सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से, श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा से विमुख जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में देव-सेवा अथवा देवोपासना का अनुमोदन नहीं किया गया है। सातवें अध्याय के बीसवें श्लोक में उल्लेख है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

'जिनका चित्त विषय वासना से दूषित है, वे मनुष्य ही देवताओं की शरण ग्रहण कर स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधान का परिपालन करते हैं।' यहां सुबोध रूप में कहा गया है कि कामी मनुष्य ही भगवान् श्रीकृष्ण के स्थान पर देवताओं की उपासना करते हैं। 'कृष्ण' नाम साम्प्रदायिक नहीं है। 'कृष्ण' नाम का अर्थ है परमोच्च आनन्द-रस। शास्त्रों से सिद्ध है कि श्रीभगवान् रसराज अर्थात् समग्र आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द का अन्वेषण कर रहे हैं। **आनन्दमयोऽभ्ययासात्।** (ब्रह्मसूत्र १.१.१२) जीव, जो श्रीभगवान् की भांति ही पूर्ण चेतन हैं, सुख (आनन्द) चाहते हैं। श्रीभगवान् तो नित्य आनन्दमय हैं ही, अतः उनसे सहयोग करके और उनका संग करने से जीव भी आनन्द को प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीभगवान् अपनी आनन्दमयी वृन्दावन-लीला के रस का परिवेषण करने के लिए ही इस अनित्य धरा-धाम पर अवतीर्ण होते हैं। श्रीधाम वृन्दावन में निवास करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने गोप सखाओं, गोपियों, ब्रजवासियों तथा गोधन के साथ क्रीड़ा कर परमानन्दमय लीला रस-कल्लोलिनी प्रवाहित की थी। ब्रजवासी तो बस श्रीकृष्ण को ही जानते थे। श्रीकृष्ण ने भी अपने पिता नन्द महाराज को इन्द्र की पूजा में भी प्रवृत्त नहीं होने दिया। इससे वे इस सत्य को स्थापित करना चाहते थे कि किसी भी प्रकार की देवोपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। जनता भगवान् की ही आराधना करे, क्योंकि भगवद्धाम की प्राप्ति जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय, श्लोक छह में भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

'मेरे उस स्वयंप्रकाश परम धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस संसार में पुनरागमन नहीं करता, वही मेरा परम धाम है।' (भगवद्गीता १५.६)

यह श्लोक उस सनातन धाम की सूचना देता है। हम समझते हैं

कि प्राकृत आकाश की भांति उस चिदाकाश में भी सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि होंगे। किन्तु श्रीभगवान् ने इस श्लोक में कहा है कि सनातन धाम में सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी भी प्रकार की अग्नि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् से निस्मृत 'ब्रह्म ज्योति' नामक किरण-राशि से वह धाम देदीप्यमान है। हम अन्य लोकों में गमन करने के लिए भीषण कठिनाइयों के मध्य भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु भगवद्धाम को जानना कठिन नहीं है। वह धाम 'गोलोक' कहलाता है। 'ब्रह्म संहिता' में उस का अतिशय मधुर वर्णन है : 'गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः।' श्रीभगवान् अपने गोलोक धाम में नित्य विराजमान् रहते हैं। तद्यपि इस संसार में भी वे प्राप्त हो सकते है। इसी हेतु वे अवतीर्ण होकर अपना यथार्थ सच्चिदानन्द विग्रह प्रकट करते हैं, जिससे उनके सम्बन्ध मे हमें मनोधर्म का आश्रय नही लेना पड़ता। ऐसे मनोधर्म को रोकने के लिए वे श्यामसुन्दर रूप में स्वरूप-प्रकाश करते हैं। दुर्भाग्यवशात् ऐसे अल्पज्ञ मनुष्य भी हैं, जो हमारे समान नराकार शरीर धारण कर हमारे मध्य क्रीड़ा करने के लिए अवतीर्ण हुए उन परमेश्वर का उपहास करते हैं। उनके नरवत् रूप और क्रिया-कलाप के कारण उन्हें अपने ही समान मान बैठना भूल होगी। वस्तुस्थिति यह है कि अपनी योगमाया के द्वारा ही श्रीभगवान् अपने यथार्थ रूप को हमारे समक्ष प्रकट कर उन लीलाओं का दर्शन कराते हैं, जो उनके धाम में चल रही नित्य लीला की प्रतिमूर्ति हैं।

परव्योम की ब्रह्मज्योति मे असंख्य वैकुण्ठ धाम स्थित हैं। ब्रह्मज्योति परम धाम कृष्ण लोक से निस्मृत होती है और 'आनन्दचिन्मय रस' वैकुण्ठ धाम, जो प्राकृत नही हैं, इसमें प्रवहमान है। श्रीभगवान् की वाणी है, **'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥'** जो उस परम धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार मे पुनरागमन नही होता। चन्द्रमा की तो बात ही क्या, संसार के परमोच्च लोक (ब्रह्म लोक) में गमन करने पर भी जीवन की समस्याओं (जन्म, मृत्यु, जरा ,व्याधि) का सामना करना होगा। प्राकृत जगत् का कोई भी लोक इन चार कष्टों से मुक्त नही है। अतएव श्रीभगवान् भगवद्गीता में कहते हैं—**'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** जीव अप्राकृत पद्धति से एक लोक से दूसरे मे गमन कर रहे

हैं, किसी संयन्त्रीय व्यवस्था से नहीं। यह भी उल्लेख है : **'यान्ति देव-व्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।'** अन्तर्लोकीय-यात्रा के लिए किसी संयन्त्रीय व्यवस्था की अपेक्षा नहीं है। गीता कहती है : **'यान्ति देवाव्रता देवान्।'** चन्द्रमा, सूर्य, प्रभृति उच्च लोक स्वर्ग कहलाते हैं। लोकों की तीन कोटियां हैं : उच्च, मध्यम और निम्न। पृथ्वी मध्यवर्ती लोक है। भगवद्गीता हमें अभिसूचित करती है कि देवलोक में गमन करने की पद्धति अति सुगम है : **'यान्ति देवव्रता देवान्।'** वांछित लोक के अधि-ष्ठातृ देवता की उपासना करने से चन्द्र, सूर्य आदि किसी भी उच्च लोक में जाया जा सकता है।

परन्तु भगवद्गीता हमें इस संसार के अन्य लोकों में जाने का परामर्श नहीं देती। किसी संयन्त्रीय विधि से चालीस हजार वर्ष तक (इतने वर्ष तो जीवित रहना ही असम्भव है!) यात्रा करके यदि हम संसार के सर्वोच्च लोक (ब्रह्म लोक) को प्राप्त कर भी लें, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इन दुःखों से हमारी मुक्ति तभी होगी, जब हम परम-धाम कृष्णलोक अथवा परव्योम के किसी वैकुण्ठ धाम को प्राप्त कर लें। परव्योम के लोकों में गोलोक वृन्दावन नामक परम धाम भी है। यही आद्य लोक भगवान् श्रीकृष्ण का स्वधाम है। यह सम्पूर्ण जानकारी भगवद्गीता में उपलब्ध है। इसके द्वारा हमें उपदेश दिया गया है, जिससे प्राकृत जगत् को त्याग कर हम भगवद्धाम में यथार्थ आनन्दमय जीवन प्राप्त कर सकें।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस संसार का यथार्थ चित्रण किया गया है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

श्रीभगवान् ने कहा, 'इस संसार रूप पीपल के वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और शाखाएं नीचे की ओर हैं तथा वेद इसके पत्ते कहे गए हैं। जो इसे जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। (भगवद्गीता १५.१) इस श्लोक में प्राकृत संसार को एक ऐसे पीपल के वृक्ष की उपमा दी गई है, जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएं अधोगामिनी हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में प्रतिबिम्बित वृक्ष उलटा

दीखता है, शाखाएं नीचे हो जाती हैं और मूल ऊर्ध्ववर्ती दिखाई देती है। इसी प्रकार यह प्राकृत जगत् भगवद्धाम का विकृत प्रतिविम्ब है—सत्य की छाया-मात्र है। यद्यपि छाया में यथार्थता अथवा सारवत्ता नहीं होती, किन्तु उससे यथार्थ तत्त्व का होना तो सिद्ध हो ही जाता है। मरुभूमि में जल नहीं होता, तथापि मृगमरीचिका से वहां जल की प्रतीति होती है। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कहीं न कहीं जल अवश्य है। प्राकृत जगत् में जल नहीं है, लेशमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु भगवद्धाम में यथार्थ सुख रूपी जल अवश्य है।

श्रीभगवान् का परामर्श है कि हम भगवद्धाम को इस प्रकार प्राप्त कर लें :

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययम् ॥

उस 'अव्यय पद' अर्थात् सनातन धाम को 'निर्मान मोह' पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। इसका क्या अर्थ है ? हम उपाधियों के पीछे लगे हुए हैं। कोई पुत्र बनना चाहता है, तो कोई ईश्वर, कोई राष्ट्रपति पद चाहता है तो कोई धनवान् अथवा राजा बनने का अभिलाषी है, इत्यादि। जब तक हम इन उपाधियों में आसक्त हैं, तब तक देह में भी आसक्त रहेंगे, क्योंकि ये सभी उपाधियां देहगत हैं। किन्तु यथार्थ में हम देह से भिन्न हैं—यह अनुभूति ही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। हम माया के गुणत्रय के असद् संसर्ग में स्थित हैं। अतएव यह परम आवश्यक है कि भगवद्भक्ति के द्वारा इनसे असङ्ग (अनासक्त) हो जाएं। भगवद्भक्ति में अनुरक्त हुए बिना माया के गुणत्रय से असङ्ग नहीं हुआ जा सकता। उपाधियों और आसक्ति में कारण है हमारा काम तथा प्रकृति को भोगने की इच्छा। प्रकृति के भोक्तापन की वृत्ति का जब तक हम त्याग नहीं करते, तब तक सनातन धाम में पुन प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है। उस अविनाशी धाम में वही प्रविष्ट हो सकता है, जो मिथ्या विषय-सुख के आकर्षण से मोहित हुए बिना भगवद्भक्तिनिष्ठ हो जाता है। भक्त के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति अतिशय सुगम है।

गीता में अन्यत्र भी कहा गया है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

'अव्यक्त' का अर्थ 'अप्रकट' है। भगवद्धाम के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, पूरा प्राकृत जगत् भी हमारे समक्ष प्रकट नहीं है। हमारी इन्द्रियां इतनी अपूर्ण और दोषयुक्त हैं कि इस जगत् के सारे नक्षत्रों को भी हम नहीं देख सकते। वैदिक शास्त्रों से सम्पूर्ण लोकों के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त होती है, उस पर विश्वास करना अथवा न करना हमारे ऊपर निर्भर करता है। वैदिक शास्त्रों, विशेषत: श्रीमद्-भागवत में सभी प्रधान लोकों का विशद वर्णन है। इस संसार से अतीत भगवद्धाम को वहां 'अव्यक्त' कहा गया है। उसी परम धाम की प्राप्ति के लिए वांछा और उद्यम करे, क्योंकि उसे प्राप्त हो जाने पर इस संसार में पुनरागमन नहीं होता।

उस भगवद्धाम को प्राप्त करने की पद्धति का आठवें अध्याय में वर्णन है :

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्‌भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

'जो कोई भी अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है, वह तत्काल मेरी परा प्रकृति (मेरे स्वभाव) को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

जो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, वह श्री कृष्ण को ही प्राप्त होता है। अतएव श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य का ही नित्य स्मरण करता रहे। यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए मृत्यु हुई तो वह भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायगा। 'मद्‌भावम्' शब्द से श्रीभगवान् की परा प्रकृति इंगित है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं। हमारी वर्तमान देह सच्चिदानन्द नहीं है। वह 'असत्' है, 'सत्' नहीं। नित्य न होकर नाशवान् है—'चित्' अर्थात् ज्ञानमय नहीं, वरन् अज्ञान से आवृत है। हमें भगवद्धाम का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है। हमें तो प्राकृत जगत् का भी पूर्ण ज्ञान नहीं है, यहां के अनेक पदार्थ हमें अज्ञात हैं। देह 'निरानन्द' है, आनन्दमय होने के स्थान पर सर्वथा दुःखमय है। संसार

में जितने भी दुःखों की हमें प्राप्ति होती है, वे सब देह-जनित ही हैं। किन्तु जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन स्मरण करता हुआ इस देह का त्याग करता है, वह तत्क्षण सच्चिदानन्द देह को प्राप्त करता है। इसके प्रमाणस्वरूप, आठवें अध्याय के पांचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण वचन देते हैं, 'वह मेरे को ही प्राप्त होता है।'

इस देह को त्याग कर प्राकृत जगत् में ही अन्य देह धारण करने का भी नियत क्रम है। मनुष्य की मृत्यु तभी होती है, जब यह निर्णय हो जाता है कि अगले जन्म मे उसे किस योनि की प्राप्ति होगी। यह निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, जीवात्मा स्वयं नहीं। इस जीवन में किए कर्मों के अनुसार ही हमारा उत्थान अथवा पतन हो जाता है। इस दृष्टि से यह जीवन भावी जीवन की तैयारी है। अतः यदि इस जीवन में भगवद्धाम-गमन के योग्य बन जाएं, तो प्राकृत देह का अन्त होने पर हमे भगवान् श्रीकृष्ण के समान अप्राकृत वपु की प्राप्ति अवश्य हो जायगी।

पूर्व वर्णन के अनुसार योगियों की ब्रह्मवादी, परमात्मावादी, भक्त आदि अनेक कोटियां हैं और ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम हैं। इन चिन्मय लोको की संख्या सब प्राकृत लोको की गणना से कही अधिक है। यह प्राकृत जगत् सृष्टि की एकपादविभूति मात्र है। सृष्टि के इस प्राकृत अंश मे खरबों लोक, सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमा वाले अरबो ब्रह्माण्ड हैं। तथापि यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण सृष्टि का अति लघु अंश है। अधिकांश सृष्टि तो माया से परे परव्योम मे है। जो परब्रह्म से सायुज्य का अभिलाषी है, वह अविलम्ब भगवान् की ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर परव्योम में स्थित हो जाता है। दूसरी ओर भक्त, जो कि श्रीभगवान् के सानिध्य का आस्वादन करना चाहता है, असंख्य वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में प्रविष्ट होता है। श्रीभगवान् भी अपने चतुर्भुज नारायण अंश से गोविन्द, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न आदि रूप धारण कर इन लोकों में विराजमान रहते हैं और वैकुण्ठ लोकों में प्रविष्ट होने वाले भक्तो के साथ लीला करते हैं। अतएव जीवन के अन्त मे योगी यथायोग्य ब्रह्म-ज्योति, परमात्मा अथवा भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। पर-व्योम में तो उन सभी का प्रवेश हो जाता है, किन्तु वैकुण्ठ लोकों में

केवल भगवद्भक्त ही प्रविष्ट हो पाते हैं। श्रीभगवान् आगे कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं है।' श्रीभगवान् की इस घोषणा में दृढ़ विश्वास करना है। जो हमारी कल्पना के अनुकूल न हो, उस सत्य को अस्वीकार कर देना युक्तिसंगत नहीं। हमें तो अर्जुन का मनोभाव अङ्गीकार करना है: 'आप जो कुछ भी कहते हैं, वह सब सत्य है, मुझे स्वीकार है।' अतः भगवान् का यह कथन निस्सन्देह सत्य है कि मृत्यु काल में जो कोई भी उनका ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के रूप में चिन्तन करता है, वह अवश्य परव्योम में प्रविष्ट हो जाता है। इसमें अविश्वास का तो प्रश्न ही नहीं बनता।

अन्तकाल में भगवच्चिन्तन करने के प्रकार का भी गीता में वर्णन है:

यं यं वापि स्मरम् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥

जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए यह मनुष्य देह को त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होता है। (८.६)

माया (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की एक शक्ति का ही प्रकाश है। 'विष्णु पुराण' में श्रीभगवान् की सम्पूर्ण शक्तियों का वर्णन है: **'विष्णु-शक्तिः परा प्रोक्ता…।'** परमेश्वर नाना प्रकार की असंख्य शक्तियों से युक्त हैं, जो हमारे लिए सर्वथा अचिन्त्य हैं। किन्तु तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने इन शक्तियों का अध्ययन कर तीन भागों में वर्गीकरण किया है। ये सभी विष्णु-शक्ति कहलाती हैं। इनमें एक दिव्य शक्ति है, जो 'परा' कहलाती है। जैसा वर्णन किया जा चुका है, जीव इसी परा शक्ति के अंश हैं। अन्य सभी शक्तियां प्राकृत होने से तमोगुणमयी हैं। मृत्यु-काल में हम स्वेच्छानुसार इस संसार की अपरा शक्ति (माया) में ही बने रह सकते हैं अथवा भगद्धाम की दिव्य शक्ति में स्थानान्तरित हो सकते हैं।

इस जीवन में हम परा-अपरा शक्ति में से किसी एक का चिन्तन करने के अभ्यस्त हैं। समाचार पत्र, उपन्यास आदि नाना प्रकार का साहित्य हमारे चित्त को अपरा शति (माया) के चिन्त न से भर देता है। इस कोटि के निकृष्ट साहित्य में तन्मय हो रही अपनी चिन्तन-

शक्ति को हमें वैदिक वाङ्मय में लगाना है। महर्षियों ने पुराणादि वैदिक वाङ्मय का प्रणयन इसी प्रयोजन से किया है। पुराण काल्पनिक नहीं, वरन् ऐतिहासिक हैं। 'श्रीचैतन्य चरितामृत' में कहा है—

माया मुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।
जीवेर कृपाय कैल कृष्ण वेद-पुराण॥ (मध्यलीला २०।१२२)

विस्मरणशील जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भुलाकर विषय परायण हो रहे हैं। उनकी चिन्तन-शक्ति को भगवद्धाम में केन्द्रित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने विपुल वैदिक-वाङ्मय प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेद को चार भागों में विभक्त किया, तदनन्तर पुराणों में उनका विशदीकरण किया तथा अल्प सामर्थ्य वालों के लिये 'महाभारत' की रचना की। महाभारत रूपी महासागर में ही भगवद्गीता रूपी महारत्न निकला है। तत्पश्चात् सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के सार तत्त्व का 'ब्रह्मसूत्र' में निरूपण किया गया और भविष्य में जनता के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने स्वयं 'ब्रह्मसूत्र' के अपौरुषेय भाष्य श्रीमद्भागवत की रचना की। हमें इन वैदिक शास्त्रों के चिन्तन-मनन में ही चित्त को नित्य तत्पर रखना है। जिस प्रकार विषयी मनुष्यों का चित्त लौकिक पत्र-पत्रिकाओं में ही लगा रहता है, उसी भांति हमें अपने चित्त को व्यासदेव द्वारा विरचित इन ग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रखना है। इससे मृत्यु-समय में श्रीभगवान् का स्मरण-चिन्तन करने में हम समर्थ हो जायेंगे। श्रीभगवान् ने एकमात्र इसी मार्ग का परामर्श किया है, परिणाम के विषय में उनकी प्रतिभू (गारन्टी) है 'इसमें सन्देह नहीं।' (गीता ८.७)

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥

इसलिए हे अर्जुन! तू नित्य-निरन्तर मेरे कृष्ण रूप का स्मरण कर और युद्ध रूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार मेरे परायण कर्म करता हुआ तथा मेरे अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से स्वधर्म-त्याग कर अपना स्मरण करने को नहीं कहते। वे किसी अव्यवहारिक पद्धति का परामर्श कदापि नहीं देते। इस संसार में देह-धारण करने के लिए कर्म करना अनिवार्य है। कर्म के अनुसार मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित है। ब्राह्मण अथवा बुद्धिजीवियों का वर्ग एक प्रकार का कार्य करता है, क्षत्रिय (प्रशासनिक) वर्ग दूसरा कर्म करता तथा वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। मानव समाज का यह नियम है कि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, क्षत्रिय, कृषक, उत्तम वर्ण का बुद्धिजीवी हो अथवा वैज्ञानिक या अध्यात्मवादी, जीवन-धारण करने के लिए उसे कर्म करना ही होगा। इसी कारण श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उसे अपने धर्म को त्यागने की आवश्यकता नहीं, वरन् स्वधर्म का आचरण करता हुआ वह उन (कृष्ण) का ही स्मरण करता रहे। यदि वह जीवन के लिए संघर्ष करते हुए श्रीकृष्ण के नित्य स्मरण का अभ्यास नहीं करेगा, तो मृत्यु-काल में भी श्रीकृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु का भी यही उपदेश है। उन्होंने कहा है कि नित्य-निरन्तर श्रीभगवान् का कीर्तन करते हुए उनके स्मरण का अभ्यास करना चाहिए। श्रीभगवान् और उनके नाम में भेद नहीं है। अतएव अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश कि, 'मेरा स्मरण कर' तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह उपदेश कि 'श्रीकृष्णनाम का कीर्तन करो'—वस्तुतः एक ही हैं। इनमें भेद नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण नाम सर्वथा अभिन्न हैं। भगवद्धाम में नाम-नामी में किंचित् भी भेद नहीं होता। अस्तु, भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए जीवन की क्रियाओं को भगवत्स्मरण के अनुकूल बनाकर हमें नित्य-निरन्तर, दिन में चौबीस घन्टे भगवत्स्मरण रखने का अभ्यास करना चाहिए।

यह किस विधि से सम्भव है ? आचार्यों ने यह दृष्टान्त किया है। किसी विवाहिता स्त्री की पर-पुरुष में आसक्ति अथवा किसी पुरुष की परायी स्त्री में आसक्ति साधारण आसक्ति से कहीं अधिक प्रबल होती है। इस प्रकार आसक्त हुआ प्राणी अपने प्रियतम के चिन्तन में नित्य तन्मय रहता है। उपपति के स्मरण में मग्न स्त्री गृह-कार्य करते हुए भी उससे मिलने के लिये ही नित्य उत्कण्ठित रहती है। ऐसा होने पर

भी अपने गृह कार्य को वह अधिक सावधानी से ही करती है, जिससे किसी को उसके उपपतित्त्व का भान न हो जाय। इसी भांति परम प्रियतम श्रीकृष्ण का नित्य चिन्तन करते हुए भी हमें अपने लौकिक कर्तव्यों का सुचारु रूप से निर्वाह करना चाहिए। इसके लिए प्रगाढ़ अनुराग की अपेक्षा है। यदि श्रीभगवान् में हमारा प्रगाढ़ प्रेम-भाव होगा तो स्वधर्म का आचरण करते हुए भी हम उनका स्मरण कर सकेंगे। किन्तु इससे पूर्व उस प्रेम-भाव को उद्भावित करना होगा। श्रीकृष्ण का प्रेमी होने से अर्जुन उनके नित्य चिन्तन में तन्मय रहता है; श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होते हुए भी उसने युद्ध किया। श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि वह युद्ध से विमुख होकर ध्यान के लिए वन में चला जाय। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति योग-पद्धति का वर्णन किया तो अर्जुन यह कहने को बाध्य हो गया कि इस मार्ग का अभ्यास करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूधन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपके द्वारा संक्षेप से कही गई योग-पद्धति मुझे अस्थायी और अव्यावहारिक दिखाई देती है, क्योंकि मन अति चञ्चल है। (६.३३)

परन्तु श्रीभगवान् ने उत्तर में कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सम्पूर्ण योगियों में भी, जो श्रद्धावान् योगी भक्ति योग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे सर्वाधिक अन्तरंग रूप में युक्त तथा सबसे उत्तम है। (गीता ६.४७)

अतएव नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण करने वाला सर्वोत्तम ज्ञानी और भक्त-शिरोमणि है। श्रीभगवान् ने अर्जुन से यह भी कहा है कि क्षत्रिय

होने से वह युद्ध का परित्याग नहीं कर सकता; किन्तु यदि वह उन (श्रीकृष्ण) का चिन्तन करता हुआ युद्ध करेगा, तो अन्तकाल में भी उसे उनकी स्मृति बनी रहेगी। इसके लिए सर्वतोभावेन भगवद्भक्ति की ही शरण लेनी होगी।

यथार्थ में हम कर्म अपने चित्त और मनीषा के द्वारा करते हैं, देह से नहीं। अतः यदि मन-बुद्धि नित्य भगवत्स्मरण के ही परायण रहें तो इन्द्रियां भी उनकी अनन्य सेवा में तत्पर रहेंगी। कम से कम बाह्य रूप से तो इन्द्रियों की क्रियाएं वहीं रहती हैं, परन्तु मति परिणत हो जाती है। भगवद्गीता भगवत्स्मरण में ही मन-बुद्धि को तन्मय कर देने की विधि सिखाती है। इस तन्मयता से भगवद्धाम की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। चित्त के कृष्ण-सेवा-परायण हो जाने पर इन्द्रियां भी स्वतः उनकी सेवा में निवेशित हो जाती हैं। श्रीकृष्ण के मधुर चिन्तन में पूर्ण रूप से तन्मय हो जाना एक दिव्य कला है। यही भगवद्गीता का गोपनीय सार है।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए घोर संघर्ष किया है परन्तु भगवत्प्राप्ति के लिए किंचित् भी प्रयास नहीं किया। जिनके जीवन के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, वे तो विशेष सावधानी-सहित अपने शेष सीमित समय का सदुपयोग भगवत्स्मरण के अभ्यास में ही करें। इसी अभ्यास का नाम भक्तियोग है :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥

ये नौ साधन, जिनमें से भगवत्प्राप्त महापुरुष के मुख से भगवद्गीता का श्रवण करना सबसे सुगम है, जीव को भगवच्चिन्तन की ओर उन्मुख करते हैं। इससे निश्चल भगवत्स्मरण होने लगता है और देह त्याग के अनन्तर, श्रीभगवान् का सङ्ग करने के योग्य दिव्य शरीर की प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रीभगवान् आगे कहते हैं :

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

हे कुन्तीनन्दन ! नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से भगवत्स्मरण का अभ्यास करने वाले को निःसन्देह भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।
(गीता ८.८)

यह पद्धति कठिन नहीं है। तथापि, इसे उस अनुभवी मनुष्य से सीखना होगा, जो स्वयं इसका अभ्यास करता हो। यत्र-तत्र धावन करने वाले चित्त को भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह अथवा कृष्ण नाम की ध्वनि मे एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन स्वभाव में ही चचल तथा अस्थिर है। परन्तु कृष्ण-नाम सकीर्तन के प्रभाव से यह स्थिर हो जाता है। इस प्रकार 'परम पुरुष' का सतत चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त हो जाय। भगवद्गीता में आत्यन्तिक उपलब्धि—भगवत्प्राप्ति के साधन का स्पष्ट उल्लेख है, इस ज्ञान के द्वार प्राणीमात्र के लिए खुले हैं। इसमें सबका अधिकार है। सभी कोटियों के मनुष्य श्रीभगवान् का स्मरण कर उन्हे प्राप्त कर सकते हैं, श्रीभगवान् का श्रवण-स्मरण प्राणीमात्र के लिए सुगम है।

श्रीभगवान् का उद्घोष है :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

'हे पार्थ ! पापयोनि स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और राजर्षियों के लिए तो कहना ही क्या है ? अत इस दु.खमय और क्षणभगुर संसार मे तू मेरा ही भजन कर।' (गीता, ९.३२, ३३)

वैश्य, स्त्री और शूद्र आदि निम्न श्रेणी के मनुष्य भी श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए असाधारण बुद्धि की आवश्यकता नही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कोई भी भक्तियोग को अङ्गी-

होने से वह युद्ध का परित्याग नहीं कर सकता; किन्तु यदि वह उन (श्रीकृष्ण) का चिन्तन करता हुआ युद्ध करेगा, तो अन्तकाल में भी उसे उनकी स्मृति बनी रहेगी। इसके लिए सर्वतोभावेन भगवद्भक्ति की ही शरण लेनी होगी।

यथार्थ में हम कर्म अपने चित्त और मनीषा के द्वारा करते हैं, देह से नहीं। अतः यदि मन-बुद्धि नित्य भगवत्स्मरण के ही परायण रहें तो इन्द्रियां भी उनकी अनन्य सेवा में तत्पर रहेंगी। कम से कम बाह्य रूप से तो इन्द्रियों की क्रियाएं वहीं रहती हैं, परन्तु मति परिणत हो जाती है। भगवद्गीता भगवत्स्मरण में ही मन-बुद्धि को तन्मय कर देने की विधि सिखाती है। इस तन्मयता से भगवद्धाम की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। चित्त के कृष्ण-सेवा-परायण हो जाने पर इन्द्रियां भी स्वतः उनकी सेवा में निवेशित हो जाती हैं। श्रीकृष्ण के मधुर चिन्तन में पूर्ण रूप से तन्मय हो जाना एक दिव्य कला है। यही भगवद्गीता का गोपनीय सार है।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए घोर संघर्ष किया है परन्तु भगवत्प्राप्ति के लिए किंचित् भी प्रयास नहीं किया। जिनके जीवन के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, वे तो विशेष सावधानी-सहित अपने शेष सीमित समय का सदुपयोग भगवत्स्मरण के अभ्यास में ही करें। इसी अभ्यास का नाम भक्तियोग है :

श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥

ये नौ साधन, जिनमें से भगवत्प्राप्त महापुरुष के मुख से भगवद्-गीता का श्रवण करना सबसे सुगम है, जीव को भगवच्चिन्तन की ओर उन्मुख करते हैं। इससे निश्चल भगवत्स्मरण होने लगता है और देह त्याग के अनन्तर, श्रीभगवान् का सङ्ग करने के योग्य दिव्य शरीर की प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रीभगवान् आगे कहते हैं :

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

हे कुन्तीनन्दन ! नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से भगवत्स्मरण का अभ्यास करने वाले को निःसन्देह भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।
(गीता ८.८)

यह पद्धति कठिन नहीं है। तथापि, इसे उस अनुभवी मनुष्य से सीखना होगा, जो स्वयं इसका अभ्यास करता हो। यत्र-तत्र धावन करने वाले चित्त को भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह अथवा कृष्ण नाम की ध्वनि में एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन स्वभाव से ही चंचल तथा अस्थिर है। परन्तु कृष्ण-नाम संकीर्तन के प्रभाव से यह स्थिर हो जाता है। इस प्रकार 'परम पुरुष' का सतत चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त हो जाय। भगवद्गीता में आत्यन्तिक उपलब्धि—भगवत्प्राप्ति के साधन का स्पष्ट उल्लेख है, इस ज्ञान के द्वार प्राणीमात्र के लिए खुले है। इसमें सबका अधिकार है। सभी कोटियों के मनुष्य श्रीभगवान् का स्मरण कर उन्हें प्राप्त कर सकते है, श्रीभगवान् का श्रवण-स्मरण प्राणीमात्र के लिए सुगम है।

श्रीभगवान् का उद्घोष है :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

'हे पार्थ ! पापयोनि स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और राजर्षियों के लिए तो कहना ही क्या है ? अतः इस दुःखमय और क्षणभंगुर संसार में तू मेरा ही भजन कर।' (गीता, ९.३२, ३३)

वैश्य, स्त्री और शूद्र आदि निम्न श्रेणी के मनुष्य भी श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए असाधारण बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कोई भी भक्तियोग को श्रद्धा-

कार कर श्रीभगवान् को जीवन का परम लक्ष्य तथा निःश्रेयस बना लेता है, वह भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का आचरण करने से संसार की क्षणभंगुरता से उत्पन्न होने वाली जीवन की समस्याओं का पूर्ण समाधान हो जाता है और जीवन भी कृतार्थ हो उठता है। यही सम्पूर्ण भगवद्गीता का सार-सर्वस्व है।

अस्तु, सारांश में, भगवद्गीता परम दिव्य शास्त्र है। इसका अध्ययन पूर्ण मनोयोग से करे। यह सब प्रकार के भय से जीव का परित्राण करने में समर्थ है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

कृष्णभावना के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका नाश अथवा ह्रास नहीं होता तथा इस पथ में की गई स्वल्प मात्र प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है। (गीता २.४०)

यदि भगवद्गीता का स्वाध्याय शुद्ध (निश्छल) भाव से मनन-पूर्वक किया जाय, तो पूर्वकृत पाप कर्म फलित हुए बिना ही शान्त हो जाते हैं। भगवद्गीता के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण का तुमुल उद्‌घोष है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण कर। मैं तुझे सब पाप-कर्मों से मुक्त कर दूंगा। तू भय मत कर।' (गीता १८.६६)। इस प्रकार अपनी शरण में आए भक्त का पूर्ण उत्तर-दायित्व श्रीभगवान् स्वयं वहन करते हैं और उसके सम्पूर्ण पापों को क्षमा कर देते हैं।

मनुष्य अपनी शुद्धि के लिए नित्य जल से स्नान करता है, किन्तु भगवद्गीता रूपी पावन गंगा जल में जो एक बार भी स्नान कर

लेता है, वह भव रोग की सम्पूर्ण मलिनता से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। स्वयं श्रीभगवान् के मुख की वाणी गीता का पाठ करने वाले को किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ के अध्ययन की अपेक्षा नही रहती। नित्य-निरन्तर मनोयोग सहित भगवद्गीता के श्रवण में ही तत्पर रहे। वर्तमान काल में मनुष्य-समाज इतना अधिक विषय-परायण हो चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय सम्भव नही रहा है। कल्याण के लिए यह एक ग्रन्थ, भगवद्गीता सर्वथा पर्याप्त है, क्योंकि यह वैदिक शास्त्रो का परम सार है और स्वयं श्रीभगवान् ने इसका गान किया है। कहा जाता है कि गंगाजल का पान करने वाला अवश्य मुक्त हो जाता है, फिर श्रवण-पुटों से भगवद्गीता का पान करने वाले का तो कहना ही क्या ? गीता वस्तुतः महाभारत का सारामृत ही है। स्वयं विष्णु ने इसका प्रवचन किया है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही आद्य-विष्णु है। गीता रूपी सुधा-धारा श्रीभगवान् के मुखारविन्द से निस्यन्दित है, जबकि गगा तो भगवच्चरणारविन्द से ही निस्सृत हुई है। अवश्य ही श्रीभगवान् के मुख और चरण में भेद नही है, किन्तु यह सत्य तो हमें स्वीकार करना होगा कि भगवद्गीता की महिमा गंगा से भी कही बढ़कर है।

भगवद्गीता मानो गौ के समान है और श्रीकृष्ण एक ग्वाल-बाल के तुल्य हैं, जो इस गौ का दोहन कर रहे है। यह दुग्ध वेदों का परम सार है और अर्जुन गौ-वत्स अनुरूप है। विवेकी, महर्षि और शुद्ध भक्त ही इस भगवद्गीता रूपी दुग्धामृत का पान करते है।

आज के युग का मानव बड़ा इच्छुक है कि सबके लिए एक ही शास्त्र, एक ही ईश्वर, एक ही धर्म और एक ही व्यवसाय हो। अत सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ही सार्वभौम शास्त्र हो—भगवद्गीता। सबके लिए एक ही आराध्य हों—श्रीकृष्ण और एक ही मन्त्र हो—'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।' तथा सम्पूर्ण जगत् के लिए एक ही उद्यम हो—भगवत्सेवा मे निरन्तर लीन रहना।

'वं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः' (गीता ४.२)

यह 'भगवद्गीता यथारूप' इस परम्परा मे प्राप्त हुई है.

१. श्रीकृष्ण, २ ब्रह्मा, ३ नारद, ४ व्यास, ५. मध्व, ६ पद्मनाभ, ७. नृहरि, ८ माधव, ९. अक्षोभ्य, १०. जयतीर्थ, ११. ज्ञानसिन्धु, १२ दयानिधि, १३ विद्यानिधि, १४ राजेन्द्र, १५. जयधर्म, १६. पुरुषोत्तम, १७. ब्रह्मण्यतीर्थ, १८ व्यासतीर्थ, १९ लक्ष्मीपति, २०. माधवेन्द्रपुरी, २१ ईश्वरपुरी (नित्यानन्द, अद्वैत), २२. श्री चैतन्य महाप्रभु, २३. रूप (स्वरूप, सनातन) २४ रघुनाथ, जीव, २५. कृष्णदास, २६. नरोत्तम, २७ विश्वनाथ, २८ (बलदेव) जगन्नाथ, ९. भक्तिविनोद, ३०. गौरकिशोर, ३१ भक्ति सिद्धान्त सरस्वती, ३२ कृष्णकृपामूर्त्ति ए सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद

अथ प्रथमोऽध्यायः



अर्जुनविषादयोग

(कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में सैन्य-निरीक्षण)

धृतराष्ट्र उवाच ।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्रः उवाच = राजा धृतराष्ट्र ने कहा; धर्मक्षेत्रे = धर्मभूमि; कुरुक्षेत्रे = कुरुक्षेत्र में; समवेताः = इकट्ठे हुए; युयुत्सवः = युद्ध की इच्छावाले मामकाः = मेरे; पाण्डवाः च = और पाण्डु के पुत्रों ने। एव = भी, किम् = क्या; अकुर्वत = किया; सञ्जय = हे सञ्जय

अनुवाद

धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर, युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? ॥ १ ॥

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः व्यापक स्तर पर पठित भागवत-विद्या है, जो गीता माहात्म्य के अन्तर्गत सार-रूप में समाहृत है। उसमें कहा गया है कि कृष्ण-भक्त के आश्रय में ही गीता का मनोयोग से अध्ययन करना चाहिए और वैयक्तिक टीकाओं के आवरण से मुक्त रह कर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिए। भगवद्गीता के उस विशुद्ध ज्ञान का दृष्टान्त भगवद्गीता में ही सन्निहित है। गीता को उसी भांति हृदयंगम करना है, जिस प्रकार अर्जुन ने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुन कर उसे आत्मसात् किया। यथार्थ में भाग्यशाली वही है, जो उसी शिष्य परम्परा के अन्तर्गत वैयक्तिक टीकाओं के आरोप से मुक्त, गीता का विशुद्ध ज्ञान अर्जित करे। ऐसा भाग्यवान् वैदिक ज्ञान एवं विश्व के अन्य सभी शास्त्रों के स्वाध्याय का अतिक्रमण कर जाता है। गीता के अध्ययन से अन्य शास्त्रों का मर्म तो ज्ञात हो ही जाता है ; इसके अतिरिक्त, गीता में पाठक को वह तत्त्व भी प्राप्त होता है, जो अन्यत्र प्राप्य नहीं है। यही गीता का अतुलनीय वैशिष्ट्य है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने के कारण गीता पूर्ण भागवत-विद्या है।

महाभारत में वर्णित धृतराष्ट्र और सञ्जय का वार्तालाप इस महान् दर्शन का उपोद्घात है। यह सर्वविदित ही है कि इस दर्शन की अवतारणा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में हुई, जो वैदिक युग के आदि काल से ही पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है। पृथ्वी पर अपने अवतरण-काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव-कल्याण के लिए इस कथामृत का प्रवचन किया।

धर्म-क्षेत्र शब्द सारगर्भित है, क्योंकि कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में अर्जुन के पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उपस्थित हैं। अपने पुत्र कौरवों की विजय की सम्भावना के विषय में धृतराष्ट्र अत्यधिक संदिग्ध

था। अतः इस सन्देह के निवारणार्थ, उसने अपने सचिव संजय से जिज्ञासा की, 'मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?' वह जानता था कि उसके तथा अनुज, पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की रणभूमि में निर्णयात्मक युद्ध के हेतु एकत्रित हुए हैं। फिर भी, उसकी जिज्ञासा तात्पर्ययुक्त है। धृतराष्ट्र नहीं चाहता था कि उसके पुत्रों और भतीजों में सन्धि हो। वरन् युद्धस्थल मे संघर्ष के लिए सन्नद्ध हुए अपने पुत्रों के क्षेम के विषय मे आश्वस्त होना ही उसे अभीष्ट था। युद्ध का आयोजन कुरुक्षेत्र में हुआ था, जिसे वेदों मे देवोचित तीर्थ-स्थान कहा गया है। इस कारण, युद्ध के परिणाम पर उस धर्मस्थल पवित्र स्थान के प्रभाव की आशंका से धृतराष्ट्र भयभीत हो गया। वह जानता था कि इसका प्रभाव अर्जुन आदि पाण्डवों के अनुकूल होगा, जो स्वभाव से ही धर्मात्मा थे। संजय श्रीवेदव्यासजी का शिष्य था। उनके अनुग्रह से धृतराष्ट्र के कक्ष में ही उसे कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि का दर्शन हो सका। अतएव धृतराष्ट्र ने युद्ध-स्थिति के सम्बन्ध मे उससे जिज्ञासा की।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; दृष्ट्वा=देखकर; तु=किन्तु; पाण्डवानीकम्=पाण्डवों की सेना को; व्यूढम=व्यूहरचनायुक्त; दुर्योधनः—राजा दुर्योधन ने; तदा=उस समय; आचार्यम्=आचार्य के; उपसंगम्य=निकट जाकर; राजा=महाराज; वचनम्=यह वाक्य; अब्रवीत्=कहा।

अनुवाद

संजय ने कहा : हे राजन् ! उस समय पाण्डवों की व्यूह-रचना-युक्त सेना को देखकर, राजा दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य के निकट जाकर ये वचन कहे ॥ २ ॥

तात्पर्य

धृतराष्ट्र जन्मान्ध तो था ही, दुर्भाग्यवश, वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी वंचित था। उसे ज्ञात था कि उसके पुत्र भी धर्म के विषय में उसी के समान दृष्टिहीन हैं। उसे यह भी विश्वास था कि वे जन्म-जात पुण्यात्मा पाण्डवों से सन्धि कदापि नहीं करेंगे। तथापि, तीर्थ-स्थान के प्रभाव के सम्बन्ध में उसे सन्देह था। अतएव युद्ध-विषयक उसकी जिज्ञासा के अभिप्राय का संजय को आभास हो गया। इस कारण, हताश राजा को प्रोत्साहित करने के निमित्त से संजय ने यह चेतावनी दी कि उसके पुत्र पवित्र स्थल से प्रभावित होकर सन्धि नहीं करने वाले हैं। उसने धृतराष्ट्र को यह भी अभिसूचित किया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डव-सेना का अवलोकन कर, तत्काल अपने सेनानायक द्रोणाचार्य को यथार्थ स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को 'राजा' सम्बोधित किया गया है, तथापि स्थिति के गाम्भीर्यवश वह सेनापति के निकट जाने को बाध्य हो गया। स्पष्टतः दुर्योधन योग्य कूटनीतिज्ञ था, किन्तु उसका कपटपूर्ण राजनीतिक शिष्टाचार उस भय का गोपन नहीं कर सका, जो उसे पाण्डवों के सैन्य-व्यूह का अवलोकन कर प्राप्त हुआ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

पश्य=देखिए; एताम्=इस; पाण्डुपुत्राणाम्=पाण्डु पुत्रों की;

आचार्य=हे आचार्य; **महतीम्**=महान्; **चमूम्**=सेना को; **व्यूढाम्**=व्यूहाकार खड़ी की हुई; **द्रुपद पुत्रेण**=द्रुपद पुत्र द्वारा; **तव**=आपके; **शिष्येण**=शिष्य; **धीमता**=बुद्धिमान्।

अनुवाद

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार-रचित पाण्डवों की इस महान् सेना का अवलोकन कीजिए ॥ ३ ॥

तात्पर्य

कुशल राजनीतिज्ञ दुर्योधन ब्राह्मण-श्रेष्ठ सेनाधिपति द्रोणाचार्य के दोषों को इंगित करना चाहता था। अर्जुन के श्वशुर (द्रोपदी के पिता) राजा द्रुपद और द्रोण मे परस्पर राजनीतिक द्वेष था। इस कारण द्रुपद ने एक महायज्ञ का आयोजन कर द्रोणाचार्य का वध करने में समर्थ पुत्र की उत्पत्ति का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। इस तथ्य को सम्यक् रूप से जानते हुए भी वदान्य ब्राह्मण होने के कारण द्रोणाचार्य ने युद्ध-शिक्षा के लिए शरण में आए हुए द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के प्रति अपने सम्पूर्ण युद्ध-रहस्य उद्घाटित करने में किंचित भी संकोच नहीं किया। सम्प्रति, कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया एवं द्रोणाचार्य से प्राप्त विद्या के आधार पर उसी ने पाण्डव सेना की व्यूह-रचना की। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस त्रुटि का निर्देश किया, जिससे वे युद्ध में सजग और दृढ़ रहें। उपरोक्त कथन से उनका यह भी अभिप्राय था कि युद्ध में अपने स्नेहभाजन शिष्यों (पाण्डवों) के प्रति वे इसी प्रकार द्रवित न हो जायें। अर्जुन तो विशेष-रूप से द्रोणाचार्य का सर्वाधिक प्रिय एवं प्रतिभावान् शिष्य था। दुर्योधन ने चेतावनी दी कि युद्ध में ऐसा उदार व्यवहार परिणामतः पराजयकारी सिद्ध होगा।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

अत्र=इस पाण्डव सेना में; **शूराः**=शूरवीर; **महेष्वासाः**=महान् धनुर्धारी; **भीमार्जुन समाः**=भीम तथा अर्जुन के समान; **युधि**=युद्ध में; **युयुधानः**=युयुधान; **विराटः**=विराट; **च**=भी; **द्रुपदः**=द्रुपद; **च**=तथा; **महारथः**=महारथी।

अनुवाद

इस पाण्डव सेना में भीम-अर्जुन के समकक्ष अनेक महान धनुर्धारी शूरवीर योद्धा हैं, जैसे महारथी सात्यकि, विराट तथा द्रुपद आदि ॥ ४ ॥

तात्पर्य

यद्यपि युद्ध-कला में द्रोणाचार्य की महती शक्ति के समक्ष धृष्टद्युम्न कोई विशेष व्यवधान नहीं था, किन्तु शत्रुपक्ष के अन्यान्य अनेक योद्धाओं से भय सम्भावित था। इसी से दुर्योधन ने उन्हें अपने विजय पथ के महान् बाधक घोषित किया है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक योद्धा भीम तथा अर्जुन के समान दुर्धर्ष था। भीम और अर्जुन के बल का दुर्योधन को पर्याप्त ज्ञान था। अतः उसने अन्य महारथियों की उनसे ही तुलना की है।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतुः=धृष्टकेतु; चेकितानः=चेकितान; काशीराजः=काशी-नरेश; च=तथा; वीर्यवान्=अत्यन्त बलवान्; पुरुजित्=पुरुजित्; कुन्ति-भोजः=कुन्तिभोज; च=तथा; शैब्यः=शैब्य; च=तथा; नरपुङ्गवः=पुरुषों में श्रेष्ठ।

अनुवाद

इनके अतिरिक्त, धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, पुरुजित्, कुन्ति-भोज तथा शैब्य आदि महान् नरश्रेष्ठ एवं पराक्रमी योद्धा भी इस सेना में हैं ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

युधामन्युः=युधामन्यु; च=तथा; विक्रान्तः=पराक्रमी; उत्तमौजाः =उत्तमौजा; च=तथा; वीर्यवान्=महान् बलशाली; सौभद्रः=सुभद्रा

पुत्र; द्रौपदेयाः=द्रौपदी के पांचों पुत्र; च=तथा; सर्व एव=सभी; महारथाः=महारथी हैं।

अनुवाद

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पांचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ।६।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अस्माकम्=हमारे दल में; तु=भी; विशिष्टाः=विशेष शक्तिशाली; ये=जो; तान्=उन्हें; निबोध=जान लीजिए; द्विजोत्तम=हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ; नायकाः=सेनापति; मम=मेरी; सैन्यस्य=सेना के; संज्ञार्थम्=जानने के लिए; तान्=उन्हें; ब्रवीमि= कहता हूं; ते=आपके।

अनुवाद

हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! आपके जानने के लिए अपने सैन्य-बल के योग्य सेनापतियों का भी मैं वर्णन करता हूं ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

भवान्=आप; भीष्मः=पितामह भीष्म; च=तथा; कर्णः=कर्ण; कृपः=कृपाचार्य; च=और; समितिंजयः=सदा संग्राम विजयी; अश्वत्थामा=अश्वत्थामा; विकर्णः=विकर्ण; च=तथा; सौमदत्तिः=सोमदत्तपुत्र; तथा=वैसे; एव=ही; च=तथा।

अनुवाद

हमारी सेना में स्वयं आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवा हैं, ये सभी संग्राम में सदा विजयी रहे हैं ॥ ८ ॥

तात्पर्य

यहां दुर्योधन ने अपने दल के नित्य संग्राम-विजयी विलक्षण वीरों का उल्लेख किया है। विकर्ण दुर्योधन का अनुज, तथा अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र था। सौमदत्ति अर्थात् भूरिश्रवा वाह्लीक देश के राजा का आत्मज था। कर्ण अर्जुन का सौतेला भाई था। उसका जन्म माता कुन्ती की कन्यावस्था में, महाराज पाण्डु से विवाह होने के पूर्व हुआ। कृपाचार्य का विवाह द्रोण की यमजा भगिनी से हुआ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्ये=और; **च**=भी; **बहवः**=अनेक; **शूराः**=शूरवीर; **मदर्थे**=मेरे लिए; **त्यक्तजीविताः**=प्राणार्पण को उद्यत; **नाना**=विविध; **शस्त्रप्रहरणाः**=शस्त्रों में युक्त हैं; **सर्वे**=सब के सब; **युद्ध**=रण में **विशारदाः**=कुशल हैं।

अनुवाद

अन्य अनेक शूरवीर भी मेरे लिए प्राणों की आहुति देने को उद्यत हैं। वे सभी विविध शस्त्रों से सुसज्जित और युद्ध-कला-विशारद हैं॥ ९ ॥

तात्पर्य

जहां तक जयद्रथ, कृतवर्मा, शल्य, प्रभृति अन्यान्य योद्धाओं का सम्बन्ध है, वे सभी दुर्योधन के निमित्त प्राणोत्सर्ग करने के लिए कृतसंकल्प हैं। प्रकारान्तर से, यह पूर्व निश्चित है कि पापाचारी दुर्योधन का पक्ष लेने के कारण कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे सभी अवश्यमेव काल-कवलित हो जायेंगे। तथापि, मित्रों के पूर्वोक्त समवेत बल के आधार पर दुर्योधन को पूर्ण विश्वास है कि वह अन्ततः विजयी होगा।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्तम्=अपार; तत्=वह; अस्माकम्=हमारा; बलम्=सैन्य-बल; भीष्म=पितामह भीष्म द्वारा; अभिरक्षितम्=भली भांति संरक्षित; पर्याप्तम्=सीमित; तु=किन्तु; इदम्=इन; एतेषाम्=पाण्डवों का; बलम्=बल; भीम=भीम द्वारा; अभिरक्षितम्=सावधानीपूर्वक रक्षित।

अनुवाद

पितामह भीष्म द्वारा भली भांति सरक्षित हमारा सैन्य-बल अपार है, जिसकी तुलना में भीम द्वारा सावधानीपूर्वक रक्षित पाण्डवों का सैन्य-बल अत्यन्त सीमित है ॥ १० ॥

तात्पर्य

इस श्लोक में दुर्योधन ने दोनो सेनाओ के बल का परिगणना की है। उसकी धारणा में सर्वाधिक अनुभवी सेनानायक पितामह भीष्म द्वारा विशेष रूप से संरक्षित होने से उसका सैन्य-बल अपार है। दूसरी ओर, पाण्डवों का सैन्य-बल अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसका नेतृत्व स्वल्प अनुभव प्राप्त भीम कर रहे हैं, जो भीष्म की तुलना में तृण-तुल्य हैं। दुर्योधन भीम के प्रति नित्य ईर्ष्या भाव से ग्रस्त रहता था, क्योंकि उसे विदित था कि उसकी मृत्यु केवल भीम के द्वारा ही हो सकेगी। तथापि, भीम से अति उत्कृष्ट सेनापति भीष्म की उपस्थिति के कारण उसकी विजय सर्वथा निश्चित है, ऐसा दुर्योधन का विश्वास था।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अयनेषु=सामरिक महत्त्व के स्थलों पर; च=तथा; सर्वेषु=सब; यथाभागम्=अपने-अपने; अवस्थिताः=स्थित रहते हुए; भीष्मम्=पितामह भीष्म को; एव=ही; अभिरक्षन्तु=सहयोग दें; भवन्तः=आप; सर्वे एव=सभी; हि=निःसन्देह।

तात्पर्य

यहां दुर्योधन ने अपने दल के नित्य संग्राम-विजयी विलक्षण वीरों का उल्लेख किया है। विकर्ण दुर्योधन का अनुज, तथा अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र था। सौमदत्ति अर्थात् भूरिश्रवा वाह्लीक देश के राजा का आत्मज था। कर्ण अर्जुन का सौतेला भाई था। उसका जन्म माता कुन्ती की कन्यावस्था में, महाराज पाण्डु से विवाह होने के पूर्व हुआ। कृपाचार्य का विवाह द्रोण की यमजा भगिनी से हुआ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्ये=और; **च**=भी; **बहवः**=अनेक; **शूराः**=शूरवीर; **मदर्थे**=मेरे लिए; **त्यक्तजीविताः**=प्राणार्पण को उद्यत; **नाना**=विविध; **शस्त्रप्रहरणाः**=शस्त्रों में युक्त हैं; **सर्वे**=सब के सब; **युद्ध**=रण में **विशारदाः**=कुशल हैं।

अनुवाद

अन्य अनेक शूरवीर भी मेरे लिए प्राणों की आहुति देने को उद्यत हैं। वे सभी विविध शस्त्रों से सुसज्जित और युद्ध-कला-विशारद हैं॥ ९ ॥

तात्पर्य

जहां तक जयद्रथ, कृतवर्मा, शल्य, प्रभृति अन्यान्य योद्धाओं का सम्बन्ध है, वे सभी दुर्योधन के निमित्त प्राणोत्सर्ग करने के लिए कृत-संकल्प हैं। प्रकारान्तर से, यह पूर्व निश्चित है कि पापाचारी दुर्योधन का पक्ष लेने के कारण कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे सभी अवश्यमेव काल-कवलित हो जायेंगे। तथापि, मित्रों के पूर्वोक्त समवेत बल के आधार पर दुर्योधन को पूर्ण विश्वास है कि वह अन्ततः विजयी होगा।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्तम्=अपार; तत्=वह; अस्माकम्=हमारा; बलम्=सैन्य-बल; भीष्म=पितामह भीष्म द्वारा; अभिरक्षितम्=भली भांति संरक्षित; पर्याप्तम्=सीमित; तु=किन्तु; इदम्=इन; एतेषाम्=पाण्डवों का; बलम्=बल; भीम=भीम द्वारा; अभिरक्षितम्=सावधानीपूर्वक रक्षित।

अनुवाद

पितामह भीष्म द्वारा भली भांति संरक्षित हमारा सैन्य-बल अपार है, जिसकी तुलना में भीम द्वारा सावधानीपूर्वक रक्षित पाण्डवों का सैन्य-बल अत्यन्त सीमित है ॥ १० ॥

तात्पर्य

इस श्लोक में दुर्योधन ने दोनों सेनाओं के बल का परिगणना की है। उसकी धारणा में सर्वाधिक अनुभवी सेनानायक पितामह भीष्म द्वारा विशेष रूप से संरक्षित होने से उसका सैन्य-बल अपार है। दूसरी ओर, पाण्डवों का सैन्य-बल अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसका नेतृत्व स्वल्प अनुभव प्राप्त भीम कर रहे हैं, जो भीष्म की तुलना में तृण-तुल्य हैं। दुर्योधन भीम के प्रति नित्य ईर्ष्या भाव से ग्रस्त रहता था, क्योंकि उसे विदित था कि उसकी मृत्यु केवल भीम के द्वारा ही हो सकेगी। तथापि, भीम से अति उत्कृष्ट सेनापति भीष्म की उपस्थिति के कारण उसकी विजय सर्वथा निश्चित है, ऐसा दुर्योधन का विश्वास था।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अयनेषु=सामरिक महत्त्व के स्थलों पर; च=तथा; सर्वेषु=सब; यथाभागम्=अपने-अपने; अवस्थिताः=स्थित रहते हुए; भीष्मम्=पितामह भीष्म को; एव=ही; अभिरक्षन्तु=सहयोग दें; भवन्तः=आप; सर्वे एव=सभी; हि=निःसन्देह।

अनुवाद

अतएव सैन्य-व्यूह में सामरिक महत्त्व के अपने-अपने स्थानों पर स्थित रहते हुए आप सभी पितामह भीष्म से पूरा सहयोग करें ॥ ११॥

तात्पर्य

पितामह भीष्म के शौर्य की स्तुति कर दुर्योधन ने विचार किया कि अन्य योद्धा कहीं यह न समझ लें कि उन्हें यथोचित सम्मान नहीं दिया गया। अतः स्वाभाविक कूटनीति के अनुरूप स्थिति की उचित व्यवस्था के लिए उसने ये वचन कहे। उसके कहने का अभिप्राय यह था कि यद्यपि भीष्मदेव निःसन्देह सर्वोत्तम योद्धा हैं, परन्तु वे अति वृद्ध हो चुके हैं, इसलिए सब योद्धा, सम्पूर्ण दिशाओं से उनकी विशेष रक्षा करने को उद्यत रहें। युद्ध की किसी एक दिशा में भीष्म की पूर्ण व्यस्तता का शत्रु अनुचित लाभ उठा सकता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि अन्य योद्धा व्यूह में अपने-अपने स्थलों पर स्थित रहकर शत्रु को व्यूह-रचना भंग न करने दें। दुर्योधन का निश्चित मन्तव्य था कि कौरवों की विजय युद्ध में भीष्म की उपस्थिति पर ही निर्भर है। उसे युद्ध में भीष्म तथा द्रोण से पूर्ण सहयोग की प्रत्याशा थी, क्योंकि वह जानता था कि जब द्रौपदी को भरी सभा में वस्त्र-हरण कर नग्न किया जा रहा था तब उस असहाय अवस्था में उसने उन दोनों से न्याय की याचना की, किन्तु वे मूक बने बैठे रहे। यह जानते हुए भी कि उसके दोनों सेनाधिपतियों (भीष्म-द्रोण) का पाण्डवों के प्रति स्नेह-भाव है, दुर्योधन को पूर्ण आशा है कि अब भी वे उस स्नेह को उसी भांति पूर्णतः त्याग देंगे, जैसा उन्होंने द्यूत-क्रीड़ा के अवसर पर किया था।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तस्य=उसका; **संजयन्**=वर्धित करते हुए; **हर्षम्**=हर्ष; **कुरुवृद्धः**=कुरुवंश के वयोवृद्ध (भीष्म); **पितामहः**=पितामह भीष्म ने; **सिंहनादम्**=सिंह की गर्जना के समान; **विनद्य**=गरज कर; **उच्चैः**=उच्च स्वर से; **शंखम्**=शंख; **दध्मौ**=बजाया; **प्रतापवान्**=बलशाली।

अनुवाद

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुए दुर्योधन के वचनों को सुनकर, कौरवों के वृद्ध एवं प्रतापी पितामह भीष्म ने उसे हर्षित करते हुए सिंह-गर्जन के समान उच्च स्वर से शंख-नाद किया ।। १२ ।।

तात्पर्य

कुरुवंश के वयोवृद्ध पितामह भीष्म, पौत्र दुर्योधन का मनोभाव जान गए । अत: उसके लिए स्वाभाविक दया से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी सिंहोचित स्थिति के अनुरूप तुमुल शंख-नाद कर उसे आह्लादित करने का प्रयास किया । परोक्षत:, शंख की लाक्षणिकता से उन्होंने अपने निरुत्साह पौत्र दुर्योधन को अभिसूचित किया कि युद्ध में उसकी विजय सर्वथा असम्भव है, क्योंकि परमेश्वर श्रीकृष्ण शत्रु-पक्ष में अवस्थित है । तथापि, युद्ध का संचालन उनका कर्त्तव्य है, जिसका वे पूर्ण निर्वाह करेंगे ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।

ततः=उसके अनन्तर; शंखाः=शंख; च=तथा; भेर्यः=नगारे; च=तथा; पणवानक=ढोल-मृदंग; गोमुखाः=गोमुख; सहसा=अकस्मात्; एव=ही; अभ्यहन्यन्त=एक साथ बज उठे; स:=वह; शब्द=स्वर; तुमुलः=अति भयंकर; अभवत्=हुआ ।

अनुवाद

इसके अनन्तर, शंख, नगारे, ढोल, मृदंगादि सहसा एक साथ बज उठे तथा उनका वह स्वर अति भयंकर हुआ ।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।। १४ ।।

ततः=तत्पश्चात्; श्वेतैः=श्वेत; हयैः=घोड़ों से, युक्ते=युक्त महति=महान्; स्यन्दने=रथ में; स्थितौ=विराजमान्; माधवः=

श्रीकृष्ण; **पाण्डवः**=पाण्डुपुत्र अर्जुन ने; **च**=तथा; **एव**=भी; **दिव्यौ**=दिव्य; **शंखौ**=शंख; **प्रदध्मतु**=बजाये ।

अनुवाद

दूसरी ओर, श्वेत घोड़ों से युक्त महिमामय रथ पर विराजमान् भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने अपने दिव्य शंखों का वादन किया ।। १४ ।।

तात्पर्य

भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के शंखों को 'दिव्य' कहा गया है। अलौकिक शंखों के नाद से स्पष्ट था कि विपक्षी (कौरव) की विजय सर्वथा असम्भव है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया है। '**जयस्तुपाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः**'—'जय सदा पाण्डव जैसे धर्मात्माओं का ही वरण करती है, क्योंकि उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का समाश्रय प्राप्त रहता है'। श्री भगवान् जिस देश-काल में विराजमान रहते हैं, लक्ष्मी भी वहां अवश्य निवास करती है. क्योंकि वह अपने स्वामी की नित्य अनुगामिनी है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीविष्णु) के शंख नाद से प्रकट हो रहा है कि विजय एवं श्री अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही हैं। इसके अतिरिक्त, जिस रथ में दोनों सखा विराजमान थे, वह अर्जुन को अग्नि देव ने प्रदान किया था, अतः वह रथ त्रिभुवन-दिग्विजय करने में समर्थ था।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

पाञ्चजन्यम्=पाञ्चजन्य नामक शंख; **हृषीकेशः**=हृषीकेश (भगवान् श्रीकृष्ण ने, जो भक्तों की इन्द्रियों का सञ्चालन करते हैं); **देवदत्तम्**=देवदत्त नामक शंख; **धनंजयः**=धनंजय (विपुल धन प्राप्त करने वाले अर्जुन ने); **पौण्ड्रम्**=पौण्ड्र नामक शंख; **दध्मौ**=बजाया; **महाशंखम्**=महान् शंख; **भीम कर्मा**=अतिमानवीय कर्म करने वाले; **वृकोदरः**=बहुभोजी (भीम) ने ।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य नामक शंख का वादन किया तथा अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। अति मानवीय कर्म करने वाले अति-भोजी भीम ने पौण्ड्र नामक शंख की भंयकर ध्वनि की ॥१५॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को 'हृषीकेश' कहा गया है, क्योंकि वे समस्त इन्द्रियों के स्वामी हैं। जीवात्मा उनके भिन्नांश हैं, अतः जीवात्माओं की इन्द्रियां भी उनकी इन्द्रियों की भिन्नांश हैं। निर्विशेष-वादी इन्द्रियों का हेतु-निर्देश करने में असमर्थ हैं। इसी कारण वे जीवों को इन्द्रियरहित अथवा निर्विशेष कहने को नित्य उत्कण्ठित रहते हैं। यथार्थ में सब जीवों के अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही उनकी इन्द्रियों के नियंता हैं। अपने प्रति जीव की शरणागति के अनुपात में वे उसका नियन्त्रण करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त की इन्द्रियों का तो प्रकट रूप से संचालन करते हैं, जैसे कुरुक्षेत्र की इस युद्ध-भूमि में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की चिन्मय इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर रहे हैं। इसीलिए उन्हें 'हृषीकेश' सम्बोधित किया गया है। श्रीभगवान् की विविध रसमयी लीलाओं के अनुसार उनके विविध नाम है। उदाहरणार्थ, मधु नामक दैत्य का वध करने के कारण वे मधुसूदन कहलाये; गायों एवं इन्द्रियों को रसानन्द का आस्वादन कराने से वे गोविन्द है; वसुदेव के पुत्र-रूप में प्रकट होने के कारण वासुदेव नाम से प्रख्यात है; देवकी को माता स्वीकार करने से वे देवकीनन्दन कहलाए; श्रीधाम वृन्दावन में उन्होंने अपनी बाल-लीला का यशोदा मैय्या को आस्वादन कराया, इसलिए यशोदानन्दन विश्रुत हुए तथा सखा अर्जुन का सारथ्य करने से उन्हे पार्थसारथी कहा गया है। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के मार्गदर्शक के रूप में उनका एक नाम हृषीकेश भी है।

अर्जुन को इस श्लोक में 'धनजय' कहा गया है, क्योंकि विविध यज्ञों के अनुष्ठानार्थ विपुल धन-राशि के उपार्जन में उसने अपने अग्रज राजा युधिष्ठिर की सहायता की थी। इसी भांति वहुभोजन तथा हिडिम्वासुर-

वध आदि अतिमानवीय कार्यकलापों के सम्पादन में समर्थ होने से भीम को 'वृकोदर' कहा जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् तथा पाण्डव दल के अन्यान्य पुरुषों द्वारा विशिष्ट शंखों का वादन स्वपक्षी सेनाओं के लिए अत्यन्त उत्साहवर्धक था। विपक्ष में इस वैशिष्ट्य का अत्यन्त अभाव था। परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीदेवी लक्ष्मी भी वहां विराजमान नहीं। अतएव युद्ध में कौरवों की पराजय पूर्व निश्चित है—शंख नाद ने इसी सन्देश का उद्घोष किया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

अनन्तविजयम्=अनन्तविजय नामक शंख; **राजा**=राजा; **कुन्तीपुत्रः**=कुन्तीपुत्र; **युधिष्ठिरः**=युधिष्ठिर ने; **नकुलः**=नकुल; **सहदेवः च**=और सहदेव ने; **सुघोषमणिपुष्पकौ**=सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शंख बजाये; **काश्यः**=काशिराज; **च**=तथा; **परमेष्वासः**=महान् धनुर्धारी; **शिखण्डी**=शिखन्डी; **च**=तथा; **महारथः**=महारथी; **धृष्टद्युम्नः**=धृष्टद्युम्न; **विराटः**=विराट (अज्ञात वास के समय पाण्डवों के आश्रय-दाता); **च**=तथा; **सात्यकिः**=सात्यकि (युयुधान-श्रीकृष्ण का सारथी); **च**=तथा; **अपराजितः**=सदा विजयी; **द्रुपदः**=द्रुपद (पाञ्चाल नरेश); **द्रौपदेयः**=द्रौपदी पुत्र; **सर्वशः**=इन सभी ने; **पृथिवीपते**=हे राजन्!; **सौभद्रः च**=सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु ने भी; **महाबाहुः**=पराक्रमी; **शंखान्**=शंख; **दध्मुः**=बजाए; **पृथक्-पृथक्**=अलग-अलग।

अनुवाद

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुल-सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक नाम वाले शंखों का वादन किया।

महान् धनुर्धारी काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रों तथा सुभद्रा पुत्र (अभिमन्यु) आदि इन सभी ने हे राजन् ! अपने-अपने शंख बजाये ।।१६-१८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र को अतिशय पटुतापूर्वक सूचित किया है कि राज्य-सिंहासन पर अपने पुत्रों को स्थापित करने के लिए पाण्डवों से छल करने की उसकी अविवेकपूर्ण नीति अधिक श्लाघ्य नहीं थी। लक्षणों से स्पष्ट था कि उस महासंग्राम में सम्पूर्ण कुरुवंश का महाविनाश हो जायगा। कुलवृद्ध भीष्म से लेकर अभिमन्यु आदि पौत्र पर्यन्त वहां एकत्रित हुये समस्त कौरव तथा पृथ्वी के अन्यान्य सभी राजा काल-कवलित होने वाले थे। पुत्रों की कुनीति को उत्साहित करने वाले राजा धृतराष्ट्र पर ही इस महाविपत्ति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व था।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ।।१९।।

सः=उस; घोष=शब्द ने; धार्तराष्ट्राणाम्=धृतराष्ट्र पुत्रों के; हृदयानि=हृदयों को, व्यदारयत्=विदीर्ण कर दिया, नभः=आकाश; च=तथा; पृथिवीम्=पृथ्वी को; च एव=भी; तुमुल=भयंकर रूप से; अभ्यनुनादयन्=शब्दायमान् करते हुए।

अनुवाद

शंखों के इस तुमुल-घोष ने आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया ।। १९ ।।

तात्पर्य

दुर्योधन के पक्षपाती भीष्म आदि योद्धाओं के शंख-नाद का पाण्डवों पर किंचित् भी प्रभाव पड़ा हो, ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि पाण्डव-सैन्य-संकुल के

दोनों ही अर्जुन के रथ पर उसकी सहायता के लिए विराजमान थे। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं राम हैं और जहा भी भगवान् राम विराजमान रहते हैं, वहां उनके नित्य दास हनुमान जी और नित्य अर्धांगिनी लक्ष्मी देवी सीता जी भी अवश्य निवास करती हैं। अतः अर्जुन के लिए शत्रु-भय का कोई कारण नही है। इससे भी अधिक, हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का मार्ग-दर्शन करने को स्वयं उपस्थित हैं, जिससे अर्जुन को युद्ध-सम्बन्धी सम्पूर्ण सद्-परामर्श अनायास उपलब्ध हो जायगा। अपने नित्य भक्त के लिए श्रीभगवान् द्वारा नियोजित ऐसी मंगलमयी स्थिति में निश्चित विजय के लक्षण सन्निहित रहते हैं।

अर्जुन उवाच।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **सेनयोः**=सेनाओं के; **उभयोः**=दोनों; **मध्ये**=मध्य में; **रथम्**=रथ को; **स्थापय**=खड़ा करिए; **मे**=मेरे; **अच्युत**=हे अच्युत; **यावत्**=जब तक; **एतान्**=इन सब; **निरीक्षे**=देख लूं; **अहम्**=मैं; **योद्धुकामान्**=युद्ध की इच्छा वालों को; **अवस्थितान्**=युद्धभूमि में एकत्र हुए; **कैः**=किनके; **मया**=मुझे; **सह**=साथ; **योद्धव्यम्**=युद्ध करना है; **अस्मिन्**=इस; **रण**=युद्ध रूप; **समुद्यमे**=संघर्ष में।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कर दीजिए, जिससे यहां उपस्थित हुए युद्ध के अभिलाषी योद्धाओं को मैं देख सकूं, जिनके साथ इस महासंग्राम में मुझे संघर्ष करना है॥ २१-२२॥

तात्पर्य

साक्षात् स्वयं भगवान् होते हुए भी श्रीकृष्ण स्वरूपभूता अहैतुकी करुणा से अभिभूत होकर अपने सखा की सेवा में संलग्न हैं। भक्तों के प्रति उनके स्नेह में कभी न्यूनता नहीं आती। इसी से अर्जुन ने यहां उन्हें 'अच्युत' सम्बोधित किया है। सारथी के रूप में उन्हें अर्जुन का आज्ञा-पालन करना था। इस प्रसंग में भी कोई संकोच न करने से ही वे 'अच्युत' कहे गये हैं। भक्त के लिए सारथ्य कर्म करने पर भी उनकी सर्वोच्च महिमामयी स्थिति अक्षुण्ण बनी रही। इस प्रकार प्रत्येक परि-स्थिति में वे पुरुषोत्तम समग्र इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश हैं। वस्तुतः श्रीभगवान् और उनके सेवक का परस्पर सम्बन्ध अतिशय मधुरिमामय एवं दिव्य है। सेवक अपने सेव्य भगवान् की सेवार्थ सदा तत्पर रहता है। इसी भांति, भगवान् भी भक्त की सेवा करने के सुयोग के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते हैं। स्वयं आज्ञा देने की अपेक्षा अपने शुद्ध भक्त को आज्ञादाता का गौरवमय-पद प्रदान कर उससे आज्ञा ग्रहण करने में श्रीभगवान् को विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। ईश्वर-रूप में वे सबके स्वामी हैं, और उन्हें आज्ञा देने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। किन्तु जब शुद्ध भक्त उन्हें आज्ञा देता है, तो नित्य अच्युत रहने वाले प्रभु को चिन्मय आनन्द-रस-निर्यास का आस्वादन सुलभ हो जाता है।

शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को बन्धु-बान्धवों से युद्ध करना अभीष्ट नहीं था। किन्तु शान्ति-सन्धि न करने विषयक दुर्योधन की हठ-धर्मी ने उसे युद्धभूमि में उतरने को बाध्य कर दिया। अतएव वह यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक था कि वहां कौन-कौन महारथी उपस्थित हैं। यद्यपि युद्धभूमि में किसी सन्धि प्रस्ताव की कोई सम्भावना नहीं थी, परन्तु उसे उनका पुनः निरीक्षण करना इष्ट था, यह देखने के लिए कि एक सर्वथा अवांछनीय युद्ध के लिए वे कितने उद्यत हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

योत्स्यमानान्=युद्ध करने वालों को; **अवेक्षे**=देखूंगा; **अहम्**=मैं; **ये**=जो; **एते**=ये सब; **अत्र**=यहाँ; **समागताः**=आए हैं;

धार्तराष्ट्रस्य=धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन का; दुर्बुद्धेः=दुर्बुद्धि; युद्धे=युद्ध में; प्रिय=मंङ्गल; चिकीर्षवः=चाहने वाले।

अनुवाद

तथा दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए युद्ध की इच्छा से यहां एकत्रित हुए योद्धाओं को मैं देखूंगा ॥ २३ ॥

तात्पर्य

यह सर्वविदित है कि दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र की सहायता से पापपूर्ण दुरभिसन्धियों के द्वारा पाण्डवों के राज्य का वलापहरण करना चाहता था। उसके समस्त पक्षपाती भी इसी प्रकृति के सिद्ध होते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अर्जुन उन्हें देखने का इच्छुक था, परन्तु उनसे शान्ति वार्ता की प्रस्तावना करने का उनका कोई अभिप्राय नहीं था। उनका अवलोकन कर वह उनके उस सैन्य-बल की गणना करना चाहता था, जिसका उसे सामना करना था। अन्यथा, स्वपक्ष मे भगवान् श्रीकृष्ण के होने से अपनी विजय के सम्बन्ध मे तो वह पूर्णतया विश्वस्त था ही।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; एवम्=इस प्रकार; उक्तः=कहे हुए; हृषीकेशः=भगवान् श्रीकृष्ण ने; गुडाकेशेन=अर्जुन द्वारा; भारत=हे भरतवंशी; सेनयोः=सेनाओ के; उभयो.=दोनों; मध्ये=मध्य में; स्थापयित्वा=खड़ा करके; रथोत्तमम्=उस उत्तम रथ को।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किए जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनो सेनाओं के मध्य मे स्थापित किया ॥ २४ ॥

तात्पर्य

इस श्लोक में अर्जुन को 'गुडाकेश' कहा गया है। 'गुडाका' का सामान्य अर्थ निद्रा है। अतएव निद्रा-विजयी को 'गुडाकेश' कहते हैं। निद्रा का अर्थ अज्ञान भी है। श्रीकृष्ण से अर्जुन का सख्य भाव था। इसके परिणामस्वरूप उसको अज्ञान तथा निद्रा, दोनों पर विजय प्राप्त हुई। भक्त के स्वभाव के अनुरूप अर्जुन को क्षण-मात्र के लिए भी श्रीकृष्ण का विस्मरण नहीं होता था। भगवद्भक्त जागृत अथवा सुप्त— किसी भी अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, लीला एवं गुणादि के चिन्तन आदि से विमुख नहीं होता, क्योंकि यह उसके लिए सर्वथा असह्य है। श्रीकृष्ण के निरन्तर चिन्तन के प्रभाव से निद्रा और अज्ञान— दोनों पर विजय प्राप्त करने में भक्त पूर्णतः सक्षम हो जाता है। श्रीकृष्ण की सतत स्मृति को ही कृष्णभावनामृत अथवा समाधि कहते हैं। हृषीकेश अर्थात् जीव-मात्र के मन एवं इन्द्रियों के नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के मध्य रथ-स्थापन कराने में, अर्जुन के अभिप्राय को जानते थे। अतएव उन्होंने ऐसा ही किया और ये वचन कहे।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म=भीष्म पितामह; **द्रोण**=द्रोणाचार्य के; **प्रमुखतः**=सामने; **सर्वेषाम्**=सब; **च**=तथा; **महीक्षिताम्**=विश्व के नरपतियों के; **उवाच**=कहा; **पार्थ**=हे अर्जुन; **पश्य**=देख, **एतान्**=इन; **समवेतान्**=एकत्र हुए; **कुरून्**=कौरवों को; **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

भीष्म, द्रोण और विश्व के अन्य सभी राजाओं के सामने भगवान् हृषीकेश ने कहा कि हे पार्थ ! यहां एकत्रित हुए इन कौरवों को देख। ॥ २५ ॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण, जो जीव-मात्र के अन्तर्यामी हैं, अर्जुन की मनः

स्थिति को समझ गए। इस संदर्भ में 'हृषीकेश' शब्द उनकी सर्वज्ञता का द्योतक है तथा अर्जुन के लिए प्रयुक्त 'पार्थ' शब्द अर्थात् 'कुन्तीपुत्र' भी इसी प्रकार सारगर्भित है। श्रीकृष्ण अपने सखा को यह अभिसूचित करना चाहते थे कि उन्होंने उसका सारथ्य इसीलिए स्वीकार किया, कि वह उनकी बुआ कुन्ती का पुत्र है। परन्तु 'कौरवों का अवलोकन करें'— यह कहने से श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय था ? क्या अर्जुन युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था? श्रीकृष्ण को बुआ कुन्ती के आत्मज से ऐसी आशा नहीं थी। इस विधि से मित्रोचित परिहास में भगवान् ने अर्जुन की मनःस्थिति की पूर्वसूचना दी है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥२६॥

तत्र=वहाँ; अपश्यत्=देखा; स्थितान्=स्थित हुए, पार्थः= अर्जुन ने; पितॄन्=पितृ-तुल्य गुरुजनों; अथ=तथा; पितामहान्= पितामहों को; आचार्यान्=आचार्यों को; मातुलान्=मामाओं को; भ्रातॄन्=भाइयों को; पुत्रान्=पुत्रों को; पौत्रान्=पौत्रों को; सखीन्=सखाओं को; तथा=और; श्वसुरान्=श्वसुरों को, सुहृदःच= और हितैषियों को; एव=भी, सेनयोः=सेनाओं में; उभयोःअपि= दोनों ही।

अनुवाद

अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पितृतुल्य गुरुजनों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों और सुहृदों को भी देखा॥ २६॥

तात्पर्य

अर्जुन को युद्ध-भूमि में सभी सम्बन्धियों का दर्शन हुआ। उसने पितृ-तुल्य भूरिश्रवा आदि, पितामह भीष्म एवं सोमदत्त, आचार्य द्रोण तथा कृप, शल्य और शकुनी प्रभृति मामा, दुर्योधन आदि भाइयों, लक्ष्मण इत्यादि

पुत्रों, अश्वत्थामा आदि मित्रों तथा कृतवर्मा आदि सुहृदों का अवलोकन किया। उसने उन संकुलों को भी देखा, जिनमें उसके मित्र थे।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तान्=उन; **समीक्ष्य**=देखकर; **सः**=वह; **कौन्तेयः**=कुन्तीपुत्र अर्जुन; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **बन्धून्**=बन्धुओं को; **अवस्थितान्**=खड़े हुए; **कृपया**=दया से; **परया**=अत्यन्त; **आविष्टः**=अभिभूत होकर; **विषीदन्**=शोक करता हुआ; **इदम्**=इस प्रकार; **अब्रवीत्**=बोला।

अनुवाद

बन्धु-बान्धवों के इन विविध वर्गों को देखकर करुणा से अत्यन्त आक्रान्त हुआ अर्जुन इस प्रकार बोला ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **दृष्ट्वा**=देखकर; **इमम्**=इस; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **युयुत्सुम्**=युद्ध की इच्छा से; **समुपस्थितम्**=खड़े हुए; **सीदन्ति**=शिथिल हो रहे हैं; **मम**=मेरे; **गात्राणि**=शरीर के अंग; **मुखम्**=मुख; **च**=भी; **परिशुष्यति**=सूखा जाता है।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! युद्ध के लिए सम्मुख खड़े हुए इस स्वजन-समुदाय को देख कर मेरे शरीर के अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है ॥२८॥

तात्पर्य

यथार्थ भगवद्भक्त सम्पूर्ण दैवी गुणावली से नित्य युक्त रहता है, जबकि विद्या एवं सभ्यता की प्राकृत योग्यताओं में कितनी भी प्रगति

कर लेने पर अभक्त मे दैवी गुणों का आत्यन्तिक अभाव ही रहता है। इस कारण, युद्ध-भूमि में बन्धु-बांधवों का अवलोकन करते ही अर्जुन उन परस्पर युद्ध की इच्छा वालों पर दयार्द्र हो उठा। अपने सैनिकों के प्रति तो उसकी सहानुभूति पूर्व से ही थी, अब शत्रु-पक्ष के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखते हुए वह उन पर भी द्रवित हो गया। निकटवर्ती महाविनाश की कल्पना करते हुए, उसके अंगों मे कम्प होने लगा और मुख भी सूख गया। वहां समवेत हुए योद्धाओं की युद्ध-भावना को देख-कर उसे विस्मय हुआ। प्राय सम्पूर्ण कुल, सभी कुटुम्बी उससे युद्ध करने आए थे। इससे दयामय भक्त अर्जुन करुणा से द्रवित हो गया। यद्यपि यहां उल्लेख नहीं है, परन्तु यह सहज अनुमान का विषय है कि अर्जुन के मुख का सूखना और अङ्गो में कम्पन ही नहीं हो रहा था, वह दयाजन्य अश्रु-विमोचन भी कर रहा था। उसमे इन लक्षणों के प्रादुर्भाव का कारण दौर्बल्य न होकर दयार्द्रता है, जो शुद्ध भगवद्भक्त का प्रधान लक्षण है। इसी हेतु श्रीमद्भागवत में उल्लेख है।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

(श्रीमद्भागवत ५. १८. १२)

भगवान् श्रीकृष्ण के निष्किंचन भक्त में सभी दैवी गुणों का नित्य निवास रहता है। किन्तु अभक्त में केवल तुच्छ प्राकृत गुण ही रहते है, क्योंकि मनोरथों के पीछे धावन करते रहने से वह निश्चय ही माया के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते॥ २९॥

वेपुथः=कम्प; च=तथा; शरीरे=शरीर मे; मे=मेरे; रोमहर्षः=रोमांच; च=भी; जायते=होता है; गाण्डीवम्=गाण्डीव धनुष; स्रंसते=गिरता है; हस्तात्=हाथ से; त्वक् च एव=त्वचा भी; परिदह्यते=जलती है।

अनुवाद

मेरे सम्पूर्ण शरीर में कम्प तथा रोमांच हो रहा है; गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जा रहा है तथा त्वचा भी जलतीहै ॥२९॥

तात्पर्य

शरीर में कम्प तथा रोमांच की अभिव्यक्ति भगवद्-भाव में विभोरता अथवा भवबंधन में महाभय की प्राप्ति होने पर होती है। भगवत्-प्राप्ति के अनन्तर भय शेष नहीं रहता। अतः इस समय में अर्जुन में ये लक्षण प्राण-हानि के प्राकृत भयवश उत्पन्न हुए हैं। अन्य लक्षणों से भी यह स्पष्ट है। वह इतना अधीर हो गया कि उसका त्रिभुवन-विश्रुत गाण्डीव धनुष भी उसके हाथ से गिरा जा रहा था तथा आन्तरिक दाह के कारण उसे अपनी त्वचा भी जलती प्रतीत हो रही थी। ये सब लक्षण देहात्म-बुद्धि के परिणाम हैं।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥३०॥

न च शक्नोमि=और न ही मैं समर्थ हूं; **अवस्थातुम्**=स्थित रहने में; **भ्रमति इव**=भ्रमित सा हो रहा है; **च**=तथा; **मे**=मेरा; **मनः**=मन; **निमित्तानि च**=लक्षणों को भी; **पश्यामि**=देखता हूं; **विपरीतानि**=विपरीत; **केशव**=हे केशव।

अनुवाद

यहां और अधिक खड़े रहने में भी मैं समर्थ नहीं हूं, क्योंकि अपने को ही भूलता जा रहा हूं तथा मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। हे केशव! भविष्य में भी मुझे केवल अमंगल ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ३० ॥

तात्पर्य

अति अधीर होने से अर्जुन युद्ध-भूमि में स्थित रहने में भी असमर्थ हो गया। यही नहीं, मन की दुर्बलतावश उसे अपना ही विस्मरण होता

जा रहा था। प्राकृत वस्तुओं के लिए अत्यधिक आसक्ति मनुष्य को जीवन की मोहमय स्थिति में पहुँचा देती है। 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः' जो व्यक्ति प्राकृत परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित रहते हैं उन में ही ऐसा भय तथा अभिनिवेश होता है। अर्जुन को युद्ध भूमि में केवल दुःख की ही प्रतीति हो रही थी, मानो शत्रु विजय करने पर भी वह प्रसन्न नहीं हो सकेगा। 'निमित्त' शब्द अर्थपूर्ण है। निराशा ही निराशा देखने पर मनुष्य विचार करता है, 'मैं यहाँ क्यों हूँ?' वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने में तथा अपने स्वार्थ में ही रुचि रखता है। परम-पुरुष श्रीकृष्ण में तो किसी की भी रुचि नहीं है। अर्जुन से यह अपेक्षा थी कि वह स्वार्थ की उपेक्षा कर भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा का अनुसरण करेगा, जो प्राणीमात्र के वास्तविक स्वार्थ हैं। इस सत्य को भुला देने के कारण ही बद्धजीव सांसारिक दुःख भोगता है। अर्जुन का विचार था कि युद्ध में उसकी विजय भी उसके लिए शोक का ही कारण सिद्ध होगी।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

न—न; च श्रेयः—कल्याण ही; अनुपश्यामि—देखता हूँ; हत्वा—मार कर; स्वजनम्—अपने कुल को, आहवे—युद्ध में; न—नहीं; काङ्क्षे—चाहता; विजयम्—विजय, कृष्ण—हे कृष्ण, न च—और न ही, राज्यम्—राज्य; सुखानि च—और सुख।

अनुवाद

युद्ध में स्वजनों का वध करने से मुझे कुछ भी श्रेय-प्राप्ति होती दिखाई नहीं देती, और न ही हे गोविन्द! मुझे युद्ध से प्राप्त होने वाले विजय, राज्य अथवा सुख की इच्छा है ॥ ३१ ॥

तात्पर्य

यह जाने बिना कि उनका वास्तविक स्वार्थ भगवान् श्रीविष्णु(श्रीकृष्ण) में सन्निहित है, सुखों की कामना से प्रेरित हुए बद्ध जीव दैहिक सम्बन्धों में ही आसक्त रहते हैं। वे मोहवश भूल जाते हैं कि प्राकृत-सुख के स्रोत

भी श्रीकृष्ण हैं। प्रतीत होता है कि अर्जुन को तो क्षात्र-धर्म का भी विस्मरण हो गया है। शास्त्र के अनुसार दो प्रकार के व्यक्ति ही जाज्वल्यमान सूर्य-मण्डल में प्रविष्ट होने के योग्य हैं—श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुए क्षत्रिय तथा पूर्णतः भगवद्भक्ति-परायण सन्यासीगण। अर्जुन तो सम्बन्धियों को ही नहीं, अपने शत्रुओं को भी मारने से पराङ्-मुख हो रहा है। उसका विश्वास है कि बान्धवों का वध करने से उसके जीवन में सुख का आत्यन्तिक अभाव हो जायगा। अतः वह युद्ध नहीं करना चाहता, उसी भांति जैसे तृप्त व्यक्ति भोजन बनाने में प्रवृत्त नहीं होता। वरन्, उसने वन-गमन करके एकान्त में नैराश्य-पूर्ण जीवन-यापन करने का निश्चय किया है। क्षत्रिय होने के कारण अपने निर्वाह के लिए उसे एक राज्य की आवश्यकता थी, क्योंकि क्षत्रियों के लिए अन्य कोई कार्य उचित नहीं है। किन्तु अर्जुन का तो कोई राज्य नहीं था। उसके लिए राज्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन भाइयों से युद्ध कर अपना पैतृक राज्य पुनः हस्तगत करना है। परन्तु ऐसा करना उसे अभीष्ट नहीं है। अतः वह अपने को वन में जाकर निराशामय एकान्त-वास करने के योग्य समझता है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥ ३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥ ३३
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥ ३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥ ३५॥

किम्=क्या (प्रयोजन है); **नः**=हमें; **राज्येन**=राज्य से; **गोविन्द**=हे गोविन्द; **किम्**=क्या; **भोगैः**=भोगों से; **जीवितेन**=जीवन से; **वा**=अथवा; **येषाम् अर्थे**=जिन के लिए; **काङ्क्षितम्**=इच्छित हैं; **नः**=हमें; **राज्यम्**=राज्य; **भोगाः**=विषय सुख; **सुखानि**=समस्त सुख; **च**=तथा;

ते=वे ही; इमे=यह सब; अवस्थिताः=स्थित हैं; युद्धे=युद्ध में; प्राणम्=जीवन; त्यक्त्वा=त्याग कर; धनानि=वैभव को; च=तथा; आचार्याः=आचार्य; पितरः=पितृ-तुल्य; पुत्राः=पुत्र; तथा=और; एव=निश्चय ही; च=तथा; पितामहाः=पितामह; मातुलाः=मामा; श्वसुराः=ससुर; पौत्राः=पौत्र; श्यालाः=साले; सम्बन्धिनः=सम्बन्धी; तथा=तथा; एतान्=इन्हें; न=नहीं; हन्तुम्=मारना; इच्छामि=चाहता; घ्नतः=मारने पर; अपि=भी; मधुसूदन=हे कृष्ण; अपि=भी; त्रैलोक्य=त्रिभुवन के; राज्यस्य हेतोः=राज्य के लिए; किम् नु=कहना ही क्या है; महीकृते=पृथ्वी के लिए तो; निहत्य=मारकर; धार्तराष्ट्रान्=धृतराष्ट्र के पुत्रों को; नः=हमें; का=क्या; प्रीतिः=प्रसन्नता; स्यात्=होगी; जनार्दन=हे सब जीवों का पालन करने वाले श्रीकृष्ण।

अनुवाद

हे गोविन्द ! हमें राज्य, सुख अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन, क्योंकि जिनके लिए हमें ये पदार्थ वांछित हैं, वे ही इस युद्ध में खड़े हैं। हे मधुसूदन ! गुरुजन, पितृजन, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी भी धन तथा जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में मेरे समक्ष खड़े हैं। अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी उनके वध की इच्छा मैं नहीं कर सकता। हे जनार्दन ! त्रिभुवन के राज्य के लिए भी मैं इन स्वजनों से युद्ध नहीं करना चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ॥ ३२-३५ ॥

तात्पर्य

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को 'गोविन्द' कहा है, क्योंकि वे गायों तथा इन्द्रियों को समग्र रसानन्द का परिवेषण कराते हैं। इस शब्द के प्रयोग से अर्जुन ने यह संकेत किया है कि उसकी इन्द्रियां किस प्रकार तृप्त हो सकती हैं। वस्तुतः श्रीगोविन्द का कार्य हमारी इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, किन्तु यदि हम उनकी इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करें तो हमारी इन्द्रियां स्वयमेव परितृप्त हो जायेंगी। विषय भोग द्वारा निजेन्द्रिय तृप्ति करने की वांछा से प्रेरित हुआ जीव साधारणतया भगवान् को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाना चाहता है। श्रीभगवान्

जीवों की इन्द्रियों को यथायोग्य तृप्त करते भी हैं, पर उनकी इच्छानुसार नहीं। इसके विपरीत, जो भक्त निजेन्द्रिय-तृप्ति की वांछा से मुक्त होकर श्रीगोविन्द की इन्द्रियों को ही परितृप्त करने में संलग्न रहते हैं भगवत्कृपा से उनकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। कुटुम्ब और बान्धवों के प्रति अर्जुन का प्रगाढ़ स्नेह है—उनके लिए उसकी स्वाभाविक करुणा के रूप में यह सत्य यहां आंशिक रूप से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि वह युद्ध से पराङ्मुख हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य अपने वैभव का बन्धु-बान्धवों के सम्मुख प्रदर्शन करना चाहता है, किन्तु अर्जुन को भय है कि उसके समस्त बांधव युद्ध में मारे जायेंगे, जिससे विजय के उपरान्त वह अपने वैभव का उन के साथ उपभोग नहीं कर सकेगा। विषयी मनुष्य ऐसा ही सोचता है। किन्तु पारमार्थिक जीवन का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। भक्त को केवल भगवद्-इच्छा की तृप्ति ही वांछित रहती है। अतः भगवद्-इच्छा होने पर वह भगवत् सेवा के लिये सारा वैभव स्वीकार कर सकता है; और श्रीभगवान् की इच्छा न होने पर उसे तृण भी स्वीकार नहीं करना चाहियें। अर्जुन को स्वजन-वध करना अभीष्ट नहीं। यदि उनके वध की कोई आवश्यकता हो तो श्रीकृष्ण स्वयं उनका वध करें, ऐसा उनका उद्गार था। सम्प्रति, उसे यह ज्ञात नहीं है कि उनके युद्ध भूमि में आने से पूर्व ही श्रीकृष्ण उनका वध कर चुके हैं, उसे तो केवल निमित्त मात्र बनना है। इस रहस्य का उद्घाटन अनुवर्ती अध्यायों में होगा। स्वभावसिद्ध भक्त अर्जुन को अपने अत्याचारी भाइयों का भी प्रतिकार करना अप्रिय लग रहा था, किन्तु श्रीभगवान् की योजना थी कि उन सबका वध हो। भगवद्भक्त पापाचारियों का भी प्रतिकार नहीं करता, परन्तु श्रीभगवान् को दुष्टों द्वारा भक्त का उत्पीड़न सहन नहीं होता। वे अपने अपराधी को तो क्षमा कर सकते हैं किन्तु भक्त का अपराधी उनके लिए कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। इसी कारण, यद्यपि अर्जुन दुष्टों को क्षमा करना चाहता है, पर भगवान् श्रीकृष्ण उनके वध के लिए कृतसंकल्प हैं।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३६॥

पापम्=पाप को; एव=ही; आश्रयेत्=प्राप्त होंगे; अस्मान्=हम; हत्वा=मारकर; एतान्=इन; आततायिनः=आततायियों को; तस्मात्=अतः; न अर्हाः=योग्य नहीं है; वयम्=हम; हन्तुम्=मारने को; धार्तराष्ट्रान्=धृतराष्ट्र-पुत्रों को; स्वबान्धवान्=अपने बन्धु स्वजनम्=बन्धुओं को; हि=क्योंकि; कथम्=कैसे; हत्वा=मार कर; सुखिनः=सुखी; स्याम=होंगे; माधव=हे लक्ष्मी पति कृष्ण।

अनुवाद

ऐसे आततायियों का वध करने से भी हम पाप को ही प्राप्त होंगे। इसलिए अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों की हत्या करना हमारे योग्य नहीं है। हे माधव! स्वजनों के वध से हमें क्या लाभ होगा; ऐसा करने से हम किस प्रकार सुखी होंगे ? ॥ ३६ ॥

तात्पर्य

वैदिक विधान के अनुसार आततायी छह प्रकार के होते हैं—(१) विष देने वाला, (२) घर में अग्नि लगाने वाला, (३) शस्त्र से आक्रमण करने वाला, (४) धन अपहरण करने वाला, (५) दूसरे की भूमि पर अधिकार करने वाला तथा (६) स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियों का अविलम्ब वध कर देना चाहिये, इससे किंचित् भी पाप नहीं लगता। इस प्रकार आततायी को मारना साधारण मनुष्य के सर्वथा योग्य है, किन्तु अर्जुन तो साधारण व्यक्ति नहीं था। सन्त स्वभाव से युक्त होने के कारण वह उनके साथ सन्तोचित व्यवहार करना चाहता था। परन्तु ऐसा सन्तत्त्व क्षत्रिय के लिए उचित नहीं। भाव यह है कि प्रशासन के उत्तरदायी अधिकारी को सन्त स्वभाव वाला तो होना चाहिए, पर भीरु नहीं। उदाहरणार्थ, भगवान् राम इतने साधु थे कि जनता उनके राम-राज्य में रहने के लिए आतुर थी, फिर भी श्री राम ने भीरुता का प्रदर्शन कभी नहीं किया। अपनी धर्मपत्नी सीता का अपहरण करने वाले आततायी रावण को उन्होंने ऐसा समुचित दण्ड दिया, जो विश्व-इतिहास में अद्वितीय है। किन्तु अर्जुन के संदर्भ में आततायी थे उनके अपने पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र आदि। अतएव अर्जुन ने निश्चय किया कि साधारण आततायी के समान उन्हें भी घोर

दण्ड देना उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, सत्पुरुषों के लिए क्षमा-दान का आदेश है और ऐसा शास्त्रीय विधान राजनीतिक अनिवार्यता से अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए उसने विचार किया कि राजनीतिक कारणों से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म और सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा करना अधिक श्रेष्ठ होगा। अतएव क्षणिक दैहिक सुख के लिए ऐसी हत्या करना उसे श्रेयस्कर प्रतीत नहीं हुआ। अन्ततः जब राज्य तथा उससे प्राप्त होने वाला सुख भी नित्य नहीं है, तो स्वजनों का वध कर अपने जीवन एवं शाश्वत् मुक्ति को वह संकट में क्यों डाले? अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण को 'माधव' अर्थात् श्रीपति सम्बोधित करना भी इसी सन्दर्भ में अर्थ-संगत है। उन्हें अर्जुन को ऐसा कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए जिसके परिणाम में श्री-हानि हो। परन्तु भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, श्रीकृष्ण तो किसी का भी कदापि अनिष्ट नहीं करते।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

यद्यपि—यह माना कि; **एते**—ये; **न**—नहीं; **पश्यन्ति**—देखते हैं; **लोभ**—लोलुपता से; **उपहत**—अभिभूत हुए; **चेतसः**—चित्त वाले; **कुल-क्षय**—कुल-नाश; **कृत**—करने में; **दोषम्**—दोष को; **मित्र-द्रोहे**—मित्रों से द्रोह करने में; **च**—भी; **पातकम्**—पाप को; **कथम्**—क्यों; **न**—नहीं; **ज्ञेयम्**—विचार करना चाहिए; **अस्माभिः**—हमें; **पापात्**—पाप से; **अस्मात्**—इस; **निवर्तितुम्**—हटने के लिए; **कुल-क्षय**—कुल-नाश; **कृतम्**—करने से (होने वाले); **दोषम्**—अपराध को; **प्रपश्यद्भिः**—जानने वाले; **जनार्दन**—हे कृष्ण।

अनुवाद

हे जनार्दन! यद्यपि लोभ से भ्रष्ट-चित्त हुए ये लोग कुल-नाश करने में अथवा मित्र-द्रोह में कोई दोष नहीं देखते, किन्तु उस पाप को जानने वाले हम लोग इस कर्म में क्यों प्रवृत्त हों? ॥ ३७-३८ ॥

तात्पर्य

क्षत्रिय से युद्ध अथवा द्यूत के लिए शत्रु-पक्ष के निमन्त्रण को अस्वीकार करने की आशा नहीं की जाती। इस नियमानुरूप, दुर्योधन के दल द्वारा युद्ध के लिए ललकारे जाने पर अर्जुन युद्ध से उपरत नहीं हो सकता। इस संदर्भ में, अर्जुन का उद्गार है कि यद्यपि शत्रु-पक्ष ऐसी ललकार के परिणाम के प्रति अन्धा हो रहा है, किन्तु इसके अशुभ परिणाम को देखता हुआ वह स्वयं तो इस चुनौती को स्वीकार नहीं कर सकता। कर्तव्य वस्तुतः तभी बाध्य कर सकता है, जब परिणाम मंगलमय हो, अन्यथा नहीं। इन सभी परस्पर विरोधी तर्कों पर विमर्श कर अर्जुन ने युद्ध न करने का ही निश्चय किया।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

कुलक्षये=कुल का नाश होने से; **प्रणश्यन्ति**=नष्ट हो जाते हैं; **कुलधर्माः**=कुलधर्म; **सनातनाः**=सनातन; **धर्मे**=धर्म के; **नष्टे**=नष्ट होने से; **कुलम्**=कुल पर; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **अधर्म**=अधर्म; **अभिभवति**=अधिकार कर लेता है; **उत**=ऐसा कहा जाता है।

अनुवाद

कुल का नाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

तात्पर्य

वर्णाश्रम-व्यवस्था में ऐसे अनेक परम्परागत धार्मिक नियमों का समावेश है, जो सम्पूर्ण कुल के अभ्युदय तथा दैवी-गुण-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। कुल में जन्म से मृत्यु तक होने वाले इन शुद्धि-कृत्यों का दायित्व वयोवृद्धों पर रहता है। वृद्धों की मृत्यु होने पर कुल के ऐसे पारम्परिक शुद्धि-कृत्य विलुप्त हो सकते हैं, जिससे यह आशंका उपस्थित हो जाती है कि शेष बचे तरुण अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होकर मुक्ति

लाभ से वंचित न रह जायें। अतएव किसी भी निमित्त से कुल के वयोवृद्धों का वध करना योग्य नहीं है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४०॥

अधर्म=अधर्म के; अभिभवात्=बढ़ जाने से; कृष्ण=हे कृष्ण; प्रदुष्यन्ति=दूषित हो जाती हैं; कुलस्त्रियः=कुल की स्त्रियां; स्त्रिषु=स्त्रियों में; दुष्टासु=दोष होने से; वार्ष्णेय=हे वृष्णि वंशी; जायते=उत्पन्न होती हैं; वर्णसंकरः=अवाञ्छित सन्तान।

अनुवाद

हे कृष्ण! कुल में अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां भी दूषित हो जाती हैं हे वृष्णिवंशी ! इस प्रकार स्त्रियों के पतन से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है। ॥ ४० ॥

तात्पर्य

मानव-समाज में शान्ति, वैभव तथा परमार्थ का प्रधान आधार सदाचारी सन्तान है। वर्णाश्रम धर्म का इस प्रकार प्रणयन किया गया है जिससे कि भगवत्प्राप्ति के पथ में राज्य एवं समाज की उन्नति के लिए समाज में सदाचारी सन्तान का प्राधान्य रहे। ऐसी सन्तान का प्रादुर्भाव स्त्री वर्ण के सतीत्व तथा निष्ठा पर निर्भर करता है। जिस प्रकार बालक सुगमता से कुमार्ग पर चले जाते हैं, उसी भांति स्त्रियां भी अत्यधिक पतनोन्मुखी होती हैं। अतः दोनों बालक और स्त्रियों को कुल के वृद्धों का संरक्षण अपेक्षित है। विविध धार्मिक कृत्यों में तत्पर हुई स्त्रियां उपपतित्व के भ्रष्ट-पथ में प्रवृत्त नहीं होंगी। चाणक्य पंडित के अनुसार प्रायः अल्पज्ञ होने के कारण स्त्रियां अधिक विश्वसनीय नहीं होती। अतएव उन्हें धार्मिक कृत्यों के विविध कुलधर्मों में नित्य संलग्न रहना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप उनकी भक्ति तथा सतीत्व से वर्णाश्रम धर्म के योग्य सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति होगी। वर्णाश्रम धर्म के विनाश से स्त्रियां स्वभावतः पराए पुरुषों से सम्बन्ध रखने में स्वतन्त्र हो जाती हैं। इस व्यभिचार से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है। दायित्वशून्य व्यक्ति भी

समाज में व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस प्रकार, अवांछनीय वर्ण-संकर मानवजाति को परिपूरित कर युद्ध, महामारी तथा महाविनाश की विपदा उपस्थित कर देते हैं।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥

संकरः=ऐसी अवाञ्छित सन्तान; नरकाय=नरक में ले जाने के लिए; एव=ही (होती है); कुलघ्नानाम्=कुलघातियों को; कुलस्य=कुल को; च=भी; पतन्ति=गिर जाते हैं; पितरः=पितर; हि=भी; एषाम्=इनके; लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः=लोप हुई पिण्डोदक क्रिया वाले।

अनुवाद

वर्णसंकरों की वृद्धि से सम्पूर्ण कुल का और कुलघातियों को भी नरक की प्राप्ति होती है। ऐसे पतित कुलों में पितरों के निमित्त से की जाने वाली पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाता है, जिससे पितर भी गिर जाते हैं॥ ४१ ॥

तात्पर्य

सकाम कर्मों के विधि-विधान के अनुसार, कुल के पितरों के निमित्त नियमित रूप से पिण्डोदक अर्पण करना आवश्यक है। यह अर्पण विष्णु-आराधना सहित किया जाता है, क्योंकि श्री विष्णु को अर्पित अन्न का भोजन सब प्रकार के पाप-बन्धनों से मुक्त कर देता है। पाप-कर्मवश पितरों को विभिन्न पाप-कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं कुछ को तो स्थूल-प्रकृत-देह की प्राप्ति भी नहीं होती, जिससे प्रेत-योनि के सूक्ष्म शरीर में ही रहने को वे बाध्य हो जाते हैं। ऐसे में वंशजों से प्रसाद का अवशिष्ट अंश प्राप्त करके ये पितर प्रेत आदि दुर्गतिमय योनियों से मुक्त हो जाते हैं। इस विधि से पितरों की सहायता करना कुलधर्म है और जो भक्ति के परायण नहीं हैं वे तो इन कृत्यों का अनुष्ठान अवश्य ही करें। भक्तिनिष्ठ उत्तम भक्त के लिए ये आवश्यक नहीं हैं। केवल भगवद्भक्ति ही सहस्रों पितरों को सर्वविध

दुर्गतियों से पूर्णतया मुक्त करने में पूर्ण समर्थ है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है :

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(भा० ११.५.४१)

जो पुरुष अन्य सब कर्त्तव्यों को त्याग कर दृढ़तापूर्वक मुक्ति-दाता श्रीमुकुन्द की ही शरण ग्रहण कर लेता है, उसका देवताओं, ऋषियों, समस्त प्राणियों, स्वजनों, मानव समाज और पितरों के प्रति कोई कर्त्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से सभी ऋणों का स्वतः विमोचन हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४२॥

दोषैः=दोषों से; **एतैः**=इन; **कुलघ्नानाम्**=कुलघातियों के; **वर्णसंकरकारकैः**=अवाञ्छित सन्तान करने वाले; **उत्साद्यन्ते**=नष्ट हो जाते हैं; **जातिधर्माः**=जातिधर्म; **कुलधर्माः**=कुलधर्म; **च**=भी; **शाश्वताः**=सनातन।

अनुवाद

कुलघातियों के इन दोषों से सभी शाश्वत् जाति-धर्म तथा कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं॥ ४२॥

तात्पर्य

सनातन धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत मानव समाज के चार वर्णों तथा कुलधर्मों का प्रयोजन मानव को मुक्त कराना है। अतः जब समाज के अनुत्तरदायी लोकनायक सनातन-धर्म-परम्परा को विखण्डित कर देते हैं तो समाज में विप्लव हो जाता है, जिससे जनता को जीवन के लक्ष्य—श्रीविष्णु का विस्मरण हो जाता है। ऐसे लोकनायक वस्तुतः

नेत्रहीन हैं और उनके अनुगामी भी पथभ्रष्ट होकर निश्चित विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

उत्सन्न=नष्ट हुए; कुलधर्माणाम्=कुलधर्म वाले; मनुष्याणाम्=मनुष्यों का; जनार्दन=हे कृष्ण; नरके=नरक में; अनियतम्=नित्य; वासः=निवास; भवति=होता है; इति=इस प्रकार; अनुशुश्रुम=मैंने शिष्य परम्परा से श्रवण किया है।

अनुवाद

हे जनार्दन ! गुरु परम्परा से मैंने श्रवण किया है कि कुलधर्म का विनाश करने वालों का नित्य नरक में ही वास होता है ॥ ४३ ॥

तात्पर्य

अर्जुन अपने अनुभव की अपेक्षा परम्परागत आचार्यों से उसने जो कुछ श्रवण किया है, उसी के आधार पर तर्क कर रहा है। इस श्रौत-परम्परा से ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानी सत्पुरुष की सहायता के बिना उस ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। वर्णाश्रम धर्म की एक पद्धति के अनुसार मृत्यु से पूर्व पाप-कर्म के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है। पापात्मा मनुष्य इसका उपयोग अवश्य करे। ऐसा न करने पर, पाप-कर्मवश नारकीय लोकों की दुर्गतिमय योनियों में उस का निश्चित रूप से अधः पतन होगा।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

अहः=अहो; बत=आश्चर्य है कि; महत्=महान्; पापम्=पाप कर्म; कर्तुम्=करने को; व्यवसिताः=तत्पर हैं; वयम्=हम; यत्=जिस से; राज्य-सुखलोभेन=राज्य और सुख के लोभ से; हन्तुम्=मारने के

लिए; **स्वजनम्**=अपने कुल को; **उद्यताः**=उद्यत हुए हैं।

अनुवाद

अहो! यह कितना आश्चर्यजनक है कि राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनवध रूप महान् पाप कर्म करने को उद्यत हुए हैं ॥ ४४ ॥

तात्पर्य

स्वार्थ से प्रेरित हुआ मनुष्य अपने भाई, पिता अथवा माता के वध रूपी जघन्य पाप-कर्म में भी प्रवृत्त हो सकता है। विश्व इतिहास में ऐसे प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। सन्त तथा भक्त के स्वभाव से युक्त होने के कारण अर्जुन सदाचार का स्मरण रखते हुए ऐसी क्रिया न करने में सावधान है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

यदि=यदि; **माम्**=मुझ; **अप्रतीकारम्**=सामना न करने वाले; **अशस्त्रम्**=शस्त्र रहित; **शस्त्रपाणयः**=शस्त्रधारी; **धार्तराष्ट्राः**=धृतराष्ट्र के पुत्र; **रणे**=युद्ध में; **हन्युः**=मारें; **तत्**=वह; **मे**=मेरे लिए; **क्षेमतरम्**=श्रेयस्कर; **भवेत्**=होगा।

अनुवाद

धृतराष्ट्र-पुत्रों से युद्ध करने की अपेक्षा यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को वे रण में मारें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४५ ॥

तात्पर्य

क्षात्र-युद्ध-नियमों के अनुसार यह परम्परा है कि जो शस्त्ररहित है अथवा युद्ध से पराङ्मुख हो गया है, उस शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। किन्तु अपनी दुर्बोध स्थिति को देखते हुए अर्जुन ने निर्णय किया कि शत्रु का आक्रमण होने पर भी वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस तथ्य

को महत्त्व नहीं दिया कि शत्रु पक्ष युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों कारण है उसके हृदय में भक्ति योग से उत्पन्न हुई दयार्द्रता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४६॥

सञ्जयः उवाच = सञ्जय ने कहा; एवम् = इस प्रकार; उक्त्वा = कहकर; अर्जुनः = अर्जुन; सङ्ख्ये = युद्धभूमि में, रथ = रथ पर, उपस्थः = स्थित हुआ; उपाविशत् = पुनः बैठ गया; विसृज्य = त्यागकर, सशरम् = बाण सहित; चापम् = धनुष को, शोकसंविग्नमानसः = शोक से व्याकुल मन वाला।

अनुवाद

संजय ने कहा, रणभूमि में इस प्रकार कहकर शोक से व्याकुल चित्त वाला अर्जुन बाण सहित धनुष को त्याग कर रथ में बैठ गया॥ ४६॥

तात्पर्य

शत्रु-स्थिति का निरीक्षण करते समय अर्जुन अपने रथ पर खड़ा हुआ था। परन्तु वह शोक से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि धनुष-बाण को एक ओर रख कर रथ में पुनः बैठ गया। इस प्रकार का भगवद् भक्ति-परायण दयार्द्र पुरुष निश्चय ही आत्म-ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के योग्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुन
विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये प्रथमोऽध्यायः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः



सांख्ययोग

(गीता के प्रतिपाद्य तत्त्व का सारांश)

सञ्जय उवाच ।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; तम्=उस (अर्जुन) के प्रति तथा=इस प्रकार से; कृपया=करुणा से; आविष्टम्=अभिभूत; अश्रुपूर्ण=अश्रुओं से परिपूर्ण; आकुल=व्याकुल; ईक्षणम्=नेत्र वाले; विषीदन्तम्=शोकमग्न; इदम्=यह; वाक्यम्=वचन; उवाच=कहा; मधुसूदन=श्रीकृष्ण ने ।

अनुवाद

संजय ने कहा, उस शोक मग्न और आंसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन से भगवान् श्रीमधुसूदन ने यह वचन कहा ॥१॥

तात्पर्य

सांसारिक करुणा, शोक तथा अश्रुविमोचन—ये लक्षण उसी में प्रकट होते हैं, जो आत्मा के तत्त्व को नहीं जानता। शाश्वत् आत्मा के लिए दया-भाव ही स्वरूप की अनुभूति है। इस श्लोक में प्रयुक्त 'मधुसूदन' शब्द गूढ़ अर्थ रखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मधु दैत्य का वध किया था। इसलिए अर्जुन की वांछा है कि उसे अभिभूत करने वाले अज्ञान रूपी दैत्य का भी वे विनाश करें, जो उसके कर्तव्य-कर्म के मार्ग में बाधा उपस्थित कर रहा है। करुणा का प्रयोग कहां करना उचित है, यह कोई नहीं जानता। डूबते मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा करना बुद्धिहीनता होगी; स्थूल पांचभौतिक देह रूपी बाह्य परिधान की रक्षा करने से अज्ञान सागर में पतित हुए जीव को बचाया नहीं जा सकता। ऐसा न जानकर जो बाह्य परिधान के लिए शोक करता है, वह शूद्र है। अर्जुन तो क्षत्रिय था, इसलिए ऐसा व्यवहार उसके योग्य नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञानी जीव के शोक का व्यवच्छेदन करने में पूर्ण समर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने भगवद्गीता का उपदेश किया। इस अध्याय में परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राकृत देह तथा आत्मा के तात्त्विक अध्ययन के द्वारा स्वरूप-प्राप्ति करने की शिक्षा दी है। अपने यथार्थ स्वरूप की दृढ़ धारणा में स्थित होकर कर्म करने से यह अनुभूति सम्भव हो जाती है।

श्रीभगवानुवाच।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् उवाच=भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा; **कुतः**=किस कारण से; **त्वा**=तुझे; **कश्मलम्**=अज्ञान; **इदम्**=यह; **विषमे**=इस विषम स्थिति में; **समुपस्थितम्**=प्राप्त हुआ; **अनार्य**=जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को न जानने वालों द्वारा; **जुष्टम्**=आचरित; **अस्वर्ग्यम्**=उच्च लोकों

भक्त ही सर्वोच्च ज्ञानी है। सूर्य ज्योति, सूर्य मण्डल तथा अन्तरंग सूर्य-लोक को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। तथापि इन तीनों पक्षों के विद्यार्थी एक श्रेणी में नहीं आते।

संस्कृत शब्द 'भगवान्' की विवेचना व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने की है। समग्र श्री, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष को 'भगवान्' कहते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो अत्यन्त धनी, वीर्यवान्, सुन्दर, यशस्वी, विद्वान् और त्यागी हैं। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वह समग्र श्री, वीर्य आदि से युक्त है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही यह उद्घोष करने में समर्थ हैं, अतएव वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं। ब्रह्मा, शिव तथा नारायण सहित कोई भी जीव श्रीकृष्ण के समान पूर्ण षडैश्वर्यवान् नहीं। अतः 'ब्रह्म संहिता' में स्वयं ब्रह्मा जी ने यह निर्णय किया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनसे अधिक अथवा उनके समान कोई नहीं है, वे आदिपुरुष गोविन्द सब कारणों के परम कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

'अनेक पुरुष दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु अनुपमेय होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण परमोत्तम हैं। वे परम पुरुष हैं; उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे आदि-पुरुष गोविन्द ही सर्व कारणों के कारण हैं।' (ब्रह्म संहिता)

श्रीमद्भागवत में भी विविध भगवत्-अवतारों का उल्लेख है, परन्तु श्रीकृष्ण को सकल अवतारों का उद्गम, स्वयं भगवान् कहा गया है :

एत चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

'यहां वर्णित हुए सब अवतार श्रीभगवान् के अंश अथवा कला-स्वरूप हैं, परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं।' (श्रीमद्भागवत १.३.२८)

अस्तु, श्रीकृष्ण परमात्मा एवं निर्विशेष ब्रह्म के भी उद्गम परात्पर आदिपुरुष भगवान् हैं।

स्वयं भगवान् की उपस्थिति में अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य था; अतः श्रीकृष्ण ने 'कुतः' शब्द से विस्मय अभिव्यक्त किया है। 'आर्य संस्कृति' के सदस्य से यह आशा नहीं की जाती कि वह ऐसी पौरुषहीनता प्रकट करेगा। 'आर्य' शब्द जीवन की गरिमा को जानने वाले, भगवत्-परायण संस्कृति से युक्त पुरुषों के लिए प्रयुक्त होता है। विषयी नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भगवान् विष्णु की प्राप्ति करना है। प्राकृत जगत् के बाह्य-रूप से संमोहित होने के कारण वे मुक्ति-तत्त्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। भव-मुक्ति के ज्ञान से शून्य ऐसे व्यक्ति 'अनार्य' कहलाते हैं। क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से पराङ्मुख होकर अर्जुन अपने नियत कर्तव्य से च्युत हो रहा था। अतएव इस भीरुता को अनार्योचित कहा गया। ऐसी कर्तव्य-विच्युति भगवत्प्राप्ति एवं सांसारिक यश-उपलब्धि में सहायक नहीं होती, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वजनों के लिए अर्जुन की तथाकथित करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

क्लैब्यम्=नपुंसकता को; **मा स्म गमः**=मत प्राप्त हो; **न**=नहीं; **एतत्**=यह; **त्वयि**=तेरे; **उपपद्यते**=योग्य है; **क्षुद्रम्**=तुच्छ; **हृदय**=हृदय की; **दौर्बल्यम्**=दुर्बलता को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **उत्तिष्ठ**=खड़ा हो; **परंतप**=हे शत्रुओं का दमन करने वाले अर्जुन।

अनुवाद

हे पार्थ ! इस अपकर्षकारी नपुंसकता को मत प्राप्त हो। यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो॥ ३॥

तात्पर्य

यहाँ अर्जुन को 'पृथा-पुत्र' कहा गया है। पृथा अर्थात् कुन्ती

श्रीकृष्ण की बुआ थीं। इस सम्बन्ध से अर्जुन श्रीकृष्ण का स्वजन हुआ। जो क्षत्रिय ललकारे जाने पर भी युद्ध से विमुख हो जाता है, उसे तिरस्कार के रूप में 'क्षत्रिय-बन्धु' कहते हैं। इसी प्रकार असदाचारी ब्राह्मण 'द्विजबन्धु' कहलाता है। इस कोटि के क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अपने पिताओं के अयोग्य पुत्र हैं। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि अर्जुन 'क्षत्रियबन्धु' कहलाये। अर्जुन उनका परम अन्तरंग सखा था, इसी से रथ पर श्रीकृष्ण स्वयं उसका मार्ग-निर्देश कर रहे थे। इन गुणों के होते हुए भी यदि वह युद्धभूमि का परित्याग कर देता तो उसका अपयश ही होता। अतः श्रीकृष्ण ने कहा कि ऐसा व्यवहार उस (अर्जुन) के योग्य नहीं है। उत्तरस्वरूप अर्जुन कह सकता था कि परम पूज्य भीष्म तथा अन्य स्वजनों के प्रति विशाल हृदयता के कारण ही वह युद्ध से उपरत हो रहा है, किन्तु श्रीकृष्ण के मत में ऐसी उदारता आप्त-पुरुषों द्वारा प्रमाणित नहीं है। अतः श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष शिक्षा के अनुसार अर्जुन जैसे वीर पुरुष को इस प्रकार की उदारता अथवा तथाकथित अहिंसा का परित्याग कर देना चाहिए।

अर्जुन उवाच।
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **कथम्**=किस प्रकार; **भीष्मम्**=भीष्म का; **अहम्**=मैं; **सङ्ख्ये**=युद्ध में; **द्रोणम्**=द्रोण का; **च**=तथा; **मधुसूदन**=हे कृष्ण; **इषुभिः**=वाणों से; **प्रतियोत्स्यामि**=विरोध करूंगा; **पूजा अर्हौ**=पूज्य; **अरिसूदन**=हे अरिहन्ता।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा ! हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोणाचार्य आदि पर वाणों से प्रत्याक्रमण किस प्रकार कर सकता हूं, क्योंकि ये दोनों ही मेरे पूज्य हैं॥ ४॥

तात्पर्य

पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि आदरणीय वयोवृद्ध महानुभाव

नित्य पूज्यास्पद हैं। अतएव उनके आक्रमण करने पर प्रत्याक्रमण करना उचित नही। वृद्धों से वाचिक तर्क भी न करना सामान्य शिष्टाचार है। उनके निष्ठुर व्यवहार का भी निर्मम प्रतिकार उचित नही होता। तब अर्जुन के लिए उन पर प्रत्याक्रमण करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? क्या श्रीकृष्ण स्वयं अपने पितामह उग्रसेन अथवा गुरु सान्दीपनि मुनि पर आक्रमण कर सकते है? इस प्रकार अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष युद्ध करने के विरुद्ध अनेक तर्क उपस्थित किये।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

गुरुन्=गुरुजनों को; अहत्वा=न मार कर; हि=निश्चित रूप से; महानुभावान्=महानुभाव; श्रेयः=कल्याणकारी; भोक्तुम्=भोगना; भैक्ष्यम्=भिक्षा का अन्न; अपि=भी; इह=इस; लोके=इस लोक में; हत्वा=मारकर; अर्थ=लाभ; कामान्=मनोरथ; तु=तो; गुरून्=गुरुजनों को; इह=इस संसार मे; एव=ही; भुञ्जीय=भोगूगा; भोगान्=भोगों को; रुधिर=रक्त से; प्रदिग्धान्=कलंकित हुए।

अनुवाद

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा इस ससार में भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थ-लोलुप होने पर भी ये महानुभाव वरिष्ठ है। इनकी हत्या करने मे हमारे भोग भी रुधिर से कलंकित हो जायेगे ॥५॥

तात्पर्य

शास्त्र के अनुसार, जो विवेकशून्य गुरु निन्द्य कर्म मे प्रवृत्त हो उसका नि.संकोच त्याग कर देना चाहिए। दुर्योधन से प्राप्त आर्थिक सहायता के आधार पर भीष्म एवं द्रोण लौकिक दृष्टि से उसका पक्ष ग्रहण करने

श्रीकृष्ण की बुआ थीं। इस सम्बन्ध से अर्जुन श्रीकृष्ण का स्वजन हुआ। जो क्षत्रिय ललकारे जाने पर भी युद्ध से विमुख हो जाता है, उसे तिरस्कार के रूप में 'क्षत्रिय-बन्धु' कहते हैं। इसी प्रकार असदाचारी ब्राह्मण 'द्विजबन्धु' कहलाता है। इस कोटि के क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अपने पिताओं के अयोग्य पुत्र हैं। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि अर्जुन 'क्षत्रियबन्धु' कहलाये। अर्जुन उनका परम अन्तरंग सखा था, इसी से रथ पर श्रीकृष्ण स्वयं उसका मार्ग-निर्देश कर रहे थे। इन गुणों के होते हुए भी यदि वह युद्ध भूमि का परित्याग कर देता तो उसका अपयश ही होता। अतः श्रीकृष्ण ने कहा कि ऐसा व्यवहार उस (अर्जुन) के योग्य नहीं है। उत्तरस्वरूप अर्जुन कह सकता था कि परम पूज्य भीष्म तथा अन्य स्वजनों के प्रति विशाल हृदयता के कारण ही वह युद्ध से उपरत हो रहा है, किन्तु श्रीकृष्ण के मत में ऐसी उदारता आप्त-पुरुषों द्वारा प्रमाणित नहीं है। अतः श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष शिक्षा के अनुसार अर्जुन जैसे वीर पुरुष को इस प्रकार की उदारता अथवा तथाकथित अहिंसा का परित्याग कर देना चाहिए।

अर्जुन उवाच।
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **कथम्**=किस प्रकार; **भीष्मम्**=भीष्म का; **अहम्**=मैं; **सङ्ख्ये**=युद्ध में; **द्रोणम्**=द्रोण का; **च**=तथा; **मधुसूदन**=हे कृष्ण; **इषुभिः**=बाणों से; **प्रतियोत्स्यामि**=विरोध करूंगा; **पूजा अर्हौ**=पूज्य; **अरिसूदन**=हे अरिहन्ता।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा! हे मधुसूदन श्रीकृष्ण! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोणाचार्य आदि पर बाणों से प्रत्याक्रमण किस प्रकार कर सकता हूं, क्योंकि ये दोनों ही मेरे पूज्य हैं॥ ४॥

तात्पर्य

पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि आदरणीय वयोवृद्ध महानुभाव

नित्य पूज्यास्पद हैं। अतएव उनके आक्रमण करने पर प्रत्याक्रमण करना उचित नहीं। वृद्धों से वाचिक तर्क भी न करना सामान्य शिष्टाचार है। उनके निष्ठुर व्यवहार का भी निर्मम प्रतिकार उचित नहीं होता। तब अर्जुन के लिए उन पर प्रत्याक्रमण करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? क्या श्रीकृष्ण स्वयं अपने पितामह उग्रसेन अथवा गुरु सान्दीपनि मुनि पर आक्रमण कर सकते हैं? इस प्रकार अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष युद्ध करने के विरुद्ध अनेक तर्क उपस्थित किये।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

गुरून्=गुरुजनों को; अहत्वा=न मार कर; हि=निश्चित रूप से; महानुभावान्=महानुभाव; श्रेयः=कल्याणकारी; भोक्तुम्=भोगना; भैक्ष्यम्=भिक्षा का अन्न; अपि=भी; इह=इस; लोके=इस लोक में; हत्वा=मारकर; अर्थ=लाभ; कामान्=मनोरथ; तु=तो; गुरून्=गुरुजनों को; इह=इस संसार में; एव=ही; भुञ्जीय=भोगूगा; भोगान्=भोगों को; रुधिर=रक्त से; प्रदिग्धान्=कलंकित हुए।

अनुवाद

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा इस संसार में भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थ-लोलुप होने पर भी ये महानुभाव वरिष्ठ हैं। इनकी हत्या करने से हमारे भोग भी रुधिर से कलंकित हो जायेंगे ॥५॥

तात्पर्य

शास्त्र के अनुसार, जो विवेकशून्य गुरु निन्द्य कर्म में प्रवृत्त हो उसका निःसंकोच त्याग कर देना चाहिए। दुर्योधन से प्राप्त आर्थिक सहायता के आधार पर भीष्म एवं द्रोण लौकिक दृष्टि से उसका पक्ष ग्रहण करने

को विवश थे। तद्यपि केवल आर्थिक कारणों से उनके लिए ऐसा करना उचित न था। इस स्थिति में वे आचार्योचित मान्यता खो बैठे हैं। परन्तु अर्जुन का विचार है कि वे अब भी उसके पूज्य हैं और उन्हें मार कर विषय भोग करना रक्त से कलंकित भोगों को भोगने के तुल्य होगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

न=नहीं; **च एतत्**=यह भी; **विद्मः**=जानते; **कतरत्**=क्या (करना); **नः**=हमारे लिए; **गरीयः**=श्रेष्ठ है; **यत्**=जो; **वा**=अथवा; **जयेम**=हम जीत जायंगे; **यदि वा**=अथवा; **नः**=हमको; **जयेयुः**=वे जीतेंगे; **यान्**=जिनको; **एव**=ही; **हत्वा**=मार कर (हम); **न**=नहीं; **जिजीविषामः**=जीना भी नहीं चाहते हैं; **ते**=वे सब; **अवस्थिताः**=खड़े हैं; **प्रमुखे**=सामने; **धार्तराष्ट्राः**=धृतराष्ट्र के पुत्र।

अनुवाद

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या श्रेयस्कर है, उन पर विजय प्राप्त करना या उनसे पराजित होना अथवा यह भी नहीं जानते कि युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। जिनका वध करके हम जीवित भी नहीं रहना चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र इस रण भूमि में हमारे सम्मुख खड़े हैं ॥ ६ ॥

तात्पर्य

अर्जुन यह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि वह क्षत्रिय के धर्मानुरूप युद्ध कर अनावश्यक हिंसा का सङ्कट उपस्थित होने दे अथवा युद्ध से उपरत होकर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु-विजय नहीं करता तो भिक्षा ही उसके लिए जीवन-यापन करने का एकमात्र साधन रहेगा। साथ ही विजय भी निश्चित नहीं, दोनों दलों में से

कोई भी विजयी हो सकता था। यदि उनकी विजय निश्चित भी होती (क्योंकि उनका पक्ष न्यायसंगत था) तो भी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के बिना पाण्डवों के लिये जीवित रहना अति कष्टसाध्य होगा। ऐसी परिस्थिति में वह भी प्रकारान्तर से पराजय ही होगी। अर्जुन के इस सम्पूर्ण विवेचन से निश्चित रूप से प्रामाणित होता है कि वह महाभागवत ही नहीं, वरन् पूर्णतया प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय भी था। राजकुल में जन्म लेने पर भी भिक्षा से निर्वाह करने का उसका विचार उत्कृष्ट अनासक्ति का परिचायक है। वह यथार्थतः सदाचारी था, जैसा कि इन गुणों और अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा में उसकी प्रगाढ़ निष्ठा से प्रकट होता है। इस सबसे अर्जुन मुक्ति के सर्वथा योग्य सिद्ध होता है। इन्द्रिय-निग्रह किये बिना ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती तथा ज्ञान और भक्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार विपुल-प्राकृत गुणों के अतिरिक्त अर्जुन इस दैवी सम्पूर्ण गुणावली से भी विभूषित था।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कार्पण्य=कायरता; **दोष**=दोष से; **उपहत**=अभिभूत; **स्वभावः**=स्वभाव वाला; **पृच्छामि**=पूछता हूं; **त्वाम्**=आपसे; **धर्म**=धर्म के विषय में; **संमूढचेताः**=मोहित चित्त हुआ (मैं); **यत्**=जो; **श्रेयः**=कल्याणीकारी मार्ग; **स्यात्**=हो; **निश्चितम्**=निश्चित; **ब्रूहि**=कहिये; **तत्**=वह; **मे**=मेरे लिए; **शिष्यः**=शिष्य; **ते**=आपका; **शाधि**=शिक्षा दीजिये; **माम्**=मेरे को; **त्वाम्**=आपके; **प्रपन्नम्**=शरणागत हुए।

अनुवाद

प्रभो! कायरता के कारण मैं स्वधर्म के सम्बन्ध में संमोहित हो गया हूं और सब धैर्य भी खो बैठा हूं। इसलिए आपसे पूछता हूं, मेरे लिये जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर साधन हो, वह कहिये। मैं आप का शरणागत शिष्य हूं। अतएव कृपया मेरे को शिक्षा दीजिये ॥७॥

तात्पर्य

यह प्रकृति का नियम है कि प्राकृत क्रियाओं की सम्पूर्ण व्यवस्था सभी के लिये उद्वेग-दायक है। प्रतिपद पर व्याकुलता की ही प्राप्ति होती है। अतः जीवन की लक्ष्य-सिद्धि की यथार्थ शिक्षा के लिये प्रामाणिक गुरु के निकट जाना आवश्यक है। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्र जीवन के समस्त अवांछित उद्वेगों से मुक्ति के लिए हमें आप्त सद्गुरु की शरण ग्रहण करने की आज्ञा देते हैं। स्वयं प्रज्वलित हुई दावाग्नि की भांति संसार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि हमारी इच्छा के विपरीत भी जीवन में उद्वेग स्वयमेव प्रकट होते रहते हैं। सर्वथा अवांछित होने पर भी दावाग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिससे हम व्याकुल हो जाते हैं। इसी से वैदिक-ज्ञान आज्ञा देता है कि व्यग्रता की निवृत्ति करने तथा समाधान की विद्या सीखने के हेतु परम्परागत गुरु की शरण ग्रहण करे। सद्गुरु के आश्रित हुआ शिष्य सर्वज्ञ हो जाता है। इसलिए प्राकृत व्यग्रता में निमग्न न रहकर गुरु शरण रूपी वैकुण्ठ का पादाश्रय अवश्य ग्रहण करे—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदितवासमल्लोकात्प्रैति स कृपणः'

'मानव देह की प्राप्ति होने पर भी जीवन के दुःखों को निवृत्त करने से पूर्व, भगवत्प्राप्ति विषयक विद्या को जाने बिना शूकर-कूकर के समान मृत्यु समय इस संसार को त्याग कर जाने वाला कृपण है।' यह मानव देह जीव की सर्वाधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है, जिसके उपयोग से वह जीवन के दुःखों का समाधान कर सकता है। अतः जो इस सुयोग का यथेष्ट उपयोग नहीं करता, वह कृपण है। इसके विपरीत ब्राह्मण वह है, जो बुद्धिमानी से इस देह का सदुपयोग कर जीवन के क्लेशों से मुक्त हो जाय।

विषयी होने से कृपण मनुष्य परिवार, समाज, देश आदि में अत्यधिक आसक्ति वश अपना समय ही नष्ट करता है। वह प्रायः 'त्वचा रोग' के आधार पर पारिवारिक जीवन अर्थात् कलत्र, पुत्र स्वजनों के प्रति अत्यन्त आसक्त रहता है। कृपण सोचता है कि वह अपने परिवार का मृत्यु से परित्राण करने में समर्थ है अथवा उसके बन्धु-बान्धव ही

काल-पाश से उसकी रक्षा कर लेंगे। अपनी सन्तान की परिचर्या करने वाले अधम पशुओं में भी ऐसी स्वजनासक्ति दृष्टिगोचर होती है। बुद्धिमान् होने के कारण अर्जुन को ज्ञात था कि उसका स्वजन-स्नेह तथा उन्हें मृत्यु से बचाने की उसकी वांछा ही उसकी व्यग्रता का कारण है। यद्यपि वह जानता था कि युद्ध-विषयक-कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, तथापि कार्पण्य दोषवश कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ सा हो गया। अतः अब परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण से निर्णय करने का आग्रह कर रहा है। वह श्रीकृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है, अब सख्य-वार्ता नहीं करना चाहता। यथार्थ गुरु-शिष्य का वार्तालाप वस्तुतः अतिशय गम्भीर होता है, इस समय अर्जुन भी सद्गुरु से गम्भीर वार्ता करना चाहता है। अतएव श्रीकृष्ण ही भगवद्गीता-विज्ञान के आद्य गुरु हैं तथा अर्जुन प्रथम शिष्य है। अर्जुन ने गीता को जिस प्रकार हृदयंगम किया इसका उल्लेख स्वयं गीता में ही है। इस पर भी मूर्ख-शिरोमणि प्राकृत विद्वान् यह कहने की धृष्टता करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण की नहीं, अपितु 'श्रीकृष्ण में स्थित अजन्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।' श्रीकृष्ण के आत्मा और देह का भेद नहीं है—इस सिद्धान्त को न जानते हुए भी भगवद्गीता को समझने का प्रयास करना निस्सन्देह परम मूर्खता का द्योतक है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
-द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

न=नहीं; हि=निस्सन्देह; प्रपश्यामि=देखता हूं; मम=मेरी; अपनुद्यात्=दूर कर सके; यत्=जो; शोकम्=शोक; उच्छोषणम्=सुखाने वाले; इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों को; अवाप्य=प्राप्त करके; भूमौ=पृथ्वी में; असपत्नम्=शत्रुविहीन; ऋद्धम्=समृद्ध; राज्यम्=राज्य को; सुराणाम् अपि=देवताओं के भी; च=तथा; आधिपत्यम्=स्वामित्व को।

अनुवाद

मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके। स्वर्गीय देवताओं के समान भूमि के सार्वभौम निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति होने पर मैं उस शोक को दूर नहीं कर सकूंगा ॥८॥

तात्पर्य

यद्यपि अर्जुन ऐसे अनेक तर्क प्रस्तुत कर रहा है, जो धर्म तथा सदाचार के ज्ञान पर आधारित हैं, स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह के विना अपनी वास्तविक समस्या का समाधान करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। वह समझ गया कि उसका तथाकथित ज्ञान उस शोक का निवारण करने में समर्थ नहीं, जो उसकी सम्पूर्ण देह का शोषण कर रहा था। यह नितान्त सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण जैसे गुरु की कृपा के विना ऐसे शोक का समाधान नहीं किया जा सकता। जीवन के दु:खों को दूर करने के लिए पुस्तकीय ज्ञान, विद्वत्ता, उच्च पद आदि सव साधन व्यर्थ हैं। श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रतिनिधि सद्गुरु ही इसमें साहाय्य कर सकते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्णतया कृष्ण-भावना-भावित गुरु ही प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे जीवन के दु:खों को दूर करने में पूर्ण समर्थ हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु की वाणी है कि कृष्ण-तत्त्व का ज्ञाता ही गुरु वनने के योग्य है, उसका वर्ण अथवा आश्रम कुछ भी क्यों न हो।

कि वा विप्र, कि वा न्यासी शूद्र केने नय।
येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता सेइ गुरु हय॥

(श्री चैतन्य चरितामृत मध्य ८.१२७)

'कृष्णतत्त्व-वेत्ता ही यथार्थ प्रामाणिक गुरु है, चाहे वह विप्र हो, संन्यासी हो अथवा जन्म से शूद्र ही क्यों न हो। तात्पर्य यह है कि जो कृष्ण-भावना का तत्त्वज्ञ नहीं है, वह प्रामाणिक गुरु नहीं हो सकता।' वैदिक शास्त्रों में कहा गया है :

षट्कर्म निपुणोविप्रो मन्त्र-तन्त्र-विशारदः।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

'सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का पारगामी विद्वान् ब्राह्मण होने पर भी यदि कोई वैष्णव अर्थात् कृष्ण तत्त्ववेत्ता नहीं है तो वह गुरु पद के योग्य नही हो सकता। दूसरी ओर जन्म से शूद्र मनुष्य भी यदि वैष्णव है, कृष्ण-भावना-भावित है, तो वह गुरु बनने के सर्वथा योग्य है।'

भव रोग के दुःखो (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि) की निवृत्ति धन-संचय अथवा आर्थिक विकास से नही हो सकती। विश्व के विभिन्न अंचलों में ऐसे अनेक देश स्थित हैं, जो जीवन की सर्वविध सुख-सुविधाओं तथा सम्पत्ति से परिपूर्ण हैं एवं आर्थिक रूप से भी विकसित हैं। परन्तु भव रोग के दुःख वहां भी विद्यमान हैं; फिर भी वे विविध प्रकार से शांति का ही अन्वेषण कर रहे हैं। उन्हें यथार्थ सुख की प्राप्ति तभी होगी जब वे श्रीकृष्ण, कृष्ण-विद्यापरक भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत अथवा श्रीकृष्ण के प्रामाणिक दूत—कृष्ण भक्तों का आश्रय ग्रहण करेंगे।

यदि आर्थिक विकास और भौतिक सुख पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय उन्मादों के लिए किये जाने वाले शोक-विलाप को दूर सकते तो अर्जुन ऐसा न कहता कि भूमि का निष्कण्टक राज्य अथवा स्वर्गीय देवताओं के समान आधिपत्य की प्राप्ति हो जाने पर भी उसके शोक का निवारण नही हो सकेगा। अन्त मे उसने कृष्ण भावनामृत का ही आश्रय ग्रहण किया, जो शान्ति एवं सामरस्य का यथार्थ पथ है। प्राकृतिक प्रलय से आर्थिक विकास अथवा विश्व-आधिपत्य का विनाश किसी भी क्षण हो सकता है। चन्द्र आदि उच्च लोको की प्राप्ति भी एक प्रहार में समाप्त हो सकती है। स्वय भगवद्-गीता मे इसकी पुष्टि है: 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। 'पुण्य कर्म फल की समाप्ति होने पर प्राकृत सुख की अवधि से जीवन के परम अधम स्तर पर जीव का पतन हो जाता है।' संसार मे अनेक राज-नीतिज्ञों का इसी भांति अध.पतन हुआ है। इस प्रकार का अध.पतन अधिकाधिक शोक का ही कारण सिद्ध होता है।

अस्तु, यदि हमें सदा के लिए शोक का निवारण करना अभीप्सित

हो, तो अर्जुन का अनुगमन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी ही होगी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपनी समस्या का निश्चित समाधान करने का आग्रह किया। इसी पद्धति से कृष्णभावनामृत साध्य है।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; **एवम्**=इस प्रकार; **उक्त्वा**=कहकर; **हृषीकेशम्**=हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण को; **गुडाकेशः**=अज्ञान-विजयी अर्जुन; **परंतपः**=शत्रुओं का दमन करने वाला; **न योत्स्ये**=मैं युद्ध नहीं करूंगा; **इति**=यह; **गोविन्दम्**=आनन्दकन्द श्रीकृष्ण के प्रति; **उक्त्वा**=कहकर; **तूष्णीम्**=चुप; **बभूव**=हो गया; **ह**=निश्चित रूप से।

अनुवाद

संजय ने कहा, शत्रुविजयी अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति यह कहकर तथा पुनः 'हे गोविन्द ! मैं युद्ध नहीं करूंगा,' ऐसा कहकर चुप हो गया ॥९॥

तात्पर्य

धृतराष्ट्र के हृदय में यह जान कर निश्चय ही हर्षातिरेक हुआ होगा कि अर्जुन युद्ध करने की अपेक्षा भिक्षा-वृत्ति के लिए रणांगण से विमुख हो गया। परन्तु संजय ने यह कहकर उसे हताश कर दिया कि अर्जुन 'परंतप' है, अर्थात् शत्रु-मर्दन में पूर्ण समर्थ है। स्वजन-स्नेह से उत्पन्न हुए मिथ्या शोक से कुछ समय के लिए अभिभूत हो जाने पर भी अर्जुन ने शिष्य रूप से परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शरण का आश्रय ग्रहण कर लिया। इससे निश्चित है कि वह अतिशीघ्र स्वजन-स्नेह-जनित मिथ्या शोक से मुक्त हो जायगा और भगवत्प्राप्ति अर्थात् कृष्णभावनामृत के समग्र ज्ञान से दीप्त होकर निःसन्देह युद्ध करेगा।

इस भांति धृतराष्ट्र का हर्ष पुनः निराशा में परिणत हो गया, क्योंकि यह निश्चित है कि श्रीकृष्ण से प्रबोध प्राप्त कर अर्जुन अन्त तक युद्ध करेगा।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तम्=उसे; उवाच=कहा; हृषीकेशः=हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने; प्रहसन् इव=हंसते हुए से; भारत=हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; सेनयोः= सेनाओं के, उभयोः=दोनों दलों की; मध्ये=मध्य में; विषीदन्तम्= शोकमग्न; इदम्=यह; वचः=वचन।

अनुवाद

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य, उस शोकमग्न अर्जुन को हंसते हुए से यह वचन कहा ॥१०॥

तात्पर्य

दोनों अन्तरंग सखाओं—हृषीकेश तथा अर्जुन में परस्पर वार्तालाप हो रहा है। सखा-रूप में बराबर होने पर भी उनमें से एक ने स्वेच्छा से दूसरे का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे क्योंकि एक सखा स्वेच्छापूर्वक दूसरे सखा का शिष्य बन गया। परमेश्वर श्रीकृष्ण नित्य सब के स्वामी हैं, फिर भी भक्त के भावानुसार उसे अपना सखा, पुत्र, प्रेमी अथवा भक्त अङ्गीकार कर लेते हैं और यथासमय स्वयं भी ये रूप ग्रहण करने में संकोच नही करते। इसी प्रकार जब उन्हें गुरु अङ्गीकार किया गया तो उन्होंने तत्काल वह पद ग्रहण कर लिया और उपयुक्त गाम्भीर्य के साथ स्वामी की भांति शिष्य का अनुशासन करने लगे। प्रतीत होता है कि गुरु-शिष्य का यह सम्भाषण दोनों सेनाओं की उपस्थिति में खुले रूप से सम्पन्न हुआ, जिससे सभी लाभान्वित हुए। अस्तु, भगवद्गीता की सार्वभौम मंगलमयी वाणी किसी विशेष व्यक्ति, समाज अथवा जाति के लिए नही है, उसका श्रवण करने में तो शत्रु-मित्र आदि सभी का समान अधिकार है।

श्रीभगवानुवाच ।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **अशोच्यान्**=जो शोक करने के योग्य नहीं है;**अन्वशोचः**=(उनके लिए)शोक करता है;**त्वम्**=तू; **प्रज्ञावादान्**=पण्डितों के समान; **च भाषसे**=बोलता हुआ भी; **गतासून्**=जिनके प्राण चले गये हैं; **अगतासून् च**=और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए भी; **न अनुशोचन्ति**=शोक नहीं करते; **पण्डिताः**=पण्डितजन ।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन ! पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं है । किन्तु पण्डितजन तो जिन के प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते ॥११॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने तत्काल गुरुपद ग्रहण कर लिया और शिष्य को परोक्ष रूप से मूर्ख कहकर उसका शासन किया । उन्होंने कहा कि हे अर्जुन ! तू बोल तो पण्डितों के समान रहा है, परन्तु इतना भी नहीं जानता कि देहतत्त्व तथा आत्मतत्त्व के मर्म को जानने वाले पंडितजन देह की जीवित अथवा मृत, किसी भी अवस्था के लिए शोक नहीं करते । जैसा अगले अध्यायों में वर्णन किया गया है, ज्ञान का अर्थ देह, आत्मा और उन दोनों के नियन्ता-तत्त्व को जानना है । अर्जुन का तर्क है कि राजनीति अथवा समाजनीति की अपेक्षा धर्म का अधिक माहात्म्य है । परन्तु वह यह नहीं जानता कि आत्मा, देह तथा उनके नियन्ता का ज्ञान सामान्य धार्मिक सिद्धान्तों से भी अधिक महत्त्व रखता है । उस ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण उसके लिए अपने को महापण्डित प्रदर्शित करना

सर्वथा अनुचित था। अल्पज्ञतावश शोक के अयोग्य वस्तु के लिए भी वह अतिशय शोकाकुल हो रहा था। देह का जन्म हुआ है अतः इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसी कारण देह का महत्त्व आत्मा के माहात्म्य के तुल्य नहीं। जो इस तथ्य को जानता है, वही यथार्थतः पण्डित है, क्योंकि देह की किसी भी अवस्था में उसके लिये शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव नभविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न=नहीं; तु=तो; एव=ही; अहम्=मैं; जातु=किसी काल में; न=नहीं; आसम्=था; न=नहीं (था); त्वम्=तू; न=नहीं (थे); इमे=ये सभी; जनाधिपाः=राजा; न=नहीं; च=तथा; एव=ही; न=नहीं; भविष्यामः=रहेंगे; सर्वे=सब; वयम्=हम; अतः परम्=इससे आगे।

अनुवाद

न तो ऐसा ही है कि किसी काल में मैं नहीं था, तू नहीं था अथवा ये सब राजा नहीं थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥१२॥

तात्पर्य

वेद-'कठ' एवं 'श्वेताश्वतर' उपनिषदों में कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण जीव के कर्म तथा कर्मफल के अनुरूप उसे विभिन्न योनि प्रदान कर असंख्य जीवों का परिपालन करते हैं। वे अंश रूप से जीवमात्र के हृदय में भी स्थित हैं। उन परमेश्वर श्रीकृष्ण का बाह्यान्तर सर्वत्र दर्शन करने वाले सन्त जन ही यथार्थ में पूर्ण एवं शाश्वती शान्ति का आस्वादन करते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां य विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
(कठ० २.२.१३)

श्रीभगवान् द्वारा अर्जुन के हृदय में अनुस्यूत किया गया यही वैदिक सत्य संसार के उन सब व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है, जो स्वयं को महापण्डित प्रदर्शित करते हैं, परन्तु यथार्थ में अत्यन्त अल्पज्ञ ही हैं। श्रीभगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि स्वयं वे अर्जुन तथा युद्ध भूमि में एकत्र हुए समस्त राजा नित्य निजी स्वरूप रखते हैं तथा जीवात्माओं की बद्ध एवं मुक्त, दोनों ही अवस्थाओं में वे उन सबके भर्त्ता हैं। भगवान् परम पुरुष हैं तथा उनके नित्य पार्षद अर्जुन और वहां एकत्रित हुए सब राजा भी नित्य निजी स्वरूपों में रहते हैं। ऐसा नहीं कि पूर्व में उनका भिन्न स्वरूप नहीं था, अथवा आगे नित्य नहीं रहेगा। उनका निजी स्वरूप पूर्व में था तथा भविष्य में भी निरन्तर बना रहेगा। इसलिए किसी के लिए भी शोक का कोई युक्तिसंगत हेतु नहीं है।

मायावादियों का कहना है कि मायावरण के कारण पृथक् हुआ जीवात्मा मुक्ति के उपरान्त निर्विशेष ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर अपना भिन्न स्वरूप खो बैठता है। परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने यहां इस मत का खण्डन किया है। यहां इस मत का भी खण्डन है कि हम बद्धावस्था में अपने भिन्न स्वरूप की कल्पना मात्र कर लेते हैं। इस श्लोक में श्रीकृष्ण का स्पष्ट वक्तव्य है कि उपनिषदों के अनुसार भी श्रीभगवान् तथा जीवात्माओं के निजी स्वरूप भविष्य में भी नित्य विद्यमान् रहेंगे। श्रीकृष्ण का यह कथन परम प्रामाणिक है, क्योंकि वे माया के आधीन नहीं हो सकते। यदि जीव और भगवान् के स्वरूप की पृथकता सत्य नहीं होती तो भगवान् श्रीकृष्ण उसे इतना महत्त्व नहीं देते। उन्होंने तो यहां तक कह दिया है भविष्य में भी स्वरूप-भेद बना रहेगा। मायावादी तर्क कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया स्वरूप-द्वैत आत्मा में नहीं है, अपितु प्राकृत है। परन्तु यदि स्वरूप-भेद को प्राकृत मान लिया जाय तो श्रीकृष्ण के स्वरूप का वैशिष्ट्य ही क्या रहेगा? श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है कि भूत तथा भविष्य में भी उनका विशिष्ट पृथक् स्वरूप रहता है। अपने स्वरूप के वैशिष्ट्य का विविध प्रकार के वर्णन कर निर्विशेष ब्रह्म को उन्होंने अपने आधीन घोषित किया है। श्रीकृष्ण का दिव्य निजी स्वरूप नित्य है। यदि उन्हें व्यष्टि-बुद्धि से युक्त साधारण बद्ध जीव समझा जाय तो उनकी भगवद्गीता का प्रामाणिक शास्त्र के रूप

में कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह जायगा। चार प्रकार के मानवीय दोषों से युक्त साधारण व्यक्ति श्रवणीय तत्त्व की शिक्षा देने के योग्य नहीं हो सकता। गीता ऐसे साहित्य की अपेक्षा परम उत्कृष्ट है। संसार की कोई भी पुस्तक भगवद्गीता की तुलना नहीं कर सकती। श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने पर गीता का यह सम्पूर्ण माहात्म्य विलुप्त हो जाता है। मायावादी तर्क करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत व्यवहार-सिद्ध (अस्वाभाविक) है, उसका सम्बन्ध केवल देह से है। किन्तु इस श्लोक से पूर्व ही देहात्मवाद को तिरस्कृत किया जा चुका है। जीवों की देहात्म-बुद्धि की निन्दा करने के पश्चात् श्रीकृष्ण के लिए देहात्मबुद्धि पर आधारित परिपाटीबद्ध वक्तव्य का प्रतिपादन करना किस प्रकार सम्भव था ? अतएव यह सिद्ध होता है तत्त्व के आधार पर भगवान् और जीव में स्वरूप-भेद (द्वैत) नित्य बना रहता है। श्रीरामानुज आदि सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। गीता में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि यह स्वरूप ज्ञान केवल भगवद्-भक्तों को होता है। जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करते हैं, उनका इस महान् ग्रन्थ में कोई भी अधिकृत प्रवेश नहीं हो सकता। गीतोपदेश के अभक्तों की प्रवृत्ति मधु-पात्र पर लेह्यमान मधुकरों के समान है। पात्र को खोले बिना मधु का आस्वादन नहीं किया जा सकता। इसी भाँति गीता के मर्म का ज्ञान भक्तों को ही हो सकता है, अन्य कोई गीतामृत का रस नहीं ले सकता, जैसा कि चौथे अध्याय में कहा गया है। श्रीभगवान् की सत्ता से द्वेष करने वाले भी गीता का स्पर्श नहीं कर सकते। सुतरां गीता की मायावादी व्याख्या समग्र-सत्य की परम भ्रांतिकारक व्याख्या है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों द्वारा रचित भाष्यों के पठन-पाठन का निषेध करते हुए हमें चेतावनी दी है कि जो मायावादी असद्-दर्शन को ग्रहण कर लेता है, वह गीता के यथार्थ रहस्य-ज्ञान को हृदयंगम करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य खो बैठता है। यदि स्वरूप-भेद (द्वैत) का सम्बन्ध अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से ही निर्दिष्ट होता, तो श्रीभगवान् के लिए स्वयं गीतोपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं होता। जीवात्मा तथा श्रीभगवान् में द्वैत नित्य सत्य है और उपरोक्त कथन के अनुसार वेदों में भी इसकी पुष्टि है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहिनः=देहबद्ध जीवात्मा की; **अस्मिन्**=इस; **यथा**=जिस प्रकार; **देहे**=देह में; **कौमारम्**=कुमार; **यौवनम्**=यौवन; **जरा**=वृद्ध अवस्था (होती है); **तथा**=वैसे ही; **देहान्तर**=अन्य शरीर की; **प्राप्तिः**=प्राप्ति होती है; **धीरः**=धीर पुरुष; **तत्र**=उस विषय में; **न**=नहीं; **मुह्यति**=मोहित होता।

अनुवाद

जिस प्रकार बद्ध जीव को इस देह में क्रमशः कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी भांति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूप-प्राप्त धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता ॥१३॥

तात्पर्य

प्रत्येक जीवात्मा का निजी स्वरूप है, जिस कारण उसके देह में नित्य-निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। देह में क्रमशः कौमार, यौवन तथा जरा की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा स्वयं परिवर्तनरहित (अनामय) रहता है। अन्त में, देहान्त हो जाने पर यह जीवात्मा देहान्तर कर अन्य देह में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अगले जन्म में भी आत्मा को प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी न किसी देह की प्राप्ति अवश्य होगी, यह निश्चित है। इसलिए भीष्म, द्रोण की सम्भावित मृत्यु के लिये अर्जुन के शोक का कोई भी कारण न था। वे जीर्ण देह को त्याग कर नूतन देह को धारण करने से नव-शक्ति युक्त हो जायेंगे, इस विचार से उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। देहान्तर कर्मानुसार विविध सुख-दुःख भोगने का निमित्त सिद्ध होता है। महात्मा होने से भीष्म तथा द्रोण को अगले जन्म में भगवद्धाम की प्राप्ति, कम से कम स्वर्गीय श्रेष्ठ भौतिक सुख की उपलब्धि तो अवश्य ही होगी। इन दोनों अवस्थाओं के लिए शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

जीवात्मा, परमात्मा तथा परा-अपरा प्रकृति के स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाला 'धीर' कहलाता है। ऐसा पुरुष देहान्तर से व्याकुल नहीं होता। मायावादियों का एकात्मवाद मान्य नहीं है, क्योंकि आत्म-तत्त्व को पृथक् अंशों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक परमात्मा ही नाना जीवों के रूप में विभक्त हो गये हैं, तो वे परिवर्तनशील सिद्ध होते हैं, जो सर्वथा सिद्धान्त-विरुद्ध है।

गीता से प्रमाणित होता है, कि जीव परमतत्त्व के नित्य भिन्न-अंश हैं। अपरा प्रकृति (माया) में पतनशील होने से वे 'क्षर' कहलाते हैं। ये भिन्नांश नित्य भिन्न रहते हैं, मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा परमात्मा से पृथक् रहते हैं। किन्तु साथ ही, मुक्त हो जाने पर श्रीभगवान् के सान्निध्य में वे सच्चिदानन्दमय जीवन का रसास्वादन करते हैं। प्रत्येक देह में जीवात्मा से भिन्न परमात्मा के पृथक अस्तित्व को प्रतिविम्ब के उदाहरण से समझा जा सकता है। जल में आकाश के प्रतिविम्बित होने पर सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की भी प्रतिच्छाया होती है। जीवात्मा तारों के समान हैं जबकि परमेश्वर सूर्य अथवा चन्द्र के तुल्य हैं। अर्जुन भिन्नांश जीवात्मा का प्रतीक है और परमेश्वर हैं स्वयं श्रीकृष्ण। ये दोनों एक स्तर पर नहीं हैं, जैसा चौथे अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है। यदि यह मान भी लिया जाय कि अर्जुन श्रीकृष्ण के समकक्ष है, अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठ नहीं हैं, तो गुरु-शिष्य के रूप में उनका सम्बन्ध निरर्थक हो जायगा। यदि दोनों ही माया-मोहित हैं तो एक के द्वारा दूसरे का गुरु बनकर उसे शिक्षा देना सर्वथा अप्रयोजनीय होगा, क्योंकि जो माया-बद्ध है, उसका उपदेश प्रामाणिक नहीं हो सकता। अस्तु, वस्तुस्थिति से यह निर्णय होता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और माया-संमोहित स्मृति-लुप्त जीवात्मा, अर्जुन से अति श्रेष्ठ हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रास्पर्शाः=इन्द्रियों और विषयों के संयोग; तु=तो; कौन्तेय= हे कुन्तीपुत्र; शीत=सर्दी; उष्ण=गर्मी; सुख=सुख; दुखदाः=दुखदायक

हैं; आगम=आना; अपायिनः=जाना; अनित्यः=क्षण भंगुर; तान्=उनको तितिक्षस्व=सहन करने का प्रयत्न कर; भारत=हे भरतवंशी अर्जुन ।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुःख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने जाने के समान ही अनित्य और क्षणभंगुर है। इसलिए हे अर्जुन ! उनको विचलित हुए विना सहन करने का अभ्यास कर ॥ १४ ॥

तात्पर्य

स्वधर्म का भली भांति पालन करने के लिए सुख-दुःख आदि अनित्य और क्षणभंगुर द्वन्द्वों को सहन करने का अभ्यास करना आवश्यक है। वैदिक विधान के अनुसार, माघ मास में भी प्रातःकाल स्नान करना अनिवार्य है। उस समय अति शीत रहती है, किन्तु धर्म-परायण व्यक्ति स्नान करने में संकोच नहीं करता। गृहिणी ग्रीष्म ऋतु में भी निस्संकोच भोजन वनाती है। इस प्रकार जलवायु सम्वन्धी असुविधा की उपेक्षा करते हुए स्वधर्माचरण करना अनिवार्य है। इसी भांति, युद्ध करना क्षत्रियों का स्वधर्म है, चाहे मित्रों तथा स्वजनों से ही क्यों न लड़ना पड़े। किसी भी परिस्थिति में स्वधर्म से विमुख होना उचित नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए धार्मिक विधि-विधान का पालन अवश्य करना होगा, क्योंकि ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा ही माया-मुक्ति साध्य है।

अर्जुन के लिए प्रयुक्त दोनों सम्वोधन महत्त्वपूर्ण हैं। 'कौन्तेय' एवं 'भारत' सम्वोधन क्रमशः उसके मातृ तथा पितृ कुल की महिमा के द्योतक हैं। दोनों ही पक्षों की दृष्टि से उनकी वंश-परम्परा महान् है। महान् परम्परा का तात्पर्य है कर्त्तव्य को भली प्रकार से पूर्ण करने का गुरुतर उत्तरदायित्व। अतएव अर्जुन युद्ध से पराङ्मुख नहीं हो सकता।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५

यम्=जिसको; हि=निश्चित रूप से; न व्यथयन्ति=व्याकुल नहीं कर सकते, एते=ये सब; पुरुषम्=व्यक्ति को; पुरुषर्षभ=हे नरश्रेष्ठ; सम=निर्विकार रहने वाले; दुःख=दुःख; सुखम्=सुख में; धीरम्=धीर; सः=वह; अमृतत्वाय=मुक्ति के; कल्पते=योग्य है।

अनुवाद

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख दुःख को समान समझकर इन दोनो से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है ॥१५॥

तात्पर्य

जो व्यक्ति भगवत्प्राप्ति के लिए दृढ़संकल्प से युक्त है तथा सुख-दुःख के आक्रमण को समभाव से सहन करने में समर्थ है, वह निस्सन्देह मुक्ति के योग्य है। वर्णाश्रम धर्म का चौथा आश्रम, सन्यास सर्वथा कष्ट-साध्य होता है। परन्तु जो यथार्थ में अपना जीवन कृतार्थ करना चाहता है, वह सब प्रकार के कष्टों की उपेक्षा करते हुए संन्यासाश्रम अवश्य ग्रहण कर लेता है। स्त्री पुत्रादि पारिवारिक सम्बन्धों का विच्छेद करना अनिवार्य होने से ही प्रायः कष्ट होता है। परन्तु जो व्यक्ति इन्हें सहने में समर्थ है, उसका भगवत्प्राप्ति-पथ निश्चित रूप से सम्पन्न हो जाता है। अर्जुन को भी क्षत्रियोचित स्वधर्म पालन मे दृढ़ रहने का परामर्श दिया गया है, यद्यपि स्वजनों तथा अन्य प्रियजनो से युद्ध करना बड़ा कठिन होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने चौबीस वर्ष की अल्पायु में ही संन्यास ग्रहण कर लिया, जबकि उनकी तरुण पत्नी तथा वयोवृद्धा जननी का कोई अन्य सम्बल न था, वे पूर्णतया उनपर ही आश्रित थीं। इस पर भी उन्होंने उच्च उद्देश्य से संन्यास ग्रहण किया और उदात्त कर्त्तव्य सम्पादन में तत्पर रहे। माया-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का यही मार्ग है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

न=नहीं; असतः=असत् का; विद्यते=है; भावः=चिरस्थयित्व;

न=नहीं; **अभावः**=अभाव; **विद्यते**=है; **सतः**=सत्-तत्त्व का; **उभयोः**= दोनों का; **अपि**=ही; **दृष्टः**=देखा गया है; **अन्तः**=तत्त्व; **तु**=और; **अनयोः**=इन; **तत्त्वदर्शिभिः**=तत्त्ववेत्ताओं द्वारा।

अनुवाद

असत् का तो चिरस्थायी अस्तित्व नहीं होता तथा सत्-तत्त्व का कभी अन्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानियों ने इन दोनों के ही तत्त्व का निर्णय किया है ॥ १६ ॥

तात्पर्य

देह परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण देह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु देह तथा मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहता है। यही जड़ प्रकृति और आत्मा का भेद है। स्वभावतः देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। 'निर्विशेष' और 'सविशेष' आदि, सब प्रकार के तत्त्वदर्शियों ने इस सिद्धान्त को माना है। 'विष्णु पुराण' में उल्लेख है कि श्री विष्णु और उनके सब लोकों की स्वयं-प्रकाश चिन्मय सत्ता है—**ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः'**। 'सत्' शब्द आत्मा का और 'असत्' जड़ प्रकृति का वाचक है। सभी ज्ञानीजन इस में एकमत हैं।

यहां से अज्ञान-मोहित जीवों के कल्याणार्थ श्रीभगवान् का मंगलमय सदुपदेश प्रारम्भ होता है। अज्ञान-अपहरण से आराधक एवं आराध्य में नित्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना हो जाती है, जिससे भिन्नांश जीव एवं परमेश्वर श्रीकृष्ण में जो भेद है, उसका ज्ञान होता है। परमतत्त्व का स्वरूप पूर्ण स्वाध्याय(आत्म-अध्ययन) करने से जाना जा सकता है, क्योंकि जीव और परमेश्वर का भेद अंश तथा अंशी के भेद के समान है, अर्थात् जीव परमेश्वर का भिन्नांश है। वेदान्त सूत्र तथा श्रीमदभागवत में भी परतत्त्व को अखिल पदार्थो का उद्गम स्वीकार किया गया है। इनका अनुभव परा और अपरा प्रकृति के क्रम से होता है। सातवें अध्याय में

कहा है कि जीव परा प्रकृति के भिन्नांश हैं। शक्तिमान् एवं शक्ति में अभेद होते हुए भी शक्तिमान् परमतत्त्व है, जबकि शक्ति अर्थात् प्रकृति उसकी अशवर्तिनी है। अतएव स्वामी-भृत्य और गुरु-शिष्य की भांति जीवात्मा परमेश्वर श्रीकृष्ण के नित्य आधीन रहते हैं। अज्ञानावस्था में इस शुद्ध ज्ञान को ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः अज्ञान का नाश कर जीव-मात्र को सदा के लिए प्रबुद्ध कर देने के निमित्त से भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र भगवद्गीता रूपी शिक्षामृत का परिवर्पण कर रहे हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशी=नाश-रहित; तु=तो; तत्=उसे; विद्धि=जान; येन= जिसके द्वारा; सर्वम्=सम्पूर्ण देह; इदम्=यह; ततम्=परिपूर्ण है; विनाशम्=नाश; अव्ययस्य=अविनाशी का; अस्य=इसका; न=कश्चित् कोई भी नहीं; कर्तुम्=करने में; अर्हति=समर्थ है।

अनुवाद

अविनाशी तो उसको जान, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस अव्यय आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

तात्पर्य

इस श्लोक में सम्पूर्ण देह में व्याप्त हो रहे आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का अधिक वर्णन है। यह सत्य सभी के लिए अनुभवगम्य है कि सम्पूर्ण देह में एक ही चैतन्य तत्त्व परिव्याप्त है। सम्पूर्ण देह अथवा किसी एक शरीरांग के सुख-दुःख का बोध सभी को होता रहता है। परन्तु देह में चैतन्य की यह व्याप्ति व्यष्टि शरीर तक सीमित है। किसी एक प्राणी के देहगत सुख-दुःख का बोध अन्य को नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक देह में एक-एक आत्मा आबद्ध है, जिसका अनुभव व्यष्टि-चेतना के रूप में होता है। इस आत्मा का माप केश के अग्र-भाग के १०,००० वें भाग के बराबर कहा गया है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद' में इस तथ्य का प्रमाण है—

न=नहीं; अभावः=अभाव; विद्यते=है; सतः=सत्-तत्त्व का; उभयोः=दोनों का; अपि=ही; दृष्टः=देखा गया है; अन्तः=तत्त्व; तु=और; अनयोः=इन; तत्त्वदर्शिभिः=तत्त्ववेत्ताओं द्वारा।

अनुवाद

असत् का तो चिरस्थायी अस्तित्व नहीं होता तथा सत्-तत्त्व का कभी अन्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानियों ने इन दोनों के ही तत्त्व का निर्णय किया है ॥ १६ ॥

तात्पर्य

देह परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण देह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु देह तथा मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहता है। यही जड़ प्रकृति और आत्मा का भेद है। स्वभावत: देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। 'निर्विशेष' और 'सविशेष' आदि, सब प्रकार के तत्त्वदर्शियों ने इस सिद्धान्त को माना है। 'विष्णु पुराण' में उल्लेख है कि श्री विष्णु और उनके सब लोकों की स्वयं-प्रकाश चिन्मय सत्ता है—**ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः**'। 'सत्' शब्द आत्मा का और 'असत्' जड़ प्रकृति का वाचक है। सभी ज्ञानीजन इस में एकमत हैं।

यहां से अज्ञान-मोहित जीवों के कल्याणार्थ श्रीभगवान् का मंगलमय सदुपदेश प्रारम्भ होता है। अज्ञान-अपहरण से आराधक एवं आराध्य में नित्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना हो जाती है, जिससे भिन्नांश जीव एवं परमेश्वर श्रीकृष्ण में जो भेद है, उसका ज्ञान होता है। परमतत्त्व का स्वरूप पूर्ण स्वाध्याय (आत्म-अध्ययन) करने से जाना जा सकता है, क्योंकि जीव और परमेश्वर का भेद अंश तथा अंशी के भेद के समान है, अर्थात् जीव परमेश्वर का भिन्नांश है। वेदान्त सूत्र तथा श्रीमद्भागवत में भी परतत्त्व को अखिल पदार्थों का उद्गम स्वीकार किया गया है। इनका अनुभव परा और अपरा प्रकृति के क्रम से होता है। सातवें अध्याय में

कहा है कि जीव परा प्रकृति के भिन्नांश हैं। शक्तिमान् एवं शक्ति में अभेद होते हुए भी शक्तिमान् परमतत्त्व है, जबकि शक्ति अर्थात् प्रकृति उसकी वशवर्तिनी है। अतएव स्वामी-भृत्य और गुरु-शिष्य की भाँति जीवात्मा परमेश्वर श्रीकृष्ण के नित्य आधीन रहते हैं। अज्ञानावस्था में इस शुद्ध ज्ञान को ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः अज्ञान का नाश कर जीव-मात्र को सदा के लिए प्रबुद्ध कर देने के निमित्त से भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र भगवद्गीता रूपी शिक्षामृत का परिवेषण कर रहे हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशी=नाश-रहित; तु=तो; तत्=उसे; विद्धि=जान; येन=जिसके द्वारा; सर्वम्=सम्पूर्ण देह; इदम्=यह; ततम्=परिव्याप्त है; विनाशम्=नाश; अव्ययस्य=अविनाशी का; अस्य=इसका; न=कश्चित् कोई भी नहीं; कर्तुम्=करने में; अर्हति=समर्थ है।

अनुवाद

अविनाशी तो उसको जान, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस अव्यय आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

बालाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्तस्य कल्पते ॥

"आत्मा का माप केशाग्र के सौवें भाग के शतांश के तुल्य है ।" (श्वे० ५.९) इसी भांति, श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख है :

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सदृशात्मकः ।
जीवः सूक्ष्म-स्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ॥

"परिमाण में केश-अग्र के १०,००० वें अंश के तुल्य असंख्य अत्म-कण हैं ।"

अतएव चिन्मय आत्म-कण प्राकृत-परमाणु से भी सूक्ष्म परिमाण वाला है । साथ ही, ऐसे असंख्य आत्म-कण हैं । चिन्मय आत्म-स्फुलिंग प्राकृत देह का प्रधान आधार है, औषधि के क्रियाशील तत्त्व के समान इसका प्रभाव भी सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है । आत्मा का यही प्रभाव देह में चेतना के रूप में अनुभूत होता है ; यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है । साधारण बुद्धि वाला भी जानता है कि चेतना-शून्य प्राकृत देह मृत हो जाती है; किसी भी प्राकृत उपचार से उसमें चेतना का पुनःसंचार नहीं किया जा सकता । यह प्रत्यक्ष है कि चेतना का कारण कोई प्राकृत सम्मिश्रण नहीं, अपितु आत्मा है । 'मुण्डकोपनिषद्' में आत्मा के परिमाण का अधिक वर्णन है :

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणाः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोत्तं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येषात्मा ॥

"अणु परिमाण वाला आत्मा बुद्धियोग से जाना जाता है । पंचप्राणों (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान) में प्रवाहमान होता हुआ यह अणु-आत्मा हृदय में स्थित रह कर बद्ध जीव के सम्पूर्ण शरीर में अपना प्रभाव विकीर्णित करता है । पंच प्राणों के दोषों से आत्मा के मुक्त होने पर ही उसका दिव्य स्वरूप प्रकट होता है ।" (मुण्ड० ३.१.९)

हठ-योग का प्रयोजन विविध आसनों के द्वारा उन पञ्चप्राणों का निग्रह करना है, जिनसे शुद्ध स्वरूप आत्मा परिवेष्टित है; यह साधन लौकिक

लाभ के लिए नहीं, भव-परिवेश से अणु आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार, अणु-आत्मा का चिन्मय स्वरूप सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सुधिजनों को इसका व्यावहारिक अनुभव भी प्राप्त है। अतएव जो अणु-आत्मा को सर्वव्यापक विष्णु-तत्त्व कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है।

अणु-आत्मा का प्रभाव किसी एक देह मे ही व्याप्त रहता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, यह अणु-आत्मा सब जीवों के हृदय में स्थित है। संसार के वैज्ञानिकों के लिए यह सर्वथा अप्रमेय है। इसी कारण उनमें से कुछ तो अपनी मूर्खता का परिचय देते हुए आत्मा के स्वरूप का निराकरण करने का भी दुस्साहस कर बैठते हैं। परमात्मा के साथ अणु-जीवात्मा भी निश्चित रूप से देह के हृद्देश में विद्यमान है। शरीर की क्रिया-शक्ति का यही उद्गम है। फेफड़ो से आक्सीजन का संवहन करने वाले कोश आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इस स्थानसे आत्मा के हट जाने पर संलयन के कारण रुधिर-क्रिया का निवर्तन हो जाता है। चिकित्सा-विज्ञान भी रक्त-कोशों का महत्त्व स्वीकार करता है। किन्तु वह यह जान पाने में समर्थ नही है कि उन कोशो का शक्ति-स्रोत आत्मा है। तथापि, चिकित्सा-विज्ञान इतना तो स्वीकार करता ही है कि सब शारीरिक शक्तियों का केन्द्र हृदय है।

परमात्मा के ये अणु-अंश सूर्य-ज्योति के परमाणुओं के तुल्य हैं। सूर्य ज्योति में संख्यातीत जाज्वल्यमान परमाणु रहते हैं। इसी भाँति परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्नांश उनकी प्रभा नामक परा-प्रकृति के अणु-अंश हैं। वैदिक ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान, दोनों ही देह में आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नही करते; भगवद्गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं आत्म-विद्या का विशद प्रतिपादन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

अन्तवन्तः=नाशवान्; इमे=ये; देहाः=भौतिक शरीर; [illegible]

नित्य स्वरूप; **उक्ताः**=कहे जाते हैं; **शरीरिणः**=बद्ध जीवात्मा के; **अनाशिनः**=सनातन; **अप्रमेयस्य**=अप्रमेय; **तस्मात्**=इसलिए; **युध्यस्व**=युद्ध कर; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन।

अनुवाद

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहने वाले आत्मा की प्राकृत देह ही नाशवान् है। अतएव हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

तात्पर्य

प्राकृत देह स्वभाव से नाशवान् है। उसका विनाश तत्काल हो, अथवा सौ वर्ष बाद, इसमें केवल समय का ही प्रश्न है। उसे अनिश्चित काल तक बनाये रखने की कोई सम्भावना नहीं। दूसरी ओर, चिन्मय आत्मा इतना सूक्ष्म है कि उसका वध करना तो दूर रहा, शत्रु उसे देख भी नहीं सकता, जैसा पूर्व श्लोक में कहा गया है। अति सूक्ष्म होने से उसका माप भी नहीं किया जा सकता। अतएव इन दोनों दृष्टिकोणों से शोक करने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप नित्य-अवध्य है और प्राकृत देह को नित्य बनाए रखना असम्भव है ही। परमात्मा के सूक्ष्मांश आत्मा को प्राकृत देह की प्राप्ति कर्मानुसार होती है। इसलिए धर्म का ही आचरण करे। 'वेदांत सूत्र' में जीवात्मा को ज्योति की उपमा दी गयी है, वह परम ज्योति-स्वरूप श्रीभगवान् का भिन्नांश है। सूर्य-ज्योति द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के संपोषण की भांति आत्म-ज्योति इस प्राकृत देह का संभरण करती है। प्राकृत देह से चिन्मय आत्मा के गमन करते ही देह का विघटन होने लगता है। प्रत्यक्षतः देह का अस्तित्व आत्मा से ही है, उस की अपनी कुछ भी महत्ता नहीं। अतएव अर्जुन को स्वधर्म-पालनरूप युद्ध करते हुए प्राकृत देह का उत्सर्ग करने का परामर्श दिया गया है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

यः=जो; **एनम्**=इस आत्मा को; **वेत्ति**=जानता है; **हन्तारम्**=मारने वाला; **यः**=जो; **च**=तथा; **एनम्**=इसे; **मन्यते**=मानता है;

हतम्=मरा; उभौ=दोनों ही; तौ=वे; न=नहीं; विजानीतः=जानते; न=न; अयम्=यह; हन्ति=मारता है; न=नहीं; हन्यते=मारा जाता है।

अनुवाद

जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है, और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं। यथार्थ ज्ञानी जानता है कि यह आत्मा न तो मारता है और न ही कभी मारा जाता है ॥१६॥

तात्पर्य

किसी घातक शस्त्र का आघात होने पर भी देह में आवद्ध हुए जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती। जैसा पूर्व श्लोकों में सिद्ध किया जा चुका है जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि किसी भी प्राकृत शस्त्र से उसका वध नहीं किया जा सकता। अपने अप्राकृत स्वरूप के कारण भी जीवात्मा अवध्य है। मृत्यु तो केवल देह की ही होती है। किन्तु इसका तात्पर्य देह-हिंसा को प्रोत्साहित करना नहीं है। वैदिक निर्देश है, 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि', 'किसी भी जीव की हिंसा कभी न करें।' आत्मा की अवध्यता के ज्ञान से पशु-हिंसा अभिप्रेत नहीं है। किसी भी जीव-देह की अनाधिकार हत्या करना निंद्य है एवं राज्य और भगवद् विधान के अनुसार दण्डनीय भी है। परन्तु अर्जुन को तो वध में धर्मार्थ नियुक्त किया जा रहा है, स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न=न; जायते=जन्मता है; म्रियते=मरता है; वा=और; कदाचित्=कभी; न=नहीं; अयम्=यह; भूत्वा=होकर; भविता=होने वाला

है; **वा**=अथवा; **न**=नहीं; **भूयः**=फिर; **अजः**=अजन्मा; **नित्यः**=नित्य; **शाश्वतः**=सनातन; **अयम्**=यह; **पुराणः**=प्राचीनतम; **न**=नहीं; **हन्यते**=मरता; **हन्यमाने**=नाश होने पर भी; **शरीरे**=देह के।

अनुवाद

आत्मा किसी भी काल में न तो जन्मता है और न मरता ही है। तथा एक वार होकर यह कभी नष्ट भी नहीं होता। यह नित्य, अजन्मा, शाश्वत् तथा पुरातन है। देह का वध होने पर भी आत्मा का वध नहीं होता ॥ २० ॥

तात्पर्य

परमात्मा तथा उनके अणु-तुल्य भिन्नांश जीवात्मा में गुणतया अभेद है, दोनों समान चिद्गुणों से युक्त हैं। यही कारण है कि आत्मा देह के समान विकारी नहीं है। इसलिए आत्मा को 'कूटस्थ' भी कहा जाता है। देह में छह प्रधान विकार (परिवर्तन) होते हैं। मां के गर्भ में उसका जन्म होता है, कुछ काल तक अस्तित्व में रहता है, वढ़ता है, कुछ उत्पत्ति करता है तथा क्रमशः क्षय को प्राप्त होकर अन्त में लुप्त हो जाता है। आत्मा इन सभी विकारों से नित्य मुक्त है। वह स्वयं अजन्मा है, जन्म तो उसके द्वारा गृहीत प्राकृत देह का ही होता है। आत्मा का कभी जन्म-मरण नहीं होता। जन्म लेने वाले की मृत्यु भी अवश्य होती है। इस न्याय से अजन्मा आत्मा के लिए भूत-वर्तमान-भविष्य का भेद नहीं है। वह नित्य, शाश्वत् तथा पुराण है, उसकी उत्पत्ति का कोई इतिहास नहीं है। देह में आत्मवुद्धि रखने के कारण ही हम आत्मा के जन्मादि का इतिहास जानना चाहते हैं। देह की भांति आत्मा कभी वृद्ध भी नहीं होता। यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि वृद्ध कहे जाने वाले व्यक्ति भी अपने अन्तर में उसी आत्म-तत्त्व का अनुभव करते हैं, जैसा यौवन और शैशव-काल में करते थे। देहगत विकार (परिवर्तन) आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा वृक्ष आदि अन्य प्राकृत वस्तु के समान क्षय को प्राप्त नहीं होता। आत्मा से उपसृष्टि भी नहीं होती। देह से उत्पन्न हुई सन्तान भी विभिन्न जीवात्माएं हैं, देह के सम्वन्ध से ही वे किसी की सन्तति प्रतीत होती हैं। आत्मा की उपस्थिति से देह अभिवृद्धित होती है, किन्तु स्वयं

आत्मा में विकार अथवा प्रजनन नहीं होता।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि शरीर में होने वाले छह प्रकार के विकारों से आत्मा सर्वथा मुक्त है। 'कठोपनिषद्' मे इसके सदृश एक श्लोक प्राप्त होता है —

न जायते म्रियते वा विपश्चिन् नायं कुतश्चिन्न बिभूव कश्चित्।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० १.२.८)

इस श्लोक का अर्थ और तात्पर्य भगवद्गीता के उपरोक्त श्लोक के समान है। परन्तु यहाँ एक विशिष्ट शब्द का प्रयोग हुआ है: 'विपश्चित्' अर्थात् 'ज्ञानवान्'।

आत्मा ज्ञान अथवा चेतना से नित्य पूर्ण रहता है। यह चेतना ही आत्मा का स्वरूप लक्षण है। यदि आत्मा का अनुभव उसके अवस्थान—हृदय में न हो तो भी चेतना की उपस्थिति से उसके अस्तित्व का ज्ञान हो सकता है। मेघ अथवा किसी अन्य कारण से कभी-कभी आकाश में सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु सूर्यप्रकाश से हम जान जाते है कि यह दिन का समय है। प्रातःकालिक आकाश में थोड़ा सा भी प्रकाश होने से हम समझ जाते है कि सूर्योदय हो गया। इसी प्रकार मानव, पशु, आदि सब देहों में न्यूनाधिक चेतना रहती ही है, जिससे आत्मा का अनुभव हो जाता है। परन्तु यह आत्म-चेतना परमतत्त्व परमात्मा की चेतना से भिन्न है, क्योंकि परम चैतन्य सर्वज्ञ (भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञाता) है, जबकि जीवात्मा की चेतना विस्मरणशील है। जब-जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को भुला बैठता है, तब-तब उसे श्रीकृष्ण के उपदेश से सत्-शिक्षा और बोध की प्राप्ति होती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण जीवात्मा के समान विस्मरणशील नहीं है। यदि ऐसा होता तो उनके द्वारा दी गई भगवद्गीता की शिक्षा व्यर्थ ही होती।

परिमाण-भेद से आत्मा दो प्रकार के है—अणु-आत्मा एवं विभु-आत्मा। कठोपनिषद् में भी यह प्रमाणित है:

अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानं आत्मनः॥
(कठ. १. २.२०)

"परमात्मा एवं अणु-आत्मा, दोनों शरीर रूपी वृक्ष पर जीव के हृदय में अवस्थित हैं। विषय-वासनाओं और शोक से पूर्णतः मुक्त हुआ पुरुष ही भगवत्कृपा से आत्मा की महिमा को हृदयंगम कर सकता है। श्रीकृष्ण परमात्मा के भी उद्गम हैं, जैसा अगले अध्यायों में कहा गया है। दूसरी ओर, अर्जुन उस अणु-आत्मा के समान है, जो अपने स्वरूप को भूल बैठता है। अतएव उसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि (सद्गुरु) से प्रबोध प्राप्त करने की नितान्त आवश्यकता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

वेद=जानता है; **अविनाशिनम्**=अविनाशी; **नित्यम्**=नित्य; **यः**=जो; **एनम्**=इस आत्मा को; **अजम्**=अजन्मा; **अव्ययम्**=निर्विकार; **कथम्**=किस प्रकार; **सः**=वह; **पुरुषः**=व्यक्ति; **पार्थ**=हे पार्थ (अर्जुन); **कम्**=किसको; **घातयति**=मरवाता है; **हन्ति**=मारता है; **कम्**=किसको।

अनुवाद

हे पार्थ! आत्मा को नित्य अविनाशी, अजन्मा और अव्यय जानने वाला किस प्रकार किसी को मार सकता है, अथवा मरवा सकता है॥ २१॥

तात्पर्य

प्रत्येक पदार्थ की अपनी समुचित उपयोगिता होती है। पूर्ण ज्ञानी में यह विशेषता रहती है कि वह देशकाल के अनुसार पदार्थों का यथोचित उपयोग करना जानता है। हिंसा की भी उपयुक्तता है, परन्तु उसका उचित उपयोग ज्ञानी पर निर्भर करता है। हत्यारे को प्राणदण्ड देने वाले न्यायाधीश को दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न्याय-संहिता के अनु-

सार ही वह किसी की हिंसा का विधान करता है। मानव-मात्र के धर्म-शास्त्र 'मनु संहिता' में कथन है कि हत्यारे को प्राण-दण्ड देना उचित है, जिससे पुनर्जन्म में वह उस महान् पाप कर्म का फल भोगने को बाध्य न हो। वधकर्ता को प्राण-दण्ड देने वाली राजाज्ञा यथार्थ में उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। इसी भांति, जब श्रीकृष्ण युद्ध करने की आज्ञा देते हैं तो यह निश्चित समझना चाहिए कि इस प्रसंग में हिंसा परम न्याय के लिए अभिप्रेत है। अतः यह भली भांति जानकर कि श्रीकृष्ण के निमित्त से किये गये युद्ध में हुई हिंसा वस्तुतः हिंसा नहीं है, अर्जुन को भगवान् की इस आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। आत्मा सर्वथा अवध्य है। इस कारण न्याय के हेतु हिंसा की जा सकती है। शल्य-क्रिया का प्रयोजन रोगी को स्वास्थ्य-लाभ कराना है, मारना नहीं। श्रीकृष्ण की शिक्षानुसार अर्जुन द्वारा होने वाली युद्ध-क्रिया पूर्ण ज्ञान से युक्त है। इसलिए उससे किंचित् भी पाप-फल नहीं बन सकता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

वासांसि=वस्त्रों को; जीर्णानि=पुराने; यथा=जिस प्रकार; विहाय=त्याग कर; नवानि= नये वस्त्र; गृह्णाति=ग्रहण करता है; नरः= मनुष्य; अपराणि=दूसरे; तथा=वैसे ही; शरीराणि=शरीरों को; विहाय=त्याग कर; जीर्णानि=जीर्ण हुए; अन्यानि=दूसरे; संयाति= धारण करता है; नवानि=नूतन; देही=देहबद्ध आत्मा।

अनुवाद

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नूतन देह ग्रहण करता है ॥ २२ ॥

तात्पर्य

अणु जीवात्मा का देहान्तर करता है—यह एक स्वीकृत सत्य है। हृदय से शक्ति का उद्गम किस प्रकार होता है, यह बताने में असमर्थ होते हुए भी जो आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते, वे भी यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि शैशव से कौमार, कौमार से यौवन तथा यौवन से जरा के रूप में देह में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अन्त में वृद्धावस्था के अनन्तर, देहान्तर हो जाता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया जा चुका है।

अणु-आत्मा परमात्मा की कृपा से ही देहान्तर करता है। जिस प्रकार सखा सखा की वांछा की पूर्ति करता है, उसी भांति परमात्मा भी जीवात्मा की अभीप्सा पूर्ण करते हैं। वेद, 'मुण्डक' तथा 'श्वेताश्वतर उपनिषदों' में जीवात्मा तथा परमात्मा को एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्र पक्षियों की उपमा दी गई है। उनमें से एक (अणु जीवात्मा) वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी (श्रीकृष्ण) केवल अपने सखा को देखता रहता है। चिद्गुणों में समान होते हुए भी एक पक्षी तो विषय-वृक्ष के फलों से मोहित हो जाता है, जबकि दूसरा उस सखा की क्रियाओं का साक्षी मात्र है। श्रीकृष्ण साक्षी-पक्षी हैं और अर्जुन फल खाने वाला विहंग है। सखा होने पर भी उनमें से एक स्वामी है और दूसरा सेवक। अणु जीवात्मा द्वारा इस सम्बन्ध को भुला देना ही उसके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने अर्थात् देहान्तर करने में कारण है। प्राकृत देह रूपी वृक्ष पर जीवात्मा जीवन के लिए घोर संघर्ष कर रहा है। किन्तु दूसरे पक्षी को परम गुरु स्वीकार करते ही, अर्थात् अर्जुन की भांति शिक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही पर-तन्त्र पक्षी (जीव) सम्पूर्ण शोक से तत्क्षण मुक्त हो जाता है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इसकी भी संपुष्टि है :

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

एक ही वृक्ष पर स्थित हुए दोनों पक्षियों में से जो वृक्ष के फल का भोक्ता है, वह उद्वेग तथा विषाद से पूर्णतया ग्रस्त हो रहा है। यदि वह

किसी प्रकार अपने सखा श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उनकी महिमा को आत्मसात् कर ले तो अविलम्ब शोकमुक्त हो जाय। अर्जुन भी इस समय अपने नित्य सखा भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर उनसे भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस भाँति स्वयं श्रीकृष्ण से श्रवण करके उनके परम माहात्म्य को हृदयंगम करने से वह निस्सन्देह शोकमुक्त हो जायगा।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को यह परामर्श दिया है कि वह अपने वृद्ध पितामह, भीष्म तथा गुरु द्वारा देहान्तर करने पर शोक न करे। उनका तर्क है कि धर्मयुद्ध में उनके कलेवरों का वध करके उन्हें विविध देह-जन्य-पापों से मुक्त कर देने में उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। यज्ञाहुति अथवा धर्मयुद्ध में प्राण विसर्जन करने वाला सकल देह-जन्य पापों से अविलम्ब मुक्त हो कर उच्चलोक प्राप्त करताहै। इस कारण अर्जुन के शोक का कोई भी युक्तिसम्मत हेतु नहीं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

न=नहीं; एनम्=इस आत्मा को; छिन्दन्ति=काट सकते हैं; शस्त्राणि=शस्त्र; न=नहीं; एनम्=इस आत्मा को; दहति=जला सकती है; पावकः=अग्नि; न=नहीं; च=तथा; एनम्=इसे; क्लेदयन्ति=गीला कर सकता है; आपः=जल; न=नहीं; शोषयति=सुखा सकता है; मारुतः=वायु।

अनुवाद

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकता ॥२३॥

तात्पर्य

ज्वाला, वर्षा, चक्रावात तथा खड्ग आदि किसी भी शस्त्र से का वध नहीं किया जा सकता। प्रतीत होता है कि आधुनिक अस्त्रों के अतिरिक्त पूर्व काल में अनेक पार्थिव, जलीय, वायव्य

तात्पर्य

अणु जीवात्मा का देहान्तर करता है—यह एक स्वीकृत सत्य है। हृदय से शक्ति का उद्गम किस प्रकार होता है, यह बताने में असमर्थ होते हुए भी जो आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते, वे भी यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि शैशव से कौमार, कौमार से यौवन तथा यौवन से जरा के रूप में देह में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अन्त में वृद्धावस्था के अनन्तर, देहान्तर हो जाता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया जा चुका है।

अणु-आत्मा परमात्मा की कृपा से ही देहान्तर करता है। जिस प्रकार सखा सखा की वांछा की पूर्ति करता है, उसी भांति परमात्मा भी जीवात्मा की अभीप्सा पूर्ण करते हैं। वेद, 'मुण्डक' तथा 'श्वेताश्वतर उपनिषदों' में जीवात्मा तथा परमात्मा को एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्र पक्षियों की उपमा दी गई है। उनमें से एक (अणु जीवात्मा) वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी (श्रीकृष्ण) केवल अपने सखा को देखता रहता है। चिद्गुणों में समान होते हुए भी एक पक्षी तो विषय-वृक्ष के फलों से मोहित हो जाता है, जबकि दूसरा उस सखा की क्रियाओं का साक्षी मात्र है। श्रीकृष्ण साक्षी-पक्षी हैं और अर्जुन फल खाने वाला विहंग है। सखा होने पर भी उनमें से एक स्वामी है और दूसरा सेवक। अणु जीवात्मा द्वारा इस सम्बन्ध को भुला देना ही उसके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने अर्थात् देहान्तर करने में कारण है। प्राकृत देह रूपी वृक्ष पर जीवात्मा जीवन के लिए घोर संघर्ष कर रहा है। किन्तु दूसरे पक्षी को परम गुरु स्वीकार करते ही, अर्थात् अर्जुन की भांति शिक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही पर-तन्त्र पक्षी (जीव) सम्पूर्ण शोक से तत्क्षण मुक्त हो जाता है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इसकी भी संपुष्टि है :

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

एक ही वृक्ष पर स्थित हुए दोनों पक्षियों में से जो वृक्ष के फल का भोक्ता है, वह उद्वेग तथा विषाद से पूर्णतया ग्रस्त हो रहा है। यदि वह

किसी प्रकार अपने सखा श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उनकी महिमा को आत्मसात् कर ले तो अविलम्ब शोकमुक्त हो जाय। अर्जुन भी इस समय अपने नित्य सखा भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर उनसे भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस भाँति स्वयं श्रीकृष्ण से श्रवण करके उनके परम माहात्म्य को हृदयंगम करने से वह निस्सन्देह शोकमुक्त हो जायगा।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को यह परामर्श दिया है कि वह अपने वृद्ध पितामह, भीष्म तथा गुरु द्वारा देहान्तर करने पर शोक न करे। उनका तर्क है कि धर्मयुद्ध में उनके कलेवरों का वध करके उन्हें विविध देह-जन्य-पापों से मुक्त कर देने में उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। यज्ञाहुति अथवा धर्मयुद्ध में प्राण विसर्जन करने वाला सकल देह-जन्य पापों से अविलम्ब मुक्त हो कर उच्चलोक प्राप्त करता है। इस कारण अर्जुन के शोक का कोई भी युक्तिसम्मत हेतु नहीं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

न=नहीं; एनम्=इस आत्मा को; छिन्दन्ति=काट सकते हैं; शस्त्राणि=शस्त्र; न=नहीं; एनम्=इस आत्मा को; दहति=जला सकती है; पावकः=अग्नि; न=नहीं; च=तथा; एनम्=इसे; क्लेदयन्ति=गीला कर सकता है; आपः=जल; न=नहीं; शोषयति=सुखा सकता है; मारुतः=वायु।

अनुवाद

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकता॥२३॥

तात्पर्य

ज्वाला, वर्षा, चक्रवात तथा खड्ग आदि किसी भी शस्त्र से आत्मा का वध नहीं किया जा सकता। प्रतीत होता है कि आधुनिक आग्नेय अस्त्रों के अतिरिक्त पूर्व काल में अनेक पार्थिव, जलीय, वायव्य तथा

आकाशादि से निर्मित शस्त्र भी थे। आधुनिक परमाणु शस्त्र आग्नेय शस्त्रों की श्रेणी में आते हैं। परन्तु पूर्व में सभी पांचभौतिक तत्त्वों से निर्मित शस्त्र प्रचलित थे। आग्नेय शस्त्रों का प्रतिकार वारुणी शस्त्रों से होता है, जो आधुनिक विज्ञान के लिए अज्ञात हैं। आधुनिक विज्ञान को चक्रावात शस्त्रों का भी ज्ञान नहीं है। इन सब वैज्ञानिक उपकरणों के होते हुए भी आत्मा का न तो छेदन किया जा सकता है और न नाश ही।

अतएव मायावादी अपने इस मत को सिद्ध नहीं कर सकते कि जीव मूल रूप में परमात्मा से अभिन्न था, परन्तु अज्ञान के कारण उनसे पृथक् होकर माया द्वारा आवृत हो गया। जब अणु-आत्मा का भी छेदन नहीं किया जा सकता, जैसा श्रीभगवान् स्वयं कह रहे हैं, तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि जीवों के रूप में परमात्मा का विच्छेद हो। सत्य यह है कि अणु-जीवात्मा और परमात्मा में सनातन (नित्य) भेद हैं। यही कारण है कि जीव माया-आवरण में पतनशील हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्ण का संग खो बैठते हैं। यह इस प्रकार समझा जा सकता है। अग्नि के स्फुलिंग गुणों में अग्नि के ही समान होते हैं, परन्तु अग्नि से अलग होते ही वे निस्तेज हो जाते हैं। 'वराह पुराण' में जीव को परमात्मा का भिन्न-अंश कहा गया है। भगवद्गीता के अनुसार भी जीव का सनातन स्वरूप यही है। अतएव सिद्ध होता है कि माया से मुक्त हो जाने पर भी जीवात्मा का पृथक् स्वरूप बना रहता है, जैसा अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् की शिक्षा से स्पष्ट है। श्रीकृष्ण से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा अर्जुन निस्सन्देह मुक्त हो गया; फिर भी श्रीकृष्ण से उसका ऐक्य नहीं हुआ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अच्छेद्यः=काटा नहीं जा सकता है; **अयम्**=यह आत्मा; **अदाह्यः**=जल नहीं सकता; **अयम्**=यह आत्मा; **अक्लेद्यः**=जल से क्षय को प्राप्त नहीं होता; **अशोष्यः**=सुखाया नहीं जा सकता; **एव**=निस्सन्देह; **च**=तथा; **नित्यः**=नित्य; **सर्वगतः**=सर्वव्यापक; **स्थाणुः**=अविकारी; **अचलः** स्थिर रहने वाला; **अयम्**=यह आत्मा; **सनातनः**=शाश्वत्।

अनुवाद

यह आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य है, अदाह्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अविकारी, स्थिर रहने वाला, सनातन है ॥२४॥

तात्पर्य

आत्मा के ये सब गुण निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि वह परमात्मा का नित्य अणु-अंश है। आत्मा अविकारी है, वह सदा इसी रूप में रहता है। अतएव इस सन्दर्भ में अद्वैतवाद को सिद्ध करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अणु आत्मा गुणों में परमात्मा के समरूप कभी नहीं हो सकता। माया बन्धन से मुक्त हुआ अणु-आत्मा दिव्य स्फुलिंग के रूप में जाज्वल्यमान भगवद्ज्योति में निवास भी कर सकता है। परन्तु बुद्धिमान् जीव तो श्रीभगवान् का सङ्ग करने के लिए भगवद्धामों में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

'सर्वगतः' शब्द महत्त्वपूर्ण है। निःसन्देह जीवात्मा श्रीभगवान् की सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे जल, वायु, आकाश पृथ्वी के भीतर तथा अग्नि में भी स्थित हैं। जो मत यह कहता है कि वे अग्नि में निर्जीव हो जाते हैं, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहां स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा 'अदाह्य' है अर्थात् इसे अग्नि जला नहीं सकता। अतः इस में सन्देह नहीं कि सूर्यलोक में भी उपयुक्त कलेवर वाले जीवात्मा हैं। यदि सूर्यलोक निर्जन हो तो 'सर्वगतः' शब्द निरर्थक हो जायगा।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अव्यक्तः=इन्द्रियों से अतीत; अयम्=यह आत्मा; अचिन्त्यः=चिन्तन से अतीत; अयम्=यह आत्मा; अविकार्यः=विकारों से मुक्त; अयम्=यह आत्मा; उच्यते=कहा जाता है; तस्मात्=इसलिए; एवम्=इस प्रकार; विदित्वा=भली-भांति जानकर; एनम्=इस आत्मा को; न=नहीं; अनुशोचितुम्=शोक करने के; अर्हसि=(तू) योग्य है।

अनुवाद

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी कहा जाता है। इसे ऐसा जानकर तुझे देह के लिए शोक नहीं करना चाहिए ॥२५॥

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, आत्मा का परिमाण हमारी लौकिक गणना के लिए इतना सूक्ष्म है कि सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण-यन्त्र के द्वारा भी उसे देखा नहीं जा सकता। वह वस्तुतः अदृश्य ही है। अतः श्रुति-प्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोग के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें यह सत्य स्वीकार करना होगा, कि आत्मा के अस्तित्व के ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं है, यद्यपि यह एक अनुभव-गम्य सत्य है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जिन्हें उच्च प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार करना पड़ता है। पिता का अस्तित्व माता के प्रमाण पर आधारित है, जिसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। मातृ-प्रमाण के अतिरिक्त पिता को जानने का कोई अन्य साधन नहीं है। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान वेदाध्ययन से ही लभ्य है। भाव यह है कि मानवीय प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए आत्मा सर्वथा अचिन्त्य है। हमें वेद के इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा चेतना भी है और चैतन्य भी। शरीर के धर्म के विपरीत, आत्मा नित्य अविकारी है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि अनन्त विभु-आत्मा की तुलना में आत्मा सदा अणु-तुल्य रहता है। विभु-आत्मा अनन्त है, जबकि जीवात्मा अणुतम है। आत्मतत्त्व में विकार नहीं होता, इसलिए अणु जीवात्मा और अनन्त आत्मा (भगवान्) में नित्य यही सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जीव श्रीभगवान् के तुल्य कदापि नहीं हो सकता। आत्मा का पृथक् स्वरूप है इस सत्य को असंदिग्ध रूप से स्थापित करने के लिए वेद में उपरोक्त सिद्धान्त की नाना रूपों में पुनरुक्ति की गयी है। किसी-किसी तत्त्व के निर्दोष और पूर्ण ज्ञान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

अथ च=और यदि; **एनम्**=इस आत्मा को; **नित्यजातम्**=नित्य जन्मने वाला; **नित्यम्**=सदा; **वा**=अथवा; **मन्यसे**=मानता है; **मृतम्**=

मरने वाला; तथापि=ऐसा होने पर भी; त्वम्=तू; महाबाहो=हे महाबाहु; न=नहीं; एनम्=इस आत्मा के लिए; शोचितुम्=शोक करने के; अर्हसि=योग्य है।

अनुवाद

यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी माने, तो भी हे महाबाहु! तेरे लिए शोक का कोई कारण नहीं है ॥२६॥

तात्पर्य

मानव-समाज में दार्शनिकों का एक ऐसा दल सदा रहता है, जो बौद्धों की ही भाति यह नहीं मानता कि देह से अतीत आत्मा का कोई पृथक् स्वरूप भी है। प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन किया, उस समय भी इस कोटि के दार्शनिक विद्यमान थे। उन्हें 'लोकायतिक' और 'वैभाषिक' कहा जाता था। इन दार्शनिकों के मत में प्राकृत तत्त्वो के सम्मिश्रण की एक विशेष परिपक्व अवस्था में जीवन-लक्षण अथवा आत्मा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक प्राकृत वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों की भी यही विचार धारा है। उनके अनुसार, शरीर की रचना केवल स्थूल तत्त्वों से हुई है तथा एक विशेष अवस्था में स्थूल तथा रासायनिक तत्त्वों की अन्तःक्रिया से जीवन-लक्षण प्रकट होते है। मानवीय संरचना-विज्ञान इसी मत पर आधारित है। आजकल पाश्चात्य जगत् में लोकप्रिय हो रहे अनेक प्रकार के धर्म भी इस मत का और शून्यवाद को मानने वाले अभक्त बौद्धों का अनुसरण कर रहे हैं।

यदि वैभाषिक मत के अनुसार अर्जुन का आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास नही है, तो भी शोक का कोई हेतु नही बनता। रसायनों की थोड़ी सी मात्रा के लिए शोक से विह्वल होकर अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग कोई नही करता। आधुनिक विज्ञान तथा युद्ध मे तो शत्रु-विजय के निमित्त रसायनों को प्रचुर परिमाण में नष्ट किया जाता है। वैभाषिक दर्शन का कहना है कि शरीर का क्षय होने के साथ ही तथाकथित आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतएव अर्जुन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अणु-आत्मा के अस्तित्व को माने या न माने, दोनों ही स्थितियों में उसके

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, आत्मा का परिमाण हमारी लौकिक गणना के लिए इतना सूक्ष्म है कि सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण-यन्त्र के द्वारा भी उसे देखा नहीं जा सकता। वह वस्तुतः अदृश्य ही है। अतः श्रुति-प्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोग के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें यह सत्य स्वीकार करना होगा, कि आत्मा के अस्तित्व के ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं है, यद्यपि यह एक अनुभव-गम्य सत्य है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जिन्हें उच्च प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार करना पड़ता है। पिता का अस्तित्व माता के प्रमाण पर आधारित है, जिसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। मातृ-प्रमाण के अतिरिक्त पिता को जानने का कोई अन्य साधन नहीं है। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान वेदाध्ययन से ही लभ्य है। भाव यह है कि मानवीय प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए आत्मा सर्वथा अचिन्त्य है। हमें वेद के इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा चेतना भी है और चैतन्य भी। शरीर के धर्म के विपरीत, आत्मा नित्य अविकारी है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि अनन्त विभु-आत्मा की तुलना में आत्मा सदा अणु-तुल्य रहता है। विभु-आत्मा अनन्त है, जबकि जीवात्मा अणुतम है। आत्मतत्त्व में विकार नहीं होता, इसलिए अणु जीवात्मा और अनन्त आत्मा (भगवान्) में नित्य यही सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जीव श्रीभगवान् के तुल्य कदापि नहीं हो सकता। आत्मा का पृथक् स्वरूप है इस सत्य को असंदिग्ध रूप से स्थापित करने के लिए वेद में उपरोक्त सिद्धान्त की नाना रूपों में पुनरुक्ति की गयी है। किसी-किसी तत्त्व के निर्दोष और पूर्ण ज्ञान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

अथ च=और यदि; **एनम्**=इस आत्मा को; **नित्यजातम्**=नित्य जन्मने वाला; **नित्यम्**=सदा; **वा**=अथवा; **मन्यसे**=मानता है; **मृतम्**=

मरने वाला; तथापि=ऐसा होने पर भी; त्वम्=तू; महाबाहो=हे महा-बाहु; न=नहीं; एनम्=इस आत्मा के लिए; शोचितुम्=शोक करने के; अर्हसि=योग्य है।

अनुवाद

यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी माने, तो भी हे महाबाहु ! तेरे लिए शोक का कोई कारण नहीं है ॥२६॥

तात्पर्य

मानव-समाज में दार्शनिकों का एक ऐसा दल सदा रहता है, जो बौद्धों की ही भांति यह नहीं मानता कि देह से अतीत आत्मा का कोई पृथक् स्वरूप भी है। प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन किया, उस समय भी इस कोटि के दार्शनिक विद्यमान थे। उन्हें 'लोकायतिक' और 'वैभाषिक' कहा जाता था। इन दार्शनिकों के मत में प्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण की एक विशेष परिपक्व अवस्था में जीवन-लक्षण अथवा आत्मा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक प्राकृत वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों की भी यही विचार धारा है। उनके अनुसार, शरीर की रचना केवल स्थूल तत्त्वों से हुई है तथा एक विशेष अवस्था में स्थूल तथा रासायनिक तत्त्वों की अन्तःक्रिया से जीवन-लक्षण प्रकट होते हैं। मानवीय संरचना-विज्ञान इसी मत पर आधारित है। आजकल पाश्चात्य जगत् में लोकप्रिय हो रहे अनेक प्रकार के धर्म भी इस मत का और शून्यवाद को मानने वाले अभक्त बौद्धों का अनुसरण कर रहे हैं।

यदि वैभाषिक मत के अनुसार अर्जुन का आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं है, तो भी शोक का कोई हेतु नहीं बनता। रसायनों की थोड़ी सी मात्रा के लिए शोक से विह्वल होकर अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग कोई नहीं करता। आधुनिक विज्ञान तथा युद्ध में तो शत्रु-विजय के निमित्त रसायनों को प्रचुर परिमाण में नष्ट किया जाता है। वैभाषिक दर्शन का कहना है कि शरीर का क्षय होने के साथ ही तथाकथित आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतएव अर्जुन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अणु-आत्मा के अस्तित्व को माने या न माने, दोनों ही स्थितियों में उसके

लिये शोक का कोई युक्तिसंगत हेतु नहीं है। इस मत के अनुसार प्रतिक्षण अनेक आत्माओं की जड़ प्रकृति से उत्पत्ति होती रहती है और अनेक का निरन्तर नाश भी होता रहता है, इसलिए ऐसे प्रसंग में शोक करना सर्वथा अप्रयोजनीय है। पितामह एवं गुरु के वध से वनने वाले पाप की आशंका से भयभीत होना भी अर्जुन के लिए हेतुसंगत नहीं, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार आत्मा का पुनर्जन्म तो होता ही नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को व्यंग पूर्वक 'महाबाहु' सम्बोधित किया, क्योंकि इस वैभाषिक मत को, जो वैदिक ज्ञान के सर्वथा प्रतिकूल है, वे स्वीकार नहीं करते। क्षत्रिय होने से अर्जुन वैदिक संस्कृति का अनुयायी सिद्ध होता है। अतएव वैदिक सिद्धान्तों का अनुसरण करते रहना ही उसके लिये योग्य होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जातस्य=जन्मने वाली की; **हि**=क्योंकि; **ध्रुवः**=निश्चित है; **मृत्युः**=मृत्यु; **ध्रुवम्**=निश्चित है; **जन्म**=जन्म; **मृतस्य**=मरने वाले का; **च**=तथा; **तस्मात्**=अतः; **अपरिहार्ये**=उपायरहित; **अर्थे**=विषय में; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **शोचितुम्**=शोक करने; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म भी निश्चित है। अतएव इस अनिवार्य स्वधम पालन में तू शोक करने के योग्य नहीं है ॥२७॥

तात्पर्य

प्रत्येक जीवात्मा अपने कर्मो के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर मरकर अगली के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता ही रहता है। परन्तु जन्म-मृत्यु का यह चक्र अप्रयोजनीय हत्या, वध तथा युद्ध को प्रोत्साहित नहीं करता। साथ ही, मानव समाज में नियम तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हिंसा तथा कदाचित् युद्ध भी अपरिहार्य हो जाते हैं।

भगवत्-इच्छावश कुरुक्षेत्र का युद्ध अवश्यंभावी था और सत्य के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भी है। अतः स्वधर्माचरण में सम्भावित स्वजन-वध से भय अथवा शोक उसे क्यों हो ? अर्जुन विधि-विधान के पालन में प्रमाद करने के योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर वह उसी पाप से लिप्त हो जायगा, जिसकी आशंका-मात्र उसे भय का अनुभव हो रहा है। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि स्वधर्माचरण से विमुख हो जाने पर भी स्वजनों की मृत्यु का परिहार तो वह कर नहीं सकेगा; परन्तु विकर्म-दोष से अध.पतन को ही प्राप्त होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अव्यक्तादीनि=जन्म से पूर्व विना शरीर वाले; भूतानि=सम्पूर्ण प्राणी; व्यक्त=शरीर धारण करते हैं; मध्यानि=मध्य में; भारत=हे भरतवंशी अर्जुन; अव्यक्त=अव्यक्त विना शरीर के; निधनानि=निधन होने पर; एव=इस प्रकार; तत्र=इस विषय में; का=क्या; परिदेवना =शोक है।

अनुवाद

सब प्राणी प्रारम्भ में, जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, तथा निधन होने पर पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। केवल मध्य में ही व्यक्त होते हैं, अर्थात् शरीर-धारण करते हैं, इसमें शोक का क्या कारण है ? ॥२८॥

तात्पर्य

आत्मा को मानने और न मानने वाले, इन दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों के मत के अनुसार शोक का कोई कारण नहीं है। जिनका आत्मा में विश्वास नहीं है, उन्हें वैदिक ज्ञान के अनुगामी अनीश्वरवादी कहते हैं। यदि तर्क करने के लिये नास्तिक-मत को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी शोक करना व्यर्थ सिद्ध होता है। आत्मा के पृथक् स्वरूप के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्राकृत तत्त्व सृष्टि से पूर्व अव्यक्त रहते हैं। इसी विरल अव्यक्त अवस्था से सृष्टि प्रकट होती है, जैसे आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि का प्रादुर्भाव होता है, अग्नि से जल

तथा जल से पृथ्वी की अभिव्यक्ति होती है। पृथ्वी से भी विविध पदार्थ होते हैं। जैसे एक गगनचुम्बी प्रासाद पृथ्वी से ही प्रव्यंजित होता है; विखण्डित होने पर पुन: अव्यक्त हो जाता है तथा अन्त में परमाणु रूप से विद्यमान रहता है। यह सिद्धान्त है कि ऊर्जा का कभी विनाश नहीं होता, यथासमय पदार्थ ही व्यक्त-अव्यक्त होते रहते हैं। ऐसे में व्यक्त अथवा अव्यक्त—किसी भी अवस्था के लिये शोक का क्या युक्ति-संगत हेतु हो सकता है? येन-केन-प्रकारेण अव्यक्त अवस्था में भी सृष्टि-तत्त्व का पूर्ण विनाश नहीं होता। आदि-अन्त में सब तत्त्व अव्यक्त रहते हैं, केवल मध्य में अभिव्यक्त होते हैं। वस्तुत: इन दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है।

हमें गीता में कहे गये इस वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा कि देह यथासमय नाशवान् हैं (अन्वन्त इमे देहा:), जबकि आत्मा नित्य है (नित्यस्योक्त: शारीरिण:)। साथ ही यह भी नित्य स्मरण रहे कि देह परिधान-मात्र है। अत: वस्त्र-परिवर्तन के लिये शोक क्यों किया जाय? सनातन आत्मा की दृष्टि से तो प्राकृत देह का कोई यथार्थ अस्तित्व ही नहीं है; वह वस्तुत: स्वप्न-तुल्य है। स्वप्न काल में हम आकाश में उड़ने अथवा नृप बनकर रथ में बैठे होने की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु जाग जाने पर जान सकते हैं कि हम न तो वास्तव में उड्डयन कर रहे हैं तथा न ही रथारूढ़ हैं। वैदिक ज्ञान प्राकृत देह की अनित्यता पर बल देकर हमें आत्मानुभूति करने की ओर प्रेरित करता है। सुतरां, चाहे आत्मा के अस्तित्व को माने अथवा न माने, दोनों ही पक्षों में देह नाश के लिये शोक करने का कोई कारण नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य:।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आश्चर्यवत्=आश्चर्य की भांति; **पश्यति**=देखता है; **कश्चित्**=कोई; **एनम्**=इस आत्मा को; **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की भांति; **वदति**=कहता है; **तथा**=वैसे; **एव**=ही; **च**=तथा; **अन्य:**=दूसरा;

आश्चर्यवत्=आश्चर्य की भांति; च=तथा; एनम्=इस आत्मा को; अन्य=दूसरा; शृणोति=श्रवण करता है; श्रुत्वा=सुनकर; अपि=भी; एनम्=इसे; वेद न=नही जानता; च=तथा; एव=ही; कश्चित्=कोई-कोई।

अनुवाद

कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भांति देखता है, वैसे दूसरा कोई इसके तत्त्व का आश्चर्य की भांति वर्णन करता है, कोई-कोई उसका आश्चर्य की भांति श्रवण करता है तथा कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नही जानता ॥२९॥

तात्पर्य

'गीतोपनिषद्' मुख्य रूप से उपनिषदो के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसलिए कठोपनिषद् मे इसके समान श्लोक का होना आश्चर्यदायक नही है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वतोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्ध्वा आश्चर्यो ज्ञात्वा कुशलानुशिष्टः॥

भीमकाय पंगु, वृहद् वटवृक्ष तथा परम सूक्ष्म जीवाणुओं मे भी अणु-आत्मा स्थित है—यह तथ्य निस्सन्देह अति विस्मयकारी है। विशेष रूप से, अल्पज्ञ और उच्छृंखल मनुष्य तो आद्य-जीव, ब्रह्मा के शिक्षक, ज्ञान के परम स्रोत श्रीभगवान् के उपदेश को सुनकर भी चैतन्य स्फुलिंग अणु-आत्मा की महिमा को हृदयंगम नही कर पाते। विषय-परायण होने से इस युग के अधिकांश लोग यह कल्पना भी नही कर सकते कि यह सूक्ष्म-आत्म-कण इतना अणु-तुल्य और साथ ही इतना महान् कैसे हो सकता है। इसी से आत्मा के स्वरूप-वर्णन को वे आश्चर्य की भांति देखते हैं। लोग मायावश इन्द्रिय तृप्ति करने मे इतने अधिक व्यस्त हो रहे हैं कि आत्म-ज्ञान के लिए उनके पास समय ही नही है, यद्यपि सत्य यह है इस कि आत्म-ज्ञान के बिना सव प्रकार की क्रिया करने पर भी जीवन-संघर्ष में अन्तः पराभव ही होता है। यह विचार कोई नही करता कि आत्म-जिज्ञासा कर सांसारिक दु:खों से मुक्त हो जाना चाहिए।

जो आत्म-तत्त्व के जिज्ञासु है वे सत्संग में उसका श्रवण करते हैं। किन्तु कभी-कभी अज्ञानवश परमात्मा तथा अणु-आत्मा में परिमाण-भेद किये विना दोनों को सब प्रकार से एक समझ कर वे सत्पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। विभु-आत्मा तथा अणु-आत्मा के यथार्थ स्वरूप, कार्य, परस्पर सम्बन्ध और अन्य प्रमुख-गौण सर्वांगीण विवरण का पूर्ण मर्मज्ञ अत्यन्त दुर्लभ है। जो आत्म-ज्ञान से कल्याण को प्राप्त हो चुका है और नाना प्रकार से आत्म-स्वरूप का वणन करने में समर्थ है, ऐसा महापुरुष तो और भी अधिक दुर्लभ है। परन्तु यह सत्य है यदि किसी प्रकार आत्म-तत्त्व का बोध हो जाय तो जीवन सार्थक हो जायगा। इस आत्म-ज्ञान की सर्वाधिक सुगम पद्धति यह है कि अन्य मतों से मार्ग-च्युत हुए विना परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्यन्दित गीता-मृत को हृदयंगम कर लिया जाय। परन्तु यह निश्चित है कि श्रीकृष्ण को 'भगवान्' वही मनुष्य मानता है, जिसने इस जन्म में अथवा पूर्व-जन्म में महान् तप-त्याग किया हो। वस्तुत: शुद्ध भक्त की अहैतुकी-अमोघ कृपा के प्रताप से ही श्रीकृष्ण के तत्त्व का बोध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

देही=प्राकृत देह का स्वामी जीवात्मा; **नित्यम्**=सदा; **अवध्यः**=अवध्य है; **अयम्**=यह; **देहे**=देह में; **सर्वस्य**=सबके; **भारत**=हे भरत-वंशी अर्जुन; **तस्मात्**=इसलिए; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणियों के लिए; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **शोचितुम्**=शोक करने के; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन ! देह में निवास करने वाला आत्मा नित्य अवध्य है। इसलिये किसी भी प्राणी के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है॥ ३०॥

तात्पर्य

इस श्लोक में श्रीभगवान् अविकारी आत्मा ` तत्त्व-निरूपण का

उपसंहार करते है। श्रीकृष्ण ने विविध प्रकार से आत्मा को अविनाशी और देह को अनित्य सिद्ध किया है। इस कारण अर्जुन के लिए इस भय-वश स्वधर्म से विमुख होना योग्य नही है कि युद्ध में पितामह भीष्म तथा द्रोणाचार्य का निधन हो जायगा। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रमाण के आधार पर प्राकृत देह से भिन्न आत्मा का पृथक् स्वरूप स्वीकार करना ही होगा, यह नहीं कि आत्मतत्त्व में विश्वास न करे अथवा यह माने कि जीवन का प्रादुर्भाव रसायनों की अन्तःक्रिया की एक विशेष अवस्था में होता है।

आत्मा को नित्य कहने का यह अभिप्राय नहीं कि हिंसा को प्रोत्साहित किया गया है। साथ ही, युद्ध-काल में नितान्त आवश्यक होने की स्थिति में उसका निषेध भी नही है। परन्तु ऐसी आवश्यकता भी भगवत् आज्ञा के आधार पर न्यायसंगत सिद्ध होनी चाहिए, स्वेच्छा से नही।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१॥

स्वधर्मम्=अपने धर्म को; **अपि**=भी; **च**=और; **अवेक्ष्य**=विचार कर; **न**=नही; **विकम्पितुम्**=संकोच करने के; **अर्हसि**=(तू) योग्य है; **धर्म्यात्**=धर्मभय; **हि**=निश्चय ही; **युद्धात्**=युद्ध से बढ़कर; **श्रेयः**=कल्याणकारी साधन; **अन्यत्**=दूसरा; **क्षत्रियस्य**=क्षत्रिय का; **न**=नहीं; **विद्यते**=है।

अनुवाद

अपने क्षत्रिय-धर्म का विचार करके भी तू यह जान ले कि तेरे लिए धर्ममय युद्ध से श्रेष्ठ दूसरा कोई कल्याण का साधन नही है। अतः युद्ध रूपी स्वधर्म में संकोच करने का कोई कारण नहीं है॥ ३१॥

तात्पर्य

सामाजिक व्यवस्था के चार आश्रमों में सुचारु प्रशासन बनाये रखने वाला द्वितीय आश्रम 'क्षत्रिय' कहलाता है। 'क्षत' पद का अर्थ है

आघात करना। इसके अनुसार जो संकट से रक्षा करे, वह 'क्षत्रिय' है (त्रायते-रक्षा करना)। क्षत्रियों को वन-मृगया करने की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रिय वीर वन में सिंह को सम्मुख ललकार कर उसके साथ खड्ग से युद्ध करते। मृत सिंह की राजकीय अन्त्येष्ठि की जाती। जयपुर राज्य के नरपति अभी तक इस व्यवस्था का अनुसरण करते रहे हैं। क्षत्रियों को आक्रमण और युद्ध करने की कला में विशेष रूप से शिक्षित किया जाता है, क्योंकि धर्ममय हिंसा भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाती है। इसलिए क्षत्रियों के लिए सीधे संन्यासाश्रम ग्रहण करने का विधान नहीं है। राजनीति में अहिंसा कूटनीतिक-कौशल हो सकती है, आवश्यक साधन अथवा सिद्धान्त नहीं। धर्म संहिताओं में उल्लेख है :

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसतो महीक्षितः।
युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् हन्यन्ते सततं द्विजैः।
संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन्॥

'युद्ध में अपने ईर्ष्यालु राजा से संघर्ष करते हुए मरने वाले क्षत्रिय अथवा राजा को मृत्यु के अनन्तर वे ही उच्च लोक प्राप्त होते हैं, जिन की प्राप्ति यज्ञाग्नि में पशुवलि देने वाले ब्राह्मणों को होती है।' अतः धर्ममय युद्ध में वध करने को अथवा यज्ञाग्नि में पशुवलि देने को हिंसा नहीं कहा जाता, क्योंकि उनकी धर्ममयता से सभी लाभान्वित होते हैं। वलि के पशु को विविध योनियों में गमनागमन किये विना तत्क्षण मानव देह प्राप्त हो जाती है और युद्ध में वीरगति को प्राप्त क्षत्रिय याज्ञिक ब्राह्मणों को प्राप्त होने वाले उच्च लोकों में प्रविष्ट हो जाते हैं।

'स्वधर्म' के दो भेद हैं। जब तक मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक जीव को मुक्ति के निमित्त से धर्मानुसार शरीर सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करना होता है। मुक्ति के अनन्तर जीव का स्वधर्म देहात्म-बुद्धि से अतीत, दिव्य हो जाता है। जब तक जीव में देहात्म-बुद्धि है, तभी तक उसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के लिए निश्चित किये गये स्वधर्म का पालन करना है। चौथे अध्याय के अनुसार, स्वधर्म का विधान स्वय श्रीभगवान् ने किया है। देह के स्तर पर स्वधर्म को वर्णाश्रम धर्म कहते

हैं, जो भगवत्प्राप्ति का प्रथम सोपान है। इस वर्णाश्रम धर्म (प्राप्त देह के विशिष्ट गुणों पर आधारित स्वधर्माचरण) से मानव संस्कृति का श्रीगणेश होता है। अस्तु, वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार किसी भी कार्य-क्षेत्र में स्वधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट गौरवान्वित जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

यदृच्छया च=और अपने आप; **उपपन्नम्**=प्राप्त हुए; **स्वर्ग**=दिव्य लोक के; **द्वारम्**=द्वार रूप; **अपावृतम्**=खुले हुए; **सुखिनः**=सुखी; **क्षत्रियाः**=क्षत्रिय; **पार्थ**=हे पृथा-पुत्र; **लभन्ते**=प्राप्त करते हैं; **युद्धम्**=युद्ध को; **ईदृशम्**=इस प्रकार।

अनुवाद

हे पार्थ ! वे क्षत्रिय सुखी हैं, जिन्हें इस प्रकार के युद्ध का अवसर अपने आप प्राप्त होता है, क्योंकि यह तो स्वर्ग के खुले हुए द्वार के समान है॥ ३२॥

तात्पर्य

'इस युद्ध में कुछ भी श्रेय की प्राप्ति होती नहीं देखता हूं। यह नित्य नरक-वास का ही कारण सिद्ध होगा।' ऐसा कहने वाले अर्जुन के व्यवहार की जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण निन्दा कर रहे हैं। अर्जुन के उपरोक्त वाक्य अज्ञान प्रेरित ही थे। वह स्वधर्माचरण में भी अहिंसा का पालन करना चाहता था। किन्तु एक क्षत्रिय के लिए युद्ध-भूमि में स्थित होकर अहिंसा-पालन करना तो मूर्खों का ही दर्शन है। 'पराशर स्मृति' में व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने कहा है :

क्षत्रियो हि प्रजा रक्षण शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन्।
निर्जित्य परसैन्यादि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

'सभी क्लेशों से प्रजा का संरक्षण करना क्षत्रिय का धर्म है। अतः

धर्म-व्यवस्था के लिए आवश्यक होने पर वह हिंसा करे। विपक्षी सेना को परास्त कर उसे धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करना चाहिये।'

इन सब पक्षों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन के लिये युद्ध से उपरत होने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। यदि वह शत्रु-विजय करने में सफल रहा तो राज्योपभोग करेगा और यदि युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गया तो उन उच्च लोकों में प्रविष्ट हो जायगा, जिनके द्वार उसके लिये खुले हुए हैं। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में युद्ध उसके लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अथ=अतः; **चेत्**=यदि; **त्वम्**=तू; **इमम्**=इस; **धर्म्यम्**=धर्ममय; **संग्रामम्**=युद्ध को; **न**=नहीं; **करिष्यसि**=करेगा; **ततः**=तो; **स्वधर्मम्**=स्वधर्म; **कीर्तिम् च**=और यश को; **हित्वा**=खोकर; **पापम्**=पाप को ही; **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

इस पर भी यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नहीं करेगा, तो स्वधर्म-पालन में प्रमाद करने से होने वाले पाप को ही निश्चित रूप से प्राप्त होगा और योद्धा के रूप में अपनी कीर्ति भी खो बैठेगा ॥ ३३ ॥

तात्पर्य

अर्जुन त्रिभुवन-विश्रुत योद्धा था। शिव आदि अनेक देवताओं से युद्ध कर उसने धवल कीर्ति का अर्जन किया। किरात वेष धारी शिवजी को युद्ध में परास्त कर उनसे प्रसादरूप में पाशुपतास्त्र भी प्राप्त कर किया। इन्हीं कारणों से वह शूरवीर के रूप में सर्व प्रसिद्ध हो गया। स्वयं द्रोणाचार्य ने आशीर्वाद सहित उसे वह विशिष्ट शस्त्र प्रदान किया था जिससे वह गुरु का भी वध करने में समर्थ हो गया। इसी प्रकार अपने दत्तक-पिता देवराज इन्द्र सहित अनेक शूरवीरों से उसे युद्ध-कौशल के विपुल प्रशस्ति-पत्र प्राप्त हुए थे। इस स्थिति में

यदि वह युद्ध-भूमि का परित्याग करता है, तो कर्तव्य न करने से प्रमाद का ही दोषी नहीं होगा, उसके यश की भी हानि होगी, जिससे नरक का राज-पथ प्रशस्त हो जायगा। प्रकारान्तर से, उसे नरक की प्राप्ति युद्ध करने से नहीं, अपितु युद्ध भूमि से पलायन करने से ही होगी।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अकीर्तिम् च अपि=अपयश को भी; भूतानि=लोग; कथयिष्यन्ति =कहेंगे; ते=तेरे; अव्ययम्=सदा; संभावितस्य=सम्मान्य पुरुष के लिए; च=तथा; अकीर्ति.=अपयश; मरणात्=मरने से भी; अतिरिच्यते =मन्द होती है।

अनुवाद

अब लोग भी तेरे अपयश का सदा कथन करेंगे। सम्मान्य व्यक्ति के लिए अपकीर्ति तो मृत्यु से भी अधिक मन्द होती है ॥ ३४ ॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने सखा और गुरु दोनों रूप से इस श्लोक में अर्जुन के युद्ध से विमुख हो जाने पर अपना अन्तिम निर्णय दिया है। वे कहते हैं : 'हे अर्जुन ! यदि तू युद्धभूमि से उपरत हो जायगा तो तेरे वास्तविक पलायन करने से पूर्व ही लोग तुझे भीरु कहने लगेंगे। यदि तू यह समझता है कि लोगों के अपशब्द कहने पर भी युद्ध से पलायन करके तू कम से कम अपनी जीवन-रक्षा तो कर ही लेगा, तो मेरा परामर्श है कि तेरे लिये युद्ध में मरना अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर होगा। तेरे समान गणमान्य पुरुष के लिये अपयश तो मृत्यु से भी अधिक मन्द होता है। अतः प्राण-भय से पलायन करना तेरे योग्य नहीं। वरन् युद्ध में वीर गति प्राप्त करना ही श्रेयस्कर होगा। इससे तुझे इस अपयश की प्राप्ति नहीं होगी कि तूने मेरी मित्रता का दुरुपयोग किया और समाज में मान-हानि भी नहीं होगी।'

अतएव अर्जुन के लिये श्रीभगवान् का अन्तिम निर्णय यही है कि वह संग्राम करते हुए प्राण-विसर्जन कर दे, परन्तु पलायन न करे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

भयात्=भयवश; रणात्=रणभूमि से; उपरतम्=विमुख हुआ; मंस्यन्ते=मानेंगे; त्वाम्=तुझे; महारथाः=महारथी; येषाम्=जिन के; च=भी; त्वम्=तू; बहुमतम्=सम्मानित; भूत्वा=होकर; यास्यसि=प्राप्त होगा; लाघवम्=तुच्छता को।

अनुवाद

तेरे नाम और यश का सम्मान करने वाले महारथी तुझे भयवश ही युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे। इस भांति तू कायर समझा जायगा ॥३५॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना निर्णय सुनाते हुए आगे कहा : तुझे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दुर्योधन, कर्ण तथा अन्यान्य उपस्थित महारथी तुझे भाइयों तथा पितामह पर द्रवित होकर युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। वे तो यही समझेंगे कि तू प्राणभय से युद्ध से विमुख हुआ है। इस प्रकार तेरे सम्बन्ध में उनकी उच्च मान्यता नरकगामिनी होगी।'

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अवाच्यवादान्=अपशब्द; च=भी; बहून्=अनेक; वदिष्यन्ति=कहेंगे; तव=तेरे; अहिताः=शत्रु; निन्दन्तः=निन्दा करते हुए; तव=तेरी; सामर्थ्यम्=सामर्थ्य की; ततः=उससे; दुःखतरम्=अधिक दुख-दायी; नु=निश्चय ही; किम्=और क्या होगा।

अनुवाद

तेरे शत्रु भी बहुत से अपशब्द कहकर तेरी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। इससे अधिक दुःख तेरे लिए और क्या होगा ? ॥३६॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण प्रारम्भ में अर्जुन के अनुचित दया-भाव के अत्यन्त विस्मित हुए थे; उसकी करुणा को उन्होंने अनार्योचित भी कहा। इस प्रकरण में अर्जुन की तथाकथित करुणा के विरुद्ध अपने वचनों को उन्होंने विशद रूप से प्रमाणित किया है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

हतः=मरकर; **वा**=या (तो); **प्राप्स्यसि**=(तू) प्राप्त होगा; **स्वर्गम्**=स्वर्ग को; **जित्वा**=जीतकर; **वा**=अथवा; **भोक्ष्यसे**=उपभोग करेगा; **महीम्**=पृथ्वी का; **तस्मात्**=अतः; **उत्तिष्ठ**=खड़ा हो; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **युद्धाय**=युद्ध; के लिए; **कृत**=दृढ़; **निश्चयः**=संकल्प सहित।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र ! यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करेगा। इसलिए खड़ा होकर दृढ़तापूर्वक युद्ध कर ॥ ३७ ॥

तात्पर्य

यद्यपि अर्जुन-पक्ष की विजय पूर्व-निश्चित नहीं थी, तथापि वह युद्ध करने को बाध्य था, क्योंकि यदि वह मारा भी जाता, तो उसे स्वर्ग की ही प्राप्ति होती।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख=सुख; **दुःखे**=दुःख में; **समे**=समतायुक्त; **कृत्वा**=होकर; **लाभालाभौ**=लाभ तथा हानि में; **जयाजयौ**=जय-पराजय में; **ततः**=

तदुपरान्त; **युद्धाय**=युद्धार्थ; **युज्यस्व**=युद्ध कर; **न**=नहीं; **एवम्**=इस प्रकार (युद्ध करने से); **पापम्**=पाप को; **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

सुख-दु:ख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय को समान समझकर निष्काम भाव से युद्ध कर। ऐसा करने से तू पाप से कलुषित नहीं होगा ॥ ३८ ॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से युद्ध के लिये ही (निष्काम भाव से) युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं, क्योंकि उन्हें यह युद्ध अभीप्सित है। कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में सुख-दु:ख, हानि-लाभ जय-पराजय का विचार नहीं किया जाता। प्रत्येक क्रिया को श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ करना बुद्धियोग कहलाता है। इस प्रकार से प्राकृत कर्म करने पर भी बन्धन नहीं होता। जो निजेन्द्रिय-तृप्ति के लिए सत्त्वगुणमय अथवा रजोगुणमय कर्म करता है, उसी को शुभ-अशुभ कर्म फल प्राप्त होता है; परन्तु जो पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण-भक्ति-परायण क्रियाओं के ही शरणागत हो गया है, वह भक्त साधारण जीवन-पद्धति के समान किसी का भी ऋणी अथवा किंकर नहीं रहता। शास्त्र-वचन है:

देवर्षि-भूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(भागवत ११.३.४१)

"अन्य सब कर्त्तव्यों को त्याग कर जो मनुष्य अनन्य भाव से मुक्तिदाता श्रीकृष्ण के ही शरणागत हो जाता है, उसका देवताओं, समस्त प्राणियों, स्वजनों, मानव अथवा पितरों के प्रति कुछ भी कर्त्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता।" उपरोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी तथ्य का संकेत किया है। अगले श्लोकों में इस सिद्धान्त का अधिक विशद वर्णन है।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

एषा=यह; ते=तेरे लिए; अभिहिता=कही गयी; साङ्ख्ये=सांख्य योग के विषय में; बुद्धिः=बुद्धि; योगे=निष्काम कर्म के विषय में; तु=तथा; इमाम्=इसे; शृणु=श्रवण कर; बुद्ध्या=बुद्धि से; युक्तः=युक्त हुआ; यया=जिस; पार्थ=हे पार्थ (अर्जुन); कर्मबन्धम्=कर्म बन्धन से; प्रहास्यसि=मुक्त हो जायगा।

अनुवाद

यहां तक मैंने तेरे लिए सांख्य-दर्शन का वर्णन किया। अब उस बुद्धियोग का श्रवण कर जिससे निष्काम कर्म किया जाता है। हे पार्थ! इस बुद्धियोग से युक्त होकर तू कर्म-बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा ॥३९॥

तात्पर्य

वैदिक शब्दकोष 'निरुक्ति' के अनुसार सांगोपांग तत्त्व-निरूपण करने को 'सांख्य' कहते हैं। इस न्याय से 'सांख्य' शब्द उस दर्शन का द्योतक है, जो आत्म-तत्त्व का वर्णन करता है। योग का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह से है। अर्जुन का युद्धोपरति विषयक प्रस्ताव विषय-वासना से ही प्रेरित था। अपने प्रधान कर्त्तव्य को भुला कर वह युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था, क्योंकि उसकी धारणा में अपने भाई, धृतराष्ट्रपुत्रों को परास्त करके राज्योपभोग करने की अपेक्षा स्वजनों का वध न करने से ही वह अधिक सुखी हो सकेगा। विजय से प्राप्त होने वाला सुख तथा स्वजनों को जीवित देखने का सुख—इन दोनों के मूल में निजेन्द्रिय तृप्ति की वाञ्छा ही है, क्योंकि दोनों में बुद्धि तथा कर्त्तव्य की अवहेलना है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को यह स्पष्ट करना चाहते थे कि यदि वह पितामह का शरीरांत कर देगा, तो भी उनकी आत्मा का वध नहीं होगा। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि सब जीवात्मा और स्वयं वे श्रीभगवान् भी नित्य अपना स्वरूप रखते हैं। वे पूर्व में भी अपने-अपने

स्वरूप में थे, इस समय भी हैं तथा भविष्य में भी उन सबका अपना व्यक्तिगत स्वरूप बना रहेगा। आत्मा वस्तुतः नित्य है, विविध प्रकार से देहरूपी परिधान ही बदलता है। इस कारण प्राकृत कलेवर से मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा का भिन्नस्वरूप बना रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा तथा देह के तात्त्विक अध्ययन का अति विशद वर्णन किया है। आत्मा तथा देह के इस तात्त्विक ज्ञान का प्रतिपादन यहां विविध दृष्टिकोणों से सांख्य के रूप में किया गया है। यह स्मरण रहे कि इस सांख्य का अनीश्वरवादी कपिल के सांख्यदर्शन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। पाखण्डी कपिल के सांख्य से बहुत पहले श्रीमद्भागवत में भगवान् के अवतार का, प्रामाणिक कपिल देव ने यथार्थ सांख्य का प्रवचन अपनी माता देवहूति को किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पुरुष अर्थात् परमेश्वर क्रियाशील हैं, वे ही प्रकृति पर दृष्टिनिपात कर सृष्टि करते हैं। वेद तथा गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है। वेदों में कहा है कि श्रीभगवान् ने प्रकृति पर दृष्टि-निक्षेप कर उसमें अणु-जीवों का गर्भाधान किया। ये सभी जीवात्मा जगत् में विषय-भोग के लिए कर्मनिष्ठ हैं तथा माया-विमोहित होने से स्वयं को ही भोक्ता समझ रहे हैं। इस प्रवृत्ति की सीमा मोक्ष-वांछा है, जिसके कारण जीवात्मा श्रीभगवान् से सायुज्य की अभीप्सा कर बैठता है। मुक्ति की यह वांछा माया का सब से प्रबल बन्धन है, ऐसे अनेक विषय-भोगमय जन्मों के अनन्तर ही कोई दुर्लभ महात्मा वासुदेव (भगवान् श्रीकृष्ण) की शरण ग्रहण कर परम सत्य को प्राप्त करता है।

श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ अर्जुन पूर्व में उन्हें गुरु अंगीकार कर चुका है: "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**" इसलिए श्रीकृष्ण अब उसके लिए प्रति बुद्धियोग अथवा भक्तियोग की पद्धति का निरूपण करेंगे, जो श्रीभगवान् की प्रीत्यर्थ किया जाता है। दसवें अध्याय के दसवें श्लोक में कथन है कि बुद्धियोग के द्वारा श्रीभगवान् से सीधा सम्पर्क हो जाता है, जो परमात्मा-रूप से सबके हृदय में विराजमान हैं। श्रीभगवान् से ऐसा सम्पर्क भक्ति-भाव के बिना नहीं हो सकता। इसलिए भक्तियोग अथवा भगवत्सेवा अथवा कृष्णभावनामृत में स्थित हुआ भक्त ही श्रीकृष्ण की अशेषविशेष कृपा से इस 'बुद्धियोग' को प्राप्त करता है। श्रीभगवान्

स्वयं कह रहे हैं कि प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर भक्तिनिष्ठ रहने वाले भक्तों को ही वे भक्ति का विशुद्ध ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार भक्त सुगमता से चिदानन्दमय भगवद्धाम में उनका सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।

अस्तु, इस श्लोक में उल्लिखित 'बुद्धियोग' भगवद्भक्ति का ही वाचक है तथा यहां आए 'सांख्य' शब्द का पाखण्डी कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्य नामक अनीश्वरवाद से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः यहां कहे गये सांख्ययोग को भ्रमपूर्वक नास्तिक सांख्य से सम्बद्ध नहीं समझना चाहिए। उस दर्शन का तो अपने समय में भी वस्तुतः कोई प्रभाव नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण भी ऐसे नास्तिक मनोधर्म का वर्णन नहीं करते। यथार्थ सांख्य वही है, जिसका वर्णन भगवान् कपिल ने श्रीमद्भागवत में किया है; किन्तु उस सांख्य का भी वर्तमान प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां सांख्य का तात्पर्य है आत्मा और देह का तत्त्व-विवेचन। अर्जुन को 'बुद्धियोग' अथवा 'भक्तियोग' की पात्रता प्रदान करने के निमित्त से ही भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मतत्त्व का तात्त्विक विवरण प्रस्तुत किया। अस्तु, भगवान् श्रीकृष्ण के सांख्य तथा भगवान् कपिल द्वारा श्रीमद्-भागवत में प्रतिपादित सांख्य में तात्त्विक अभेद है। दोनों भक्तियोग हैं। इसीसे श्रीभगवान् ने कहा है कि जो अल्पज्ञ है, वे मनुष्य ही सांख्य तथा भक्तियोग में भेद-बुद्धि रखते हैं।

निस्सन्देह, अनीश्वरवादी सांख्य का भक्तियोग से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथापि बुद्धिहीन व्यक्तियों का दुराग्रह है कि भगवद्-गीता में अनीश्वरवाद-परक सांख्य का वर्णन है।

सुतरां, यह हृदयंगम करना आवश्यक है कि 'बुद्धि-योग' का तात्पर्य कृष्णभावना अर्थात् भक्ति के आह्लाद और प्रबोध से पूर्णतया युक्त होकर कर्म करना है। जो केवल श्रीभगवान् की प्रीति के लिए कर्म करता है, वह पुरुष कठिन-से-कठिन कार्य करते हुए भी 'बुद्धियोग' से युक्त रहता है; इसके आश्रय में नित्य-निरन्तर चिन्मय रसानन्द का आस्वादन करता है। ऐसी भगवत्परायणता के फलस्वरूप भगवत्कृपा से उसे सम्पूर्ण चिन्मय गुणों की स्वतः उपलब्धि हो जाती है। इस प्रकार उसे ज्ञान के लिए अना-वश्यक उद्यम नहीं करना पड़ता; भक्ति के प्रताप से ही वह पूर्ण मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनाभावित कर्म तथा सकाम कर्म, विशेषतः परिवार अथवा

प्राकृत सुख की प्राप्ति रूपी इन्द्रिय तृप्ति के लिए कर्म करने में गम्भीर भेद है। 'बुद्धियोग' हमारे कर्मों को दिव्यता प्रदान करता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

न=नहीं; **इह**=इस बुद्धियोग में; **अभिक्रम**=आरम्भ का; **नाशः**=विनाश; **अस्ति**=होता; **प्रत्यवायः**=ह्रास; **न**=नहीं; **विद्यते**=होता; **स्वल्पम्**=थोड़ा; **अपि**=भी (साधन); **अस्य**=इस; **धर्मस्य**=धर्म का; **त्रायते**=उद्धार कर देता है; **महतः**=महान्; **भयात्**=भय से।

अनुवाद

कृष्णभावना के लिये जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता और न ह्रास ही होता है। इस पथ में की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है॥ ४०॥

तात्पर्य

अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा को त्यागकर कृष्णभावनाभावित कर्म अर्थात् कृष्ण की प्रसन्नता के लिये कर्म करना सर्वश्रेष्ठ दिव्य क्रिया है। यदि ऐसे कर्म को छोटे रूप में ही प्रारम्भ किया जाय, तो भी उसमें न तो कोई व्यवधान आता है और न ही कभी उसका नाश होता। यह नियम है कि किसी प्राकृत क्रिया को प्रारम्भ कर पूर्ण करना आवश्यक है, अन्यथा सम्पूर्ण प्रयास विफल हो जाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म की यह विशेषता है कि अपूर्ण रह जाने पर भी उसका चिरस्थायी फल होता है। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले की किसी भी दशा में हानि नहीं होती। यदि कृष्णभावनाभावित कर्म केवल एक प्रतिशत ही पूर्ण हुआ हो, तो भी उसका सनातन फल होगा, जिससे पहले किये हुए की आवृत्ति किये बिना, भविष्य में उत्तरोत्तर उन्नति की जा सकती है। इसके विपरीत, प्राकृत कर्म जब तक शत-प्रतिशत पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। अजामिल ने कृष्णभावना विषयक साधन का अभ्यास

एक जन्म में ही किया था, परन्तु मृत्यु समय भगवत्कृपा से उसे पूर्णता की प्राप्ति हुई। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत में एक सुन्दर श्लोक है :

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

'यदि विषय भोग को त्याग कर कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले कार्य-पूर्ति न कर पाने से पतित भी हो जाय, तो उसे क्या हानि ? इसके विपरीत, प्राकृत क्रियाओं को करने से क्या लाभ होगा ?' (श्रीमद्भागवत १.५.१७) इसी प्रकार लोकोक्ति है, 'अपने सनातन आत्मा को खोकर सम्पूर्ण विश्व को प्राप्त करने से भी क्या लाभ ?'

प्राकृत कार्य तथा उनके फल देह के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्त्ता को देहान्त हो जाने पर भी पुनः कृष्णभावनाभावित बना देता है। कम से कम इतना तो निश्चित ही है कि पुनर्जन्म में उसे विद्वान् ब्राह्मण अथवा धनाढ्यों के कुल में मनुष्य देह की प्राप्ति होगी, जिससे भगवत्प्राप्ति का अवसर पुनः सुलभ हो जायगा। यह कृष्णभावनाभावित कर्म की अनुपम विशेषता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

व्यवसायात्मिका दृढ़ कृष्णभावना, बुद्धिः मनीषा, एका अनन्य; इह इस संसार में, कुरुनन्दन हे कुरुनन्दन, बहुशाखाः अनेक प्रकार से विभक्त, हि निश्चय ही, अनन्ताः अपार, च और, बुद्धयः बुद्धि; अव्यवसायिनाम् कृष्णभावना से विमुखों की।

अनुवाद

इस पथ के अनुगामी निश्चयात्मक बुद्धि से युक्त रहते हैं, उनका एक लक्ष्य होता है। हे कुरुनन्दन! अस्थिर चित्त वालों की बुद्धि भी अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है ॥ ४१ ॥

तात्पर्य

कृष्णभावना के द्वारा जीवन अथवा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति—इस

प्रकार श्रद्धा को 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि कहते हैं। श्री चैतन्य चरितामृत में उल्लेख है :

'श्रद्धा' शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय॥

'श्रद्धा का तात्पर्य है भगवद्भक्ति में सुदृढ़ विश्वास। इस श्रद्धा से युक्त होकर कृष्णभावनाभावित कर्म करने में तत्पर हुए पुरुष के लिए परिवार धर्म, मानवता, राष्ट्रीयता विषयक सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्व में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही मनुष्य को सकाम कर्म में लगाते हैं। कृष्णभावनाभावित हो जाने पर तो शुभ कर्म-फल के निमित्त से उद्यम करना भी व्यर्थ हो जाता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष के सम्पूर्ण कर्म, अनुकूल-प्रतिकूल के द्वैत से मुक्त, मायातीत हो जाते हैं। कृष्णभावनामृत की परमोच्च संसिद्धि देहात्म-बुद्धि का त्याग करने से उपलब्ध होती है। कृष्णभावना का शनैः शनैः विकास करने से यह स्थिति स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। कृष्णभावना भावित के सुदृढ़ निश्चय का आधार वह ज्ञान है जिससे यह पूर्ण बोध हो जाता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण प्रकट कारणों के आदि-कारण हैं (**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**)। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में दिया गया जल पल्लव-शाखा आदि में स्वतः वितरित हो जाता है, उसी भांति कृष्णभावनामृत के द्वारा अपनी, परिवार की, समाज की, राष्ट्र की, मानवता की, वस्तुतः सभी की सर्वोच्च सेवा की जा सकती है। अपने कर्म से यदि श्रीकृष्ण का तोषण हो जाय, तो अन्य सब भी सन्तुष्ट हो जायंगे।

कृष्णभावनामयी सेवा का सर्वोत्तम अभ्यास श्रीकृष्ण के प्रमाणित प्रतिनिधि, गुरुदेव के आश्रय में ही किया जा सकता है, जो शिष्य के स्वभाव को जानते हैं और कृष्णभावना की ओर उसका मार्ग दर्शन करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। अतएव कृष्णभावनामृत को भली-भांति आत्मसात् करने के लिए श्रीकृष्ण के ऐसे प्रतिनिधि की आज्ञानुसार दृढ़ता पूर्वक कर्म करना आवश्यक है। इतना ही नहीं, प्रामाणिक गुरु की आज्ञा को तो वस्तुतः जीवन का अनन्य लक्ष्य ही बना ले। श्रीविश्वनाथ चक्र-

वर्ती ठाकुर ने 'श्रीगुरुदेवाष्टक' नामक सुप्रसिद्ध स्तोत्र में हमें इस शिक्षा का अवदान किया है :

यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि ।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसंध्यं वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

'गुरुदेव की कृपा से ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है। गुरुदेव को प्रसन्न किये बिना कृष्णभावना की प्राप्ति किसी भी साधन से नहीं हो सकती। अतः तीनों संध्याओं में उनसे कृपा की याचना करे। उन्हीं गुरुदेव के शोभायमान चरणारविन्द को मैं सादर वन्दना करता हूं।'

यह सम्पूर्ण पद्धति आत्मा के उस पूर्ण ज्ञान पर आधारित है, जिसके द्वारा देहात्म-बुद्धि का नाश हो जाता है। आत्मा के तत्त्व को केवल सिद्धान्त रूप में मानना पर्याप्त नहीं, व्यवहार में उसका आचरण भी करना चाहिए। ऐसा होने पर सकाम कर्म रूपी इन्द्रिय-तृप्ति सम्भव नहीं रहती। नाना प्रकार के सकाम कर्मों से वही मार्गच्युत होता है, जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

याम्=जिस; इमाम्=इस प्रकार की; पुष्पिताम्=दिखाऊ शोभायुक्त; वाचम्=वाणी को; प्रवदन्ति=कहते हैं; अविपश्चितः=अविवेकीजन; वेदवादरताः=वेदानुगामी कहलाने वाले; पार्थ=हे पार्थ; न=नहीं, अन्यत्=अन्य कुछ; अस्ति=है; इति=यह; वादिनः=कहने वाले; कामात्मानः=भोगकामी; स्वर्गपरा=स्वर्गारोहण के इच्छुक; जन्मकर्मफलप्रदाम्=सकाम कर्म, उच्च कुल में जन्म आदि प्रदायक, क्रियाविशेष=आडम्बरपूर्ण क्रियाएं; बहुलाम्=विविध; भोग=इन्द्रिय तृप्ति; ऐश्वर्य=ऐश्वर्य; गति=प्रगति; प्रति=उन्मुखी।

अनुवाद

अल्पज्ञ मनुष्य ही वेद के उन आलंकारिक वचनों में आसक्त रहते हैं जो स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकामकर्मों की स्तुति करते हैं। भोग और ऐश्वर्य के अभिलाषी ही ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ॥४२-४३॥

तात्पर्य

अज्ञान के वशीभूत हुए मन्दबुद्धि वाले सामान्य लोग वेदों के कर्मकाण्ड में प्रशंसित सकाम कर्मों में अत्यधिक आसक्त रहते हैं। मदिरा, कामिनी तथा प्राकृत ऐश्वर्य से पूर्ण स्वर्गीय जीवन के उपभोग से अधिक अन्य कुछ भी उन्हें अभीप्सित नहीं रहता। वेदों में स्वर्गारोहण करने के लिए 'ज्योतिष्टोम' आदि यज्ञों का विधान किया गया है। वास्तव में कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ग-गमन के अभिलाषी इन यज्ञों को करें, किन्तु अल्पज्ञ मनुष्य समझ बैठते हैं कि यही वैदिक ज्ञान का परम लक्ष्य है। ऐसे साधनहीन लोगों के लिए दृढ़तापूर्वक कृष्णभावनाभावित कर्म करना सुदुष्कर होता है। जिस प्रकार कोई मूर्ख मनुष्य परिणाम को न जानते हुए विषमय वृक्षों के कुसुमों में आसक्त हो जाय, उसी भांति अज्ञानी ही स्वर्गीय ऐश्वय एवं उससे उपलब्ध होने वाले विषय भोग के प्रति आकृष्ट होते हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड में उल्लेख है कि चातुर्मासिक तप करने वाले अमृत एवं नित्य आनन्द की प्राप्ति के लिए सोमरस नामक पेय-द्रव्य के पान के अधिकारी हो जाते हैं। इस पृथ्वी पर भी बहुत से व्यक्ति वलिष्ठता एवं इन्द्रिय तृप्ति की सामर्थ्य के लिए सोमरस का पान करने को अतीव उत्कण्ठित रहते हैं। भव-बन्धन से मुक्ति में श्रद्धाहीन होने के कारण इस कोटि के मनुष्य वैदिक यज्ञों के आडम्बरमय अनुष्ठानों में ही विशेष आसक्त हैं। प्रायः विषयी होने से उन्हें स्वर्गीय सुख से अधिक और कुछ भी अभीष्ट नहीं रहता। ज्ञात होता है कि स्वर्ग में नन्दन-कानन नामक अनेक वन हैं; जहाँ सुन्दर देवांगनाओं का संग तथा प्रचुरमात्रा में सोमरस मदिरा नित्य उपलब्ध है। इस प्रकार का शारीरिक सुख निस्सन्देह विषयजन्य है। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो अपने को इस प्राकृत

जगत् का अधीश्वर समझते हुए अनित्य प्राकृत सुख को भोगने में ही पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

भोग=विषय भोग; **ऐश्वर्य**=ऐश्वर्य में; **प्रसक्तानाम्**=जो आसक्त हैं; **तया**=इन से; **अपहृत-चेतसाम्**=जिनका चित्त मोहित है (उनके); **व्यवसायात्मिका**=दृढ़ निश्चय; **बुद्धिः**=भगवद्भक्ति; **समाधौ**=अन्तः-करण में; **न**=नही; **विधीयते**=होती।

अनुवाद

जो मनुष्य विषय भोग और लौकिक ऐश्वर्य मे अत्यन्त आसक्त होने के कारण इस प्रकार संमोहित हो रहे हैं, उनके चित्त में भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नही होता ॥ ४४ ॥

तात्पर्य

'समाधि' का अर्थ चित्त की एकाग्रता से है। वैदिक शब्दकोश निरुक्ति के अनुसार **'सम्यगाधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्व-ययात्म्यम्'** : 'आत्म तत्त्व में मनोयोग को समाधि कहा जाता है।' इन्द्रिय तृप्ति में आसक्त अथवा अनित्य विषयों से विमोहित हुए व्यक्तियों को समाधि की प्राप्ति कभी नही हो सकती। उन्हे तो बस माया के चक्र में ही निरन्तर दण्डित किया जाता है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

त्रैगुण्यविषयाः=तीनों गुणों को विषय करनेवाले हैं; **वेदाः**=वेद; **निस्त्रैगुण्यः**=शुद्ध सत्त्व में स्थित; **भव**=हो; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **निर्द्वन्द्व**=द्वन्द्वों से मुक्त; **नित्यसत्त्वस्थः**=नित्य शुद्ध सत्त्वगुण में स्थित; **निर्योग-क्षेम**=प्राप्ति तथा संरक्षण के विचार से मुक्त; **आत्मवान्**=स्वरूप मे स्थित।

अनुवाद

वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनों गुणों को ही विषय करने वाले हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का उल्लंघन कर उनसे अतीत हो जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वों और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण बन ॥४५॥

तात्पर्य

किसी भी प्राकृत क्रिया को करने से त्रिगुणमय कर्म और कर्म-बन्धन बनते हैं। ये सकाम होते हैं, इसलिए प्राकृत जगत् में बन्धनकारी हैं। सामान्य जनता को इन्द्रिय-तृप्ति से क्रमशः शुद्ध सत्त्व के स्तर तक पहुँचाने के उद्देश्य से वेद मुख्य रूप में सकाम कर्मों का ही वर्णन करते हैं। परन्तु अर्जुन तो भगवान् श्रीकृष्ण का अनन्य शिष्य एवं प्रिय सखा है। अतः उसे वेदान्तदर्शन के स्तर पर ही आरूढ़ हो जाने की आज्ञा दी गयी है, जिसका प्रारम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा से होता है। संसार के सब प्राणी जीवित रहने के लिए घोर संघर्ष कर रहे हैं। उनके कल्याणार्थ ही श्रीभगवान् ने जगत्-सृष्टि करने के अनन्तर उस वैदिक ज्ञान का सदुपदेश किया, जिसमें जीवन-यापन की यथार्थ पद्धति तथा भव बन्धन से मुक्ति का मार्ग दिखाया गया है। विषय भोगमय क्रियाओं अर्थात् कर्मकाण्ड, का अन्त हो जाने पर ही उपनिषदों से भगवत्प्राप्ति का सुयोग सुलभ होता है। ये उपनिषद् वेद-अंश हैं, उसी भांति जैसे भगवद्गीता पंचम वेद—महाभारत का अंश है। इनसे भगवत्-परायण जीवन का उपक्रम होता है।

जब तक प्राकृत देह विद्यमान है, तब तक गुणमय कर्म तथा कर्म-बन्धन बनते रहेंगे। अतएव मनुष्य को चाहिये कि सुख-दुःख, शीत-ग्रीष्म आदि को सहन करने का अभ्यास कर हानि-लाभ की चिन्ता से मुक्त हो जाय। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर सर्वतोभावेन श्रीकृष्ण-कृपा की आश्रयता ग्रहण कर लेने पर ही यह शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था प्राप्त होती है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

यावान्=जितना भी; **अर्थः**=प्रयोजन; **उदपाने**=जल-कूप में; **सर्वतः**=सर्वविध; **संप्लुतोदके**=महान् जलाशय में; **तावान्**=इसी भांति; **सर्वेषु**=सम्पूर्ण; **वेदेषु**=वैदिक शास्त्रों में; **ब्राह्मणस्य**=परम ब्रह्म श्रीकृष्ण के; **विजानतः**=पूर्ण ज्ञानी का।

अनुवाद

छोटे जलाशय से सिद्ध होने वाले सभी प्रयोजन बड़ी जलराशि से तुरन्त पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार, वेदों का आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले के लिये उनके सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं॥ ४६॥

तात्पर्य

वैदिक कर्मकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों तथा यज्ञों का उद्देश्य शनैः शनैः आत्मानुभूति करने की ओर मनुष्य को प्रेरित करना है। आत्मानुभूति का लक्ष्य भगवद्गीता के पन्द्रहवें (१५.१५) अध्याय में स्पष्ट किया गया है—'वेद-अध्ययन का लक्ष्य जगत् के आदि कारण भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है।' अतः आत्मानुभूति का अर्थ है— श्रीकृष्ण एवं उनसे अपने नित्य सम्बन्ध का ज्ञान। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण से जीवात्मा के सम्बन्ध का भी उल्लेख है। जीवात्मा श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। उनके द्वारा अपने हृदय में सुप्त कृष्णभावना को पुनः उद्भावित कर लेना ही वैदिक ज्ञान की अवधि है। श्रीमद्भागवत (३.३३.७) में इसकी संपुष्टि है।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

'हे प्रभो! चाण्डालादि के नीच कुल में जन्म लेने पर भी आपके नाम का संकीर्तन करने वाला आत्मतत्त्व के परमोच्च स्तर पर स्थित है। ऐसा पुरुष वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार सम्पूर्ण तप एवं यज्ञ कर चुका होगा और समस्त तीर्थों में स्नान कर उसने बहुधा वेद-स्वाध्याय भी अवश्य किया होगा। वह आर्यश्रेष्ठ मान्य है।' अतः कर्मों तथा श्रेष्ठ विषय भोग के लिए स्वर्गारोहण करने में ही आसक्त न रहकर बुद्धिमत्ता-पूर्वक

वेदों का यथार्थ तात्पर्य जान ले। इस युग के मनुष्यों के लिए कर्म काण्ड के सम्पूर्ण विधि-नियमों तथा वेदान्त-उपनिषद् के निर्देशों का पालन प्रायः असम्भव हो गया है। वेदों के तात्पर्य की सिद्धि के लिए अत्यधिक समय, शक्ति, ज्ञान तथा साधन अपेक्षित हैं। इस युग में ये सब प्रायः असाध्य हैं। ऐसे में पतित-पावनावतार श्रीगौर सुन्दर चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित हरिनाम-संकीर्तन के द्वारा वैदिक संस्कृति के परम लक्ष्य की सिद्धि सर्व सुलभ हो सकती है। महान् वैदिक विद्वान् प्रकाशानन्द सरस्वती ने श्री श्रीगौर सुन्दर से जिज्ञासा की थी कि वे वेदान्त का स्वाध्याय न करके भावुक की भांति भगवन्नाम कीर्तन ही क्यों करते हैं। उत्तरस्वरूप श्रीमन्महाप्रभु ने सविनय निवेदन किया कि उनके गुरुदेव ने महामूर्ख जान-कर उन्हें केवल कृष्ण-नाम कीर्तन करने का आदेश दिया। उन्होंने ऐसा ही किया और परिणाम में भावोन्मत्त हो गये। वर्तमान कलि काल की अधिकांश जनता पर्याप्त शिक्षा प्राप्त न होने से मूढ़ है, इसलिए वेदान्त दर्शन को समझने के योग्य नहीं है। परन्तु कृष्ण नाम के निरपराध कीर्तन से वेदान्त का परम प्रयोजन स्वतः सिद्ध हो जाता है। वेदान्त वैदिक ज्ञान की अवधि है और वेदान्त दर्शन के प्रणेता तथा ज्ञाता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव जो कृष्णनाम के संकीर्तन का रसास्वादन करता है, वही महात्मा सर्वोच्च वेदान्ती है। वही सम्पूर्ण वैदिक अध्यात्म विद्या का परम लक्ष्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्मणि=स्वधर्मरूप कर्म करने में; एव=ही; अधिकारः=अधि-कार है; ते=तेरा; मा=नहीं; फलेषु=कर्मफल का; कदाचन=कदापि; मा=नहीं; कर्मफल=कर्मफल का; हेतुः=कारण; भूः=हो; मा=नहीं; ते=तेरी; संगः=आसक्ति; अस्तु=हो; अकर्मणि=कर्म न करने में।

अनुवाद

तेरा अधिकार स्वधर्म रूप कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं। अपने को कर्मफल का हेतु कभी न समझ और कर्त्तव्य न करने में भी तेरी आसक्ति न होवे ॥ ४७ ॥

तात्पर्य

यहां तीन तत्त्व विचारणीय हैं : स्वधर्मरूप कर्म, विकर्म तथा अकर्म। स्वधर्म उन कर्मों को कहते है, जो प्रकृतिस्थ अवस्था में शास्त्र के विधान के अनुसार किये जाते है। अनधिकारपूर्वक किया गया स्वेच्छामय कर्म 'विकर्म' कहलाता है तथा स्वधर्माचरण मे प्रमाद 'अकर्म' है। श्रीभगवान् ने अर्जुन को निष्क्रिय न होकर कर्मफल में अनासक्तिपूर्वक स्वधर्मरूप कर्म करने का परामर्श दिया है। जिसकी कर्मफल में आसक्ति है, वही पुरुष कर्म का हेतु बनकर कर्मानुसार सुख-दु.ख भोगता है।

स्वधर्म के तीन आवान्तर भेद है : नित्य, आपात एवं सकाम कर्म। नित्य-कर्म शास्त्र के निर्देशानुसार निस्पृह-भाव से किये जाते हैं। अनिवार्य होने से ये नैमित्तिक कर्म सत्त्वगुणमय हैं। सकाम कर्मों से बन्धन होता है; इसलिए ये कल्याणकारी नही हैं। मनुष्य-मात्र का स्वधर्म मे अधिकार है, किन्तु फल के प्रति निस्पृह भाव से ही कर्म करे। इस प्रकार का निष्काम धर्माचरण निस्सन्देह मुक्ति पथ की ओर ले जाता है।

अतएव, श्रीभगवान् ने अर्जुन को फलासक्ति को त्याग कर कर्तव्य के रूप में युद्ध करने की आज्ञा दी है। उसका युद्ध से उपरत हो जाना भी प्रकारान्तर से आसक्ति का ही एक रूप है। आसक्ति के रहते मुक्ति-पथ की प्राप्ति नही हो सकती। आसक्ति अनुकूल हो या प्रतिकूल, वह बन्धनकारी ही सिद्ध होती है। अकर्म तो पापमय है ही। अतएव कर्तव्य के रूप में युद्ध करना ही अर्जुन के लिए मुक्ति का ऐकान्तिक कल्याणकारी मार्ग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

योगस्थः=योग में दृढ़तापूर्वक स्थित हुआ; **कुरु**=कर; **कर्माणि**=स्वधर्म; **संगम्**=आसक्ति को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **धनंजय**=हे धनंजय: **सिद्धि-असिद्ध्योः**=सफलता-विफलता में; **समः**=समान बुद्धिवाला, **भूत्वा**=होकर; **समत्वम्**=मन का समत्व भाव ही; **योगः**=योग; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

हे अर्जुन ! योग में स्थित होकर तथा सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि वाला हुआ, आसक्ति का परित्याग कर स्वधर्मरूप कर्म का आचरण कर। मन का ऐसा समभाव ही योग कहलाता है ।। ४८ ।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अर्जुन से योग में स्थित होकर कर्म करने को कह रहे हैं। इस योग का क्या स्वरूप है ? योग का अर्थ है नित्य-विक्षुब्ध रहने वाली इन्द्रियों को वश में कर मन को परमतत्त्व में एकाग्र करना। परमतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वयं अर्जुन को युद्ध की आज्ञा दे रहे हैं। अतः अर्जुन को युद्ध के परिणाम से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। जय-विजय का विचार श्रीकृष्ण किया करें, अर्जुन को तो बस श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करना है। श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन ही यथार्थ योग है। 'कृष्णभावनामृत' नामक पद्धति में इसी का अभ्यास किया जाता है। कृष्णभावना के माध्यम से ही इस अहंभाव का त्याग किया जा सकता है कि मैं स्वामी हूं, भोक्ता हूं। इसके लिए श्रीकृष्ण अथवा उनके सेवक का सेवक बनना होगा। कृष्णभावनाभावित स्वधर्माचरण यही है। कृष्णभावनाभावित स्वधर्माचरण ही योग में स्थित होकर कर्म करना है।

अर्जुन क्षत्रिय है, अतः वर्णाश्रम धर्म का अनुयायी है। विष्णु-पुराण में उल्लेख है कि सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का प्रयोजन श्री विष्णु को प्रसन्न करना है। सांसारिक परिपाटी के विपरीत, अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने के स्थान पर भगवान् श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करना चाहिए। श्रीकृष्ण का परितोषण किये बिना वर्णाश्रम धर्म का भली-भांति पालन नहीं हो सकता। परोक्ष रूप से अर्जुन को श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार कर्म करने का परामर्श दिया गया है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४९।।

दूरेण=दूर से ही त्याग कर; **हि**=निस्सन्देह; **अवरम्**=निन्द्य; **कर्म**=सकाम कर्म; **बुद्धियोगात्**=कृष्णभावनामृत के बल पर; **धनंजय**=हे अर्जुन; **बुद्धौ**=इस बुद्धि योग का; **शरणम्**=आश्रय; **अन्विच्छ**=ग्रहण कर; **कृपणाः**=दीन हैं; **फलहेतवः**=कर्म फल की इच्छा वाले।

अनुवाद

हे धनंजय ! भक्तियोग के द्वारा सब प्रकार के सकाम कर्मों से मुक्त हुआ पूर्ण रूप से उसी बुद्धियोग की शरण ग्रहण कर, क्योंकि कर्मफल की वासना वाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

तात्पर्य

जिसे नित्य भगवद्दास के रूप में अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है, वह पुरुष कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य सब कर्मों का त्याग कर देता है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, 'बुद्धियोग' का अर्थ है, भगवद्भक्तियोग। भक्ति जीव का स्वरूपभूत कर्म है। जो कृपण अर्थात् दीन हैं, वे ही अपने कर्म फलों को भोगने की इच्छा रखते हैं, जो अधिकाधिक बन्धनकारी सिद्ध होती है। कृष्णभावनाभावित कर्मों के अतिरिक्त अन्य सब कार्य निन्द्य हैं, क्योंकि वे कर्ता को जन्म-मृत्यु के चक्र में ही नित्य आबद्ध रखते हैं। अतः कर्मफल का कारण बनने की इच्छा कभी न करे। प्रत्येक क्रिया कृष्णभावनाभावित, कृष्ण-प्रीत्यर्थ ही होनी चाहिए। कृपण दैववश अथवा परिश्रम से प्राप्त वैभव का सदुपयोग करना नही जानते। जीवन की कृतार्थता इसी मे है अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को कृष्णभावनाभावित क्रियाओ में नियोजित किया जाय। परन्तु कृपणों के समान मन्द-भाग्य मनुष्य भी अपनी मानवी शक्ति का उपयोग भगवत्सेवा में नही करते।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्तः=भगवद्भक्ति-परायण पुरुष; **जहाति**=[illegible] हो सकता है; **इह**=इसी जीवन में; **उभे**=दोनों से; **सुकृतदुष्कृते**=[illegible] और [illegible];

तस्मात्=इसलिए; **योगाय**=भक्ति के लिए ही; **युज्यस्व**=चेष्टा करने में युक्त रह; **योगः**=कृष्णभावना ही; **कर्मसु**=कर्मों में; **कौशलम्**=कुशलता है।

अनुवाद

भगवद्भक्ति के परायण हुआ मनुष्य इसी जीवन में पुण्य और पाप दोनों से मुक्त हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन! इस भक्तियोग के लिए ही प्रयत्न कर, यही कर्म-कौशल है ॥५०॥

तात्पर्य

जीवात्मा अनादि काल से पुण्य और पाप रूपी कर्म-बन्धनों का संचय कर रहा है। इस कारण अपना यथार्थ स्वरूप उसे सदा अज्ञात रहता है। इस अज्ञान को भगवद्गीता के उपदेश से हटाया जा सकता है, जो जीव को यह शिक्षा देती है कि पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के शरणागत होकर कर्म-बन्धन रूपी शृंखला के द्वारा जन्म-जन्मान्तर में नित्य प्राप्त होने वाली पीड़ा से मुक्त हो जाय। अतएव अर्जुन को कृष्णभावनाभावित कर्म करने को कहा गया, क्योंकि केवल यही पद्धति कर्म-बन्धन से मुक्तिकारक है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मजम्=सकाम कर्म से उत्पन्न होने वाले; **बुद्धियुक्ताः**=बुद्धियोग से युक्त; **हि**=निश्चित रूप से; **फलम्**=फल को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **मनीषिणः**=भक्त-महर्षि; **जन्मबन्ध**=जन्म-मृत्यु के बन्धन से; **विनिर्मुक्ताः**=मुक्त हुए; **पदम्**=परम पद को; **गच्छन्ति**=प्राप्त करते हैं; **अनामयम्**=दुःखरहित।

अनुवाद

भक्तियोग के परायण हुए विवेकी पुरुष श्रीभगवान् के शरणागत हो जाते हैं और संसार में ही कर्मफल को त्याग कर जन्म-मृत्यु के चक्र

से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें उस अनामय पद की प्राप्ति होती है, जो सब दुःखों से परे है ॥५१॥

तात्पर्य

मुक्त जीवात्मा उस अनामय पद की वांछा रखते हैं, जहां प्राकृत दु:ख नहीं हैं। श्रीमद्भागवत में कथन है :

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥

(भागवत १०.१४.५८)

'जगदाश्रय श्रीमुकुन्द के चरणारविन्द रूपी तरणी का आश्रय ग्रहण करने वाले के लिए ससार-सागर वत्सपद के समान सुगम हो जाता है। उसका लक्ष्य वह परम पद वैकुण्ठ है जहा प्राकृत जगत् का कोई भी दु.ख नही है, ऐसा स्थान नही कि जहां पद-पद पर प्राण-संकट उपस्थित रहता है।'

अज्ञानवश, मनुष्य को यह बोध नहीं होता कि यह संसार वास्तव में अत्यन्त घृणास्पद एव दुःखदायी स्थान है, क्योंकि यहां पद-पद पर भय की ही प्राप्ति होती है। अज्ञानी मनुष्य यह सोचकर सकाम कर्मों में तत्पर रहते है कि उनके फलस्वरूप वे सुखी हो जायंगे। वे यह नहीं जानते कि ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, किसी भी प्रकार की देह में दु.ख-रहित जीवन उपलब्ध नहीं हो सकता। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—जीवन के ये दुःख संसार मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जो पुरुष भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को और भगवत्-स्वरूप को जान लेता है, वह भगवद्भक्ति के परायण हो जाता है। इससे वह उन वैकुण्ठ लोकों में गमन करने का अधिकारी हो जाता है, जहां न तो दुःखमय प्राकृत जीवन है और न काल एवं मृत्यु का प्रवेश ही है। स्वरूप-ज्ञान से दिव्य भगवत्स्वरूप का बोध भी हो जाता है। जो मनुष्य भ्रमवश जीव और भगवान् को समकक्ष मानता है, वह अज्ञानी है और इसलिए भगवद्भक्ति करने के योग्य नहीं। वह तो अपने को ही ईश्वर मान बैठता है, जिससे बारम्बार जन्म-मृत्यु

तस्मात्=इसलिए; **योगाय**=भक्ति के लिए ही; **युज्यस्व**=चेष्टा करने में युक्त रह; **योगः**=कृष्णभावना ही; **कर्मसु**=कर्मों में; **कौशलम्**=कुशलता है।

अनुवाद

भगवद्भक्ति के परायण हुआ मनुष्य इसी जीवन में पुण्य और पाप दोनों से मुक्त हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन! इस भक्तियोग के लिए ही प्रयत्न कर, यही कर्म-कौशल है ॥५०॥

तात्पर्य

जीवात्मा अनादि काल से पुण्य और पाप रूपी कर्म-बन्धनों का संचय कर रहा है। इस कारण अपना यथार्थ स्वरूप उसे सदा अज्ञात रहता है। इस अज्ञान को भगवद्गीता के उपदेश से हटाया जा सकता है, जो जीव को यह शिक्षा देती है कि पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के शरणागत होकर कर्म-बन्धन रूपी शृंखला के द्वारा जन्म-जन्मान्तर में नित्य प्राप्त होने वाली पीड़ा से मुक्त हो जाय। अतएव अर्जुन को कृष्णभावना-भावित कर्म करने को कहा गया, क्योंकि केवल यही पद्धति कर्म-बन्धन से मुक्तिकारक है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मजम्=सकाम कर्म से उत्पन्न होने वाले; **बुद्धियुक्ताः**=बुद्धियोग से युक्त; **हि**=निश्चित रूप से; **फलम्**=फल को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **मनीषिणः**=भक्त-महर्षि; **जन्मबन्ध**=जन्म-मृत्यु के बन्धन से; **विनिर्मुक्ताः**=मुक्त हुए; **पदम्**=परम पद को; **गच्छन्ति**=प्राप्त करते हैं; **अनामयम्**=दुःखरहित।

अनुवाद

भक्तियोग के परायण हुए विवेकी पुरुष श्रीभगवान् के शरणागत हो जाते हैं और संसार में ही कर्मफल को त्याग कर जन्म-मृत्यु के चक्र

से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें उस अनामय पद की प्राप्ति होती है, जो सब दुःखों से परे है ॥५१॥

तात्पर्य

मुक्त जीवात्मा उस अनामय पद की वांछा रखते हैं, जहां प्राकृत दुःख नहीं हैं। श्रीमद्भागवत में कथन है :

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥

(भागवत १०.१४.५८)

'जगदाश्रय श्रीमुकुन्द के चरणारविन्द रूपी तरणी का आश्रय ग्रहण करने वाले के लिए संसार-सागर वत्सपद के समान सुगम हो जाता है। उसका लक्ष्य वह परम पद वैकुण्ठ है जहां प्राकृत जगत् का कोई भी दुःख नहीं है, ऐसा स्थान नहीं कि जहां पद-पद पर प्राण-संकट उपस्थित रहता है।'

अज्ञानवश, मनुष्य को यह बोध नहीं होता कि यह संसार वास्तव में अत्यन्त घृणास्पद एवं दुःखदायी स्थान है, क्योंकि यहां पद-पद पर भय की ही प्राप्ति होती है। अज्ञानी मनुष्य यह सोचकर सकाम कर्मों में तत्पर रहते हैं कि उनके फलस्वरूप वे सुखी हो जायंगे। वे यह नहीं जानते कि ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, किसी भी प्रकार की देह में दुःख-रहित जीवन उपलब्ध नहीं हो सकता। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—जीवन के ये दुःख संसार में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जो पुरुष भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को और भगवत्-स्वरूप को जान लेता है, वह भगवद्भक्ति के परायण हो जाता है। इससे वह उन वैकुण्ठ लोकों में गमन करने का अधिकारी हो जाता है, जहां न तो दुःखमय प्राकृत जीवन है और न काल एवं मृत्यु का प्रवेश ही है। स्वरूप-ज्ञान से दिव्य भगवत्स्वरूप का बोध भी हो जाता है। जो मनुष्य भ्रमवश जीव और भगवान् को समकक्ष मानता है, वह अज्ञानी है और इसलिए भगवद्भक्ति करने के योग्य नहीं। वह तो अपने को ही ईश्वर मान बैठता है, जिससे बारम्बार जन्म-मृत्यु

का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। दूसरी ओर, जो यह जानते हुए कि वह स्वरूप से भगवान् का नित्य दास है, भगवत्सेवा के परायण हो जाता है, वह तत्क्षण वैकुण्ठलोक का अधिकारी हो जाता है। भगवत्सेवा को ही कर्मयोग, बुद्धियोग अथवा भक्तियोग कहते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा=जिस काल में; **ते**=तेरी; **मोह**=मोहरूप; **कलिलम्**=सघन अटवी को; **बुद्धिः**=बुद्धियुक्त भगवत्सेवा; **तरिष्यति**=पार कर जायगी; **तदा**=उस समय; **गन्तासि**=प्राप्त होगा; **निर्वेदम्**=वैराग्य को; **श्रोतव्यस्य**=सुनने योग्य; **श्रुतस्य**=सुने हुए के; **च**=तथा।

अनुवाद

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी सघन दलदल को पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए से और जो सुनने योग्य है, उससे भी वैराग्य को प्राप्त होगा ॥५२॥

तात्पर्य

महाभागवतों के जीवन में ऐसे अनेक उत्तम उदाहरण उपलब्ध हैं, जिन्हें भगवद्भक्ति करने से ही वैदिक कर्म-काण्ड से वैराग्य हो गया। जब मनुष्य को श्रीकृष्ण और उनसे अपने सम्बन्ध का तत्त्व बोध होता है, तो सकाम कर्मों से स्वभावतः विरक्ति हो जाती है, चाहे वह अनुभवी ब्राह्मण ही क्यों न हो। भक्त-परम्परा के महान् आचार्य श्री माधवेन्द्र पुरीपाद का कथन है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो।
भो देवाः पितरश्च तर्पण-विधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ॥
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

"हे त्रैकालिक सन्ध्या-वन्दन ! तुम्हारी जय हो। हे स्नान ! तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण ! आपके लिए तर्पण करने में मैं अब असमर्थ हो गया हूं। क्षमा करें। अब तो जहां भी मैं बैठता हूं, यादवकुल-अवतंस कंसारि श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूं। इस प्रकार करते हुए मैं सब पापों से मुक्त हो गया हूं। मेरे लिए यही पर्याप्त है।"

त्रिकालिक सन्ध्या, प्रात.कालिक स्नान, पितृ-तर्पणादि वैदिक कर्म कनिष्ठ साधक के लिए ही अनिवार्य है। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित मति से श्रीकृष्ण भक्ति मे तत्पर हुआ भक्त इन कर्मों के प्रति सर्वथा उपेक्षावान् हो जाता है, क्योंकि वह पहले ही कृतार्थ हो चुका है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से ज्ञान-लाभ कर लेने वाले के लिए शास्त्रों मे वर्णित तप-यज्ञादि आवश्यक नहीं रहते। इसी भांति, जो यह जाने बिना कि वेदों का लक्ष्य श्रीकृष्ण-प्राप्ति है, कर्मकाण्ड में तत्पर रहता है, वह समय का अपव्यय ही करता है। कृष्ण-भक्त तो वेद-उपनिषदों की परिधि, शब्द-ब्रह्म का भी उल्लंघन कर जाते है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुति=नाना प्रकार के वैदिक मन्त्र; विप्रतिपन्ना=वेदों में कहे कर्मफलों से विचलित हुए बिना; ते=तेरी; यदा=जिस काल में; स्थास्यसि=स्थित हो जायगी; निश्चला=निष्ठ; समाधौ=कृष्णभावना में; अचला=स्थिर; बुद्धि=प्रज्ञा; तदा=उस समय; योगम्=योग को; अवाप्स्यसि=प्राप्त होगा।

अनुवाद

जिस समय तेरी बुद्धि वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित हुए बिना स्वरूप-समाधि में ही अचल रहेगी, उस समय तुझे दिव्य बुद्धि-योग की प्राप्ति हो जायगी ॥५३॥

तात्पर्य

समाधिवेत्ता वही कहलाता है, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो

गया हो। भाव यह है कि पूर्ण समाधिवेत्ता को ब्रह्म, परमात्मा और श्री भगवान् की भी प्राप्ति हो जाती है। अपने को श्रीकृष्ण का नित्य-दास जान कर कृष्णभावनाभावित स्वधर्माचरण को ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य मानना स्वरूप की परम सिद्धि है। कृष्णभावनाभावित (अनन्य भगवद्भक्त) वेदों की आलंकारिक भाषा से विचलित अथवा स्वर्ग-प्राप्ति के लिए सकाम कम में प्रवृत्त न हो। कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण से सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है, अतः उस दिव्य अवस्था में श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण आदेश का वोध हो सकता है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति निश्चित है। इसलिए केवल इतना ही अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि—गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया जाय।

अर्जुन उवाच।
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किं॥५४॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **स्थितप्रज्ञस्य**=कृष्णभावना में अचल भाव से स्थित हुए पुरुष के; **का**=क्या; **भाषा**=लक्षण हैं; **समाधिस्थस्य**=समाधि में स्थित; **केशव**=हे कृष्ण; **स्थितधीः**=कृष्णभावना में स्थिर वुद्धि; **प्रभाषेत**=वोलता है; **किम्**=किस प्रकार; **आसीत**=रहता है; **व्रजेत**=चलता है; **किम्**=कैसे।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो ! कृष्णभावनाभावित स्थिर वुद्धि वाले पुरुष के क्या लक्षण हैं, वह किस प्रकार वोलता है, उसकी भाषा क्या होती है, तथा वह किस प्रकार वैठता और चलता है॥५४॥

तात्पर्य

प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति के अनुरूप लक्षणों से युक्त रहता है। कृष्णभावनाभावित भक्त का भी अपना विशिष्ट स्वभाव, आलाप, गमन, चिन्तन, अनुभव आदि होते हैं। धनवान् की धनाढ्यता का, रोगी के रोग का तथा विद्वान् की विद्वत्ता का ज्ञान उनके लक्षणों से ही होता

है। इसी प्रकार कृष्णभावनाभावित भक्त भी विविध व्यवहारों में विशिष्ट लक्षणों से युक्त रहते हैं। भगवद्गीता में इन लक्षणों का ज्ञान उपलब्ध है। कृष्ण भक्त किस प्रकार बोलता है, यह सबसे अधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि वाणी मनुष्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। कहा जाता है कि मूर्ख के न बोलने तक ही उसे पहचाना नही जाता। उसके बोलते ही उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है। कृष्णभावनानिष्ठ पुरुष का सर्वप्रधान लक्षण यह है कि वह श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही वार्तालाप करता है। इससे उसमें वे सब लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं, जिनका आगे उल्लेख है।

श्रीभगवानुवाच ।
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **प्रजहाति**=त्याग देता हैं; **यदा**=जिस काल में; **कामान्**=विषय वासना को; **सर्वान्**=सम्पूर्ण रूप से; **पार्थ**=हे पार्थ (अर्जुन); **मनोगतान्**=मनमानी **आत्मनि**=आत्मतत्त्व में; **एव**=ही; **आत्मना**=शुद्ध चित्त के द्वारा **तुष्टः**=सन्तुष्ट रहता है; **स्थितप्रज्ञः**=स्थिर मति वाला; **तदा**=उस समय; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

मंगलमय श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ ! जिस काल में यह जीव मन से उत्पन्न हुई विषय वासना को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर चित्त द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय इसे स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है ॥५५॥

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत से प्रमाणित है कि पूर्णतः कृष्णभावनाभावित हुए भगवद्भक्तिनिष्ठ पुरुष में महर्षियों के योग्य सब सद्गुण निवास करते हैं। इसके विपरीत, भक्तिविहीन मनुष्य में कोई सद्गुण नहीं होता, वह

ो मनोधर्म में ही लगा रहता है। अतएव यहां ठीक ही कहा गया है
न से उत्पन्न हुई सब प्रकार की विषय वासना को त्यागना आवश्यक
। यह कृत्रिम साधन से नहीं हो सकता। परन्तु कृष्णभावनामृत के
रायण हो जाने पर विषय कामना अनायास अवरुद्ध हो जाती है।
तएव मनुष्य-मात्र को उत्साहपूर्वक कृष्णभावना के परायण हो जाना
ाहिए, क्योंकि भगवद्भक्ति तत्काल शुद्ध सत्त्व में आरूढ़ कर देती है।
गवान् के दास के रूप में स्वरूप का आस्वादन करते हुए महात्मा
न अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष में तुच्छ
वषय वासना का लेश भी नहीं रहता। भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य दास
रूप में अपने स्वरूप में ही वह सदा प्रसन्न रहता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखेषु=तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति में; **अनुद्विग्नमनाः**=जिस
ा चित्त उद्वेगरहित रहता है; **सुखेषु**=सुख में; **विगतस्पृहः**=स्पृहा-
न्य; **वीत**=मुक्त; **राग**=आसक्ति; **भय**=भय; **क्रोधः**=क्रोध से;
थतधीः=स्थिर बुद्धि; **मुनिः**=ऋषि; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता,
ख में स्पृहाशून्य रहता है, तथा जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त
, उसे स्थिरमति मुनि कहा जाता है ॥५६॥

तात्पर्य

मुनि उसे कहा जाता है, जो मनोधर्मी करने में मन को नाना प्रकार
से उद्वेलित करने पर भी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुंच सके।
कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का भिन्न मत होता है; यहां तक कि जिस
का मत अन्य मुनियों से भिन्न न हो, उसे तो सिद्धान्ततः मुनि कहा ही
नहीं जा सकता। **'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'** परन्तु जैसा भगवान्
ने यहां वर्णन किया है, 'स्थिर बुद्धि' मुनि, साधारण मुनियों से भिन्न

है। स्थिरबुद्धि वाला मुनि सदा कृष्णभावनाभावित रहता है, क्योंकि वह मनोधर्म की प्रवृत्ति को समाप्त कर चुका है। मनोधर्म का उल्लंघन कर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण सर्वव्यापक हैं। वही 'स्थितप्रज्ञ मुनि' कहा जाता है। ऐसा पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष त्रिविध दुःखों के आक्रमणों से विचलित नहीं होता। उन्हें अयाचित भगवत्कृपा समझता हुआ वह तो यही मानता है कि अपने पिछले पापों के लिए वह इससे कहीं अधिक दुःख उठाने के योग्य था। उसे अनुभूति होती है कि भगवत्कृपा से उसे नाममात्र के दुःख की ही प्राप्ति हुई है। ऐसे ही, सुख की प्राप्ति होने पर वह अपने को सुख के अयोग्य मानकर सारा श्रेय श्रीभगवान् को देता है। वह अनुभव करता है कि भगवत्कृपा के प्रताप से ही उसे ऐसी सुखमयी अवस्था से प्राप्त हुई है, जिससे उत्तम भगवत्सेवा करने में वह समर्थ हो गया है। इस प्रकार वह भगवत्सेवा के लिए सदा-सर्वदा साहसी तथा क्रियाशील रहता है, राग-द्वेष लिपायमान नहीं होता। राग का अर्थ अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करना है, जबकि ऐसी विषयैषणा का अभाव वैराग्य कहलाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित-भक्त में न राग होता है और न वैराग्य ही, उसका तो सम्पूर्ण जीवन ही श्रीकृष्ण की सेवा के निमित्त समर्पित रहता है। अतएव उद्यम के विफल होने पर भी वह लेशमात्र क्षुब्ध अथवा क्रुद्ध नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त नित्य कृतसंकल्प रहता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यः=जो; **सर्वत्र**=सर्वत्र; **अनभिस्नेहः**=स्नेहशून्य हुआ; **तत्**=उस; **तत्**=उस; **प्राप्य**=प्राप्त कर; **शुभ**=लाभ; **अशुभम्**=हानि को; **न**=नहीं; **अभिनन्दति**=आनन्दित होता; **न**=नहीं; **द्वेष्टि**=द्वेष करता है; **तस्य**=उस का; **प्रज्ञा**=पूर्ण ज्ञान; **प्रतिष्ठिता**=अचल है।

अनुवाद

जो पुरुष सब ओर स्नेह रहित हुआ शुभ की प्राप्ति से हर्षित नहीं

होता और अशुभ की प्राप्ति में शोक नहीं करता, वह पूर्ण ज्ञान में स्थित है ।।५७।।

तात्पर्य

संसार में नित्य-निरन्तर, शुभ-अशुभ, उथल-पुथल होती रहती है। जो इससे उद्वेलित नहीं होता, शुभ-अशुभ से अप्रभावित रहता है, उस पुरुष को कृष्णभावनाभावित जानना चाहिए। जब तक संसार में निवास है, तब तक शुभ-अशुभ की सम्भावना बनी रहेगी, क्योंकि यह जगत् द्वंद्वों से पूर्ण है। परन्तु कृष्णभावनाभावित अनन्य भक्त इनसे प्रभावित नहीं होता; उसका प्रयोजन एकमात्र श्रीकृष्ण से ही रहता है, जो परम मङ्गलमय हैं। यह कृष्णभावना शुद्ध सत्त्वमयी समाधि प्रदान करती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

यदा=जिस काल में; **संहरते**=समेट लेता है; **च**=तथा; **अयम्**=यह; **कूर्मः**=कछुआ के; **अंगानि इव**=अङ्गों की भांति; **सर्वशः**=सब ओर से; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को; **इन्द्रिय अर्थेभ्यः**=इन्द्रिय-विषयों से; **तस्य**=उसकी; **प्रज्ञा**=बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**=स्थिर कही जाती है।

अनुवाद

जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, उसी भांति जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से हटा सकता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।।५८।।

तात्पर्य

योगी भक्त अथवा भगवत्प्राप्त महात्मा की कसौटी यही है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्रियों को वश में कर सकता है। परन्तु अधिकांश लोग तो दास की भांति इन्द्रियों की आज्ञा का पालन करने में ही लगे हुए हैं। इस श्लोक में योगी के बैठने का प्रकार कहा गया है।

इन्द्रियां वस्तुतः विषधर सर्पों के समान हैं। उन्हें स्वच्छन्द एवं स्वेच्छामय आचरण ही सदा प्रिय रहता है। यह आवश्यक है कि योगी अथवा भक्त इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह करने में सपेरे के समान बलवान् हो। वह उन्हें स्वेच्छाचार कभी नहीं करने देता। शास्त्रों में इसके लिए अनेक विधि-निषेध हैं। इन विधि-निषेधों के पालन द्वारा विषय-भोग को मर्यादित किये बिना कृष्णभावनामृत में अचल निष्ठा नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में यहां कछुए का उत्तम उदाहरण दिया गया है। कूर्म में इतनी सामर्थ्य होती है कि अपने अङ्गों को एक क्षण में समेट लेता है और फिर किसी भी क्षण विशेष कार्य के लिए उन्हें पुनः बाहर कर सकता है। कृष्णभावनाभावित भक्त अपनी इन्द्रियों का उपयोग भगवत्सेवा के कार्यों में ही करते हैं, अन्यथा उनका संवरण किए रहते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों को आत्मवश रखने वाले कूर्म के दृष्टान्त से यह शिक्षा दी गई है कि इन्द्रियों को नित्य-निरन्तर भगवत्सेवामृत में ही निमज्जित रखे।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

विषयाः=इन्द्रियों के विषय, **विनिवर्तन्ते**=निवृत हो जाते है, *निराहारस्य*=संयम करने वाले; *देहिनः*=देहबद्ध जीव के; **रसवर्जम्**=रस नहीं जाता; **रसः**=भोग की इच्छा, **अपि**=भी; **अस्य**=उसकी; **परम्**=उत्तम रस का; **दृष्ट्वा**=अनुभव होने पर; **निवर्तते**=शान्त हो जाती है।

अनुवाद

विषयों को ग्रहण न करने वाले बद्ध जीव के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु भोगों में आसक्ति बनी रहती है। किन्तु उत्तम रस के अनुभव से उसकी भी निवृत्ति हो जाती है और बुद्धियोग की प्राप्ति होती है ॥५९॥

तात्पर्य

कृष्णभावनारूप शुद्ध सत्त्व में स्थित हुए बिना विषय-भोग का निवर्तन करना किसी के लिए भी शक्य नहीं हो सकता। विधि-विधान द्वारा विषय-भोग को मर्यादित करना रोगी के लिए कुछ खाद्य पदार्थों

का निषेध करने के समान है। परन्तु न तो रोगी को यह निषेध रुचिकर लगता है और न ही भोजन के प्रति उसकी रुचि समाप्त होती है। इसी प्रकार अष्टांग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि साधनों से इन्द्रिय को वश में करना उन अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए उपयुक्त है, जो इससे अधिक कुछ नहीं जानते। जिसने कृष्णभावना में उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए श्रीकृष्ण के अनुपम माधुर्यामृत का आस्वादन कर लिया है, उस भक्त की तो निष्प्राण एवं म्लान प्राकृत वस्तुओं में लेशमात्र भी रुचि नहीं रहती। अतएव पारमार्थिक उन्नति के लिये किये गये संयमादि विधान अल्पज्ञ साधकों के लिए ही है। परन्तु ये विधान तभी अर्थ रखते हैं, जब यथार्थ में कृष्णभावना का आस्वादन कर लिया जाय। जो यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हो गया है, उसके लिये इस संसार के सब मन्द भोग स्वत: नीरस हो जाते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

यततः=यत्न करते हुए; **हि**=निःसन्देह; **अपि**=भी; **कौन्तेय**=हे कुन्तीनन्दन; **पुरुषस्य**=मनुष्य की; **विपश्चितः**=विवेकयुक्त; **इन्द्रियाणि** इन्द्रियां; **प्रमाथीनि**=उत्तेजित; **हरन्ति**=हर लेती है; **प्रसभम्**=बलपूर्वक; **मनः**=मन को।

अनुवाद

हे अर्जुन ! इन्द्रियां इतनी बलवान् तथा वेगवती हैं कि उन्हें वश में करने के लिए प्रयत्न करते हुए विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं॥६०॥

तात्पर्य

ऐसे अनेक विद्वान् मुनि, दार्शनिक एवं योगी हैं, जो इन्द्रिय-निग्रह के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु यथासम्भव प्रयास करते हुए उनमें बड़े से बड़े भी मन की उत्तेजना के कारण इन्द्रिय-तृप्ति रूपी अन्ध-कूप में पतित हो जाते हैं। महामुनि योगिराज विश्वामित्र उग्र तपश्चर्या एवं

योगाभ्यास द्वारा इन्द्रिय निग्रह के लिए उद्यमशील थे; परन्तु वे भी मेनका के साथ मैथुन में प्रवृत्त होकर परमार्थ-पथ से भ्रष्ट हो गये। विश्व-इतिहास में इसके समान अगणित दृष्टान्त उपलब्ध हैं। अतः पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना मन और इन्द्रियों को वश में करना दुःसाध्य है। श्रीकृष्ण में मन को निवेशित किये बिना विषय भोग का त्याग नहीं किया जा सकता। भक्त-शिखामणि श्रीयामुनाचार्य ने इस सन्दर्भ में स्वयं अपनी अनुभूति का उल्लेख किया है। वे कहते हैं: 'जिस समय से मन को श्रीकृष्ण चरणारविन्द की सेवा में नियोजित कर मैं नित्य नूतन भगवत्-रस के आस्वादन में प्रवृत्त हो गया हूं, तब से मैथुन का विचार आते ही मेरा मुख विकृत हो जाता है, यहां तक कि उस विचार पर ही उद्वमन करने लगता हूं।'

कृष्णभावना इतनी सर्वांग सुन्दर और मधुरिमामयी है कि उसके प्रभाव से विषय भोग स्वतः नीरस हो जाता है। यह उसी भांति होता है जैसे पुष्टिदायक पर्याप्त भोजन करने से भूखे की भूख निवृत्त हो जाय। कृष्णभावनाभावित होने के कारण ही महाराज अम्बरीष ने महायोगी दुर्वासा मुनि को भी निरस्त कर दिया था।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

तानि=उन; सर्वाणि=सब इन्द्रियों को; संयम्य=वश में करके; युक्त=तत्पर हुआ; आसीत=स्थित हो; मत्परः=मेरे परायण; वशे=वश में होती हैं; हि=नि सन्देह; यस्य=जिसकी; इन्द्रियाणि=इन्द्रियां; तस्य=उसकी; प्रज्ञा=बुद्धि; प्रतिष्ठिता=स्थिर है।

अनुवाद

इसलिए सब इन्द्रियों का संयम करके भक्तियोग में तत्पर हुआ मेरे परायण हो जाय। जो इन्द्रियों को वश में करके अपनी बुद्धि को मुझ में एकाग्र करता है, वही मनुष्य स्थिर बुद्धि से युक्त है॥६१॥

तात्पर्य

कृष्णभावना योग की परमोच्च संसिद्धि है, यह इस श्लोक में स्पष्ट रूप में कहा गया है। कृष्णभावनाभावित हुए बिना इन्द्रियों को वश में करना असम्भव है। पूर्व कथन के अनुसार, महामुनि दुर्वासा ने महाराज अम्बरीष से विग्रह कर लिया और अहंकार से उत्पन्न हुए व्यर्थ क्रोध के वशीभूत होकर अपनी इन्द्रियों का संयम नहीं कर सके। दूसरी ओर मुनि के सदृश योगी न होने पर भी भगवद्भक्ति के प्रभाव से राजा ने मुनि के अनाचार को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। परिणामस्वरूप, अन्त में उन्हीं की विजय हुई। महाराज की इन्द्रियां उनके वश में रहती थीं, क्योंकि श्रीमद्भागवत के अनुसार वे निम्नलिखित गुण से युक्त थे :

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽगसंगमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवादने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

'राजा अम्बरीष ने अपना मन श्रीकृष्ण के पदारविन्द में एकाग्र किया; वाणी को भगवद्धाम का वर्णन करने में, हाथों को हरि-मन्दिर का मार्जन करने में, श्रवणों को हरि-कथा श्रवण में तथा नेत्रों को श्रीभगवान् के मधुर दर्शन में नियोजित किया। वे अपने गात्र से भक्तों का स्पर्श तथा नासिका से श्रीभगवान् के चरणारविन्द में अर्पित पुष्पों की सौष्ठव का आघ्राण करते थे; जिह्वा को भगवद्-समर्पित तुलसी की सौरभ ग्रहण करने में तथा चरणों को हरि-क्षेत्र-गमन में संलग्न रखते, सिर से नित्य भगवद्-वन्दना करते रहते; तथा उनकी सम्पूर्ण कामना भगवत्-इच्छा की पूर्ति करने में ही तत्पर रहती थी। इन सब दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण ही वे 'मत्पर' भगवद्भक्त बन गये थे।'

(श्रीमद्भागवत ९.४.१८-२०)

इस सन्दर्भ में 'मत्पर' शब्द महत्त्वपूर्ण है। महाराज अम्बरीप का जीवन 'मत्पर' बनने की पद्धति सिखाता है। विद्वच्चूड़ा मणि तथा 'मत्पर' परम्परा के आचार्य, श्री बलदेव विद्याभूषण का कथन है : "मद्भक्तिप्रभावेन सर्वेन्द्रिय-विजयपूर्विका स्वात्मा दृष्टिः सुलभेति भावः।" "कृष्णभक्ति की महती शक्ति के द्वारा ही इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में किया जा सकता है।" इस सन्दर्भ में अग्नि का दृष्टान्त भी दिया जाता है : जैसे घर के भीतर स्थित नगण्य अग्नि-ज्वाला भी सब कुछ भस्मसात् कर देती है, उसी भांति योगी के हृदय में स्थित रहने वाले भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर देते हैं। 'योगसूत्र' भी श्रीविष्णु के ध्यान का ही विधान करता है, शून्य के ध्यान का नहीं। जो श्रीविष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ध्यान करते है, वे योगी कहलाने वाले मूढ किसी भ्रममय मृगमरीचिका के अन्वेषण में समय ही नष्ट कर रहे हैं। हमें कृष्णभावनाभावित (कृष्णपरायण) बनना है; यथार्थ योग का यही लक्ष्य है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

ध्यायत :=चिन्तन करते हुए; विषयान्=इन्द्रिय विषयों का; पुंसः =मनुष्य की; संगः=आसक्ति; तेषु=उन इन्द्रिय विषयो मे; उपजायते =हो जाती है; संगात् =आसक्ति से; संजायते=उत्पन्न होती है; कामः =कामना; कामात्=काम से, क्रोधः=क्रोध, अभिजायते=प्रकट होता है ॥६२॥

अनुवाद

इन्द्रिय विषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है; आसक्ति से काम उत्पन्न होता है तथा काम से क्रोध प्रकट होता है।

तात्पर्य

जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं होता, उसमें इन्द्रिय-विषयों के चिंतन से विषय भोग की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियों

को कुछ न कुछ वास्तविक कार्य चाहिए। अतः यदि उन्हें भगवद्भक्ति में तत्पर नहीं रखा जायगा तो वे निश्चत रूप से भोग-परायण होना चाहेंगी। अन्य स्वर्गीय देवताओं के सम्बन्ध में कहना ही क्या, शिव ब्रह्मा सहित जगत् का प्रत्येक जीव इन्द्रिय विषयों के प्रति आकृष्ट होता है। इस प्राकृत प्रपंच से मुक्ति का एकमात्र मार्ग कृष्णभावनाभावित हो जाना है। भगवान् शिव ध्यान-मग्न थे, किन्तु पार्वती द्वारा विषय भोग के लिए उत्तेजित किये जाने पर वे सहमत हो गये, जिससे कार्तिकेय का जन्म हुआ। तरुण भगवद्भक्त ठाकुर हरिदास को भी मूर्तिमान् माया देवी ने इसी प्रकार प्रलोभित किया था, परन्तु विशुद्ध कृष्णभक्ति के प्रताप से वे अनायास उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। श्रीयामुनाचार्य रचित पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार भगवान् के संग में भगवदीय माधुर्यरस का आस्वादन करने में तन्मय हुआ शुद्ध भक्त विषय भोग का सहज ही सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर देता है। यही उसकी कृतार्थता का रहस्य है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह वाह्य रूप से इन्द्रियों का कितना भी प्रवल दमन क्यों न करे, अन्त में निश्चित रूप से विफल ही होगा, क्योंकि विषय सुख का स्वल्प चिन्तन भी उसे इन्द्रिय तृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

क्रोधात्=क्रोध से; **भवति**=होता है; **संमोहः**=पूर्ण मोह; **संमोहात्**=संमोह से; **स्मृति-विभ्रमः**=स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है; **स्मृति भ्रशांत्**=स्मृति के भ्रमित हो जाने से; **बुद्धिनाशः**=बुद्धिनाग; **बुद्धिनाशात्**=वुद्धिनाश से; **प्रणश्यति**=अधः पतन हो जाता है।

अनुवाद

क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है; स्मृति-भ्रम से वुद्धिनाश होता है और वुद्धिनाश से संसार-कूप में फिर से पतन हो जाता है॥ ६३॥

तात्पर्य

कृष्णभावना का विकास होने पर यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु का भगवत्सेवा में उपयोग किया जा सकता है। जो कृष्णभावना के तत्त्व को नहीं जानते, वे ही बाह्य रूप से प्राकृत वस्तुओं को त्यागने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि मुमुक्षु होने पर भी वे वैराग्य को प्राप्त नहीं कर पाते। दूसरी ओर, कृष्ण-भावनाभावित वैष्णव प्रत्येक वस्तु को भगवत्सेवा में लगाने में कुशल होता है। इस गुण के कारण ही वह भोगपरायण नहीं होता। उदाहरणार्थ, निर्विशेषवादी की धारणा में निर्विशेष होने से परमतत्त्व श्रीभगवान् भोजन नहीं कर सकते। इसलिए वह स्वादु भोजन को त्यागने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत, भक्त जानता है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता हैं तथा भक्ति भाव से समर्पित नैवेद्य को अवश्य स्वीकार करते हैं। अतः स्वादिष्ट भोजन को भगवद्-निवेदित कर वह स्वयं भी उनके प्रसाद को ग्रहण करता है। इस प्रकार भक्त के लिये सभी कुछ भक्तिवर्धक बन जाता है, जिससे परमार्थ से विच्युत होने का भय नहीं रहता। भक्तगण कृष्णभावना से भावित होकर प्रसाद ग्रहण करते हैं, जबकि अभक्त प्राकृत समझ कर उसका तिरस्कार कर देते हैं। कृत्रिम (बाह्य) त्याग करने वाले ऐसे निर्विशेषवादी जीवन के आस्वादन से वंचित ही रह जाते हैं, इस कारण, मन की तुच्छ उत्तेजना भी उन्हे पुनः संसार-कूप में गिरा देती है। इसी से कहा जाता है कि मुक्ति के स्तर तक पहुँच जाने पर भी ऐसा जीव पुन पतन को ही प्राप्त होता है, क्योंकि उसे भक्ति योग का आश्रय प्राप्त नही है।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

राग=आसक्ति (और); द्वेष=द्वेष से; विमुक्तैः=मुक्त; तु=तो; विषयान्=इन्द्रिय विषयों को; इन्द्रियैः=इन्द्रियों द्वारा; चरन्=भोगता हुआ भी; आत्मवश्यैः=अपने वश में की हुई; विधेयात्मा=संयमी; प्रसादम्=भगवत्कृपा को; अधिगच्छति=प्राप्त करता है।

अनुवाद

जो पुरुष संयम का अभ्यास करता हुआ इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह पूर्ण भगवत्कृपा को प्राप्त करता है और इस प्रकार सब प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। ॥ ६४ ॥

तात्पर्य

पूर्व श्लोकों में कहा जा चुका है कि इन्द्रियों को भगवत्सेवा में तत्पर किये विना किसी कृत्रिम पद्धति के द्वारा वाह्य रूप से इन्द्रियों का नियन्त्रण कर लेने पर भी पतन की पूर्ण सम्भावना रहती है। दूसरी ओर, यद्यपि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष वाह्य रूप से विषयों में ही संलग्न दीखता है, परन्तु भक्ति के प्रभाव से इन क्रियाओं में आसक्त नहीं होता। श्रीकृष्ण का परितोषण करना ही कृष्णभावनाभावित का अनन्य प्रयोजन है। अतएव वह सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त रहता है। श्रीकृष्ण की वांछा होने पर भक्त ऐसा कर्म करने में भी संकोच नहीं करता, जिसे सामान्यतः अवाञ्छनीय माना जाता है। और यदि श्रीकृष्ण की इच्छा न हो तो वह उस कर्म को भी नहीं करे, जिसे वह अपने लिए सामान्य रूप से करता हो। इसलिए किसी कर्म को करना या न करना पूर्ण रूप से उसके हाथ में है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार ही कर्म करता है। यह बुद्धियोग श्रीश्यामसुन्दर की अहैतुकी निरवधि अनुकम्पा का मूर्तरूप है जिसकी प्राप्ति भक्त को विषयों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

प्रसादे=अहैतुकी भगवत्कृपा की प्राप्ति से; **सर्वदुःखानाम्**=समस्त दुखों का; **हानिः**=नाश; **अस्य**=उसके; **उपजायते**=हो जाता है; **प्रसन्नचेतसः**=आह्लादित चित्त वाले की; **हि**=निःसन्देह; **आशु**=अति शीघ्र; **बुद्धिः**=बुद्धि; **परि**=पर्याप्त; **अवतिष्ठते**=स्थिर हो जाती है।

अनुवाद

भगवत्कृपा के द्वारा बुद्धि योग से युक्त हुए पुरुष के सब दु.ख नष्ट हो जाते हैं। प्रसन्न चित्त वाले की बुद्धि अतिशीघ्र स्थिर हो जाती है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

न अस्ति = नही होती; बुद्धिः = दिव्य बुद्धि; अयुक्तस्य = जो कृष्ण भावना से युक्त नही है, उसमें; न = नही; च = तथा; अयुक्तस्य = कृष्ण भावना शून्य पुरुष में; भावना = प्रसन्न चित्त; न = नही; च = तथा; अभावयतः = अस्थिर बुद्धि वाले में; शान्तिः = शान्ति; अशान्तस्य = अशान्त का; कुतः = कैसे (होगा); सुखम् = सुख ।

अनुवाद

जो कृष्णभावना (बुद्धियोग) से युक्त नही हैं, उसका न तो चित्त वश में होता है और न ही बुद्धि स्थिर रहती है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसको शान्ति भी नही होती । शान्ति के बिना सुख तो किस प्रकार से होगा ? ॥६६॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित हुए बिना शान्ति की कोई सम्भावना नही हो हो सकती । पाचवें अध्याय (५ २९) से सिद्ध होता है कि यथार्थ शान्ति तभी सुलभ हो सकती है जब यह ज्ञात हो जाय कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञ तथा तपों के एकमात्र भोक्ता, सब लोकों के परम ईश्वर और प्राणी-मात्र के सुहृद हैं । अत. जो कृष्णभावनाभावित नही है, उसका मन एकाग्र नहीं हो सकता । मन की चंचलता का एकमात्र कारण परम लक्ष्य का न होना है । श्रीकृष्ण परम भोक्ता, ईश्वर और सबके सुहृद हैं—इस निश्चय से एकाग्र हुए चित्त में शान्ति स्वतः सुलभ हो जाती है । अतएव जो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के बिना कार्य करता है, वह जीवन में शान्ति तथा पारमार्थिक उन्नति का कितना भी आडम्बर क्यों न करे, वास्तव में सदा दु खी तथा

अशान्त ही रहता है। कृष्णभावना स्वयं प्रकट होने वाली वह शान्तिमयी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही होती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों के; **हि**=ही; **चरताम्**=साथ विचरण करता हुआ; **यत्**=जिस इन्द्रिय के साथ; **मनः**=मन; **अनुविधीयते**=निरन्तर रहता है; **तत्**=वह; **अस्य**=उसकी; **हरति**=हर लेती है; **प्रज्ञाम्**=बुद्धि को; **वायुः**=वायु; **नावम्**=नौका को; **इव**=जैसे (हर लेता है); **अम्भसि**=जल में।

अनुवाद

जिस प्रकार प्रचण्ड वायु जलगामी नौका का अपहरण करती है, उसी भाँति जिस भी इन्द्रिय पर मन केन्द्रित हो, वह एक ही इन्द्रिय मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है ॥ ६७ ॥

तात्पर्य

यह नितान्त आवश्यक है कि सभी इन्द्रियां भगवत्सेवा में तत्पर रहें, विषयों में लगी हुई एक इन्द्रिय भी भक्त को परमार्थ-पथ से भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। जैसा महाराज अम्बरीष के जीवन-चरित्र से स्पष्ट है, सभी इन्द्रियों को कृष्णभावना के परायण करे; मनोनिग्रह की यथार्थ विधि यही है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात्=इसलिए; **यस्य**=जिसकी; **महाबाहो**=हे महाबाहो; **निगृहीतानि**=वश में की हुई हैं; **सर्वशः**=सब प्रकार से; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियां; **इन्द्रियार्थेभ्यः**=इन्द्रिय-विषयों से; **तस्य**=उसकी; **प्रज्ञा**=बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**=स्थिर होती है।

अनुवाद

इसलिए हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियां सब प्रकार से इन्द्रिय-विषयों से वश में की हुई हैं उसी की बुद्धि नि.सन्देह स्थिर होती है ॥६८॥

तात्पर्य

जिस प्रकार श्रेष्ठ बल के द्वारा शत्रु-मर्दन किया जाता है, वैसे ही इन्द्रियों का निग्रह मानवी चेष्टा से नहीं, अपितु उन्हें भगवत्सेवा में नियोजित करने से ही किया जा सकता है। जो व्यक्ति यह हृदयंगम कर लेता है कि कृष्णभावना के द्वारा ही बुद्धि स्थिर होती है, जिसके लिए प्रामाणिक गुरु के आदेशानुसार इस कला का अभ्यास करना चाहिए, वह साधक अथवा मोक्ष का अधिकारी कहलाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

या=जो; **निशा**=रात्रि है; **सर्व**=सब; **भूतानाम्**=जीवों की; **तस्याम्**=उसमें; **जागर्ति**=जागता रहता है; **संयमी**=आत्म संयम वाला; **यस्याम्**=जिसमें; **जाग्रति**=जागते हैं; **भूतानि**=सब प्राणी; **सा**=वह; **निशा**=रात्रि है; **पश्यतः**=तत्त्व को जानने वाले; **मुनेः**=मुनि के लिए।

अनुवाद

जो सब जीवों की रात्रि है, उसमें आत्मसंयमी जागता है और सब प्राणी जिसमें जागते है, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है ॥६९॥

तात्पर्य

बुद्धिमान् मनुष्यों की दो कोटियां हैं। एक प्रकार के मनुष्य तो इन्द्रिय-तृप्ति के लिए लौकिक कर्म करने में निपुण होते हैं, जबकि दूसरे आत्मद्रष्टा पुरुष स्वरूप-प्राप्ति के लिए जागृत रहते हैं। अन्तर्द्रष्टा मुनि अथवा मनीषीजनों की क्रियाएं विषयियों के लिए रजनी के समान हैं। स्वरूप प्राप्ति के सम्बन्ध में अज्ञानी होने से विषयी ऐसी रात्रि में निद्रा-

अनुवाद

जिसने इन्द्रिय-तृप्ति की वासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग दिया है, जो सब प्रकार की इच्छा और ममता से मुक्त है तथा जो अहंकार को त्याग चुका है, वही पुरुष यथार्थ शान्ति को प्राप्त करता है ।। ७१ ।।

तात्पर्य

निःस्पृहता का अर्थ इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा का न होना है। भाव यह है कि कृष्णभावनाभावित बनने की इच्छा वस्तुतः इच्छाशून्यता ही है। देह में मिथ्या अहंभाव और संसार की किसी भी वस्तु में कल्पित स्वामित्व न रखते हुए श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना कृष्णभावना की सिद्ध अवस्था है। इस संसिद्धि में अवस्थित भक्त जानता है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति के एकमात्र स्वामी श्रीकृष्ण हैं, अतः प्रत्येक वस्तु का उपभोग उनकी प्रीत्यर्थ ही होना चाहिये। अर्जुन प्रारम्भ में निजेन्द्रिय-सुख के लिये युद्ध करना नहीं चाहता है। परन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाने के अनन्तर उसने युद्ध किया, क्योंकि श्रीकृष्ण को यही इष्ट था। व्यक्तिगत रूप से अर्जुन को युद्ध सर्वथा अनभीष्ट था, किन्तु श्रीकृष्ण की प्रीत्यर्थ उसी अर्जुन ने पूर्ण पराक्रम से युद्ध किया। श्रीकृष्ण के परितोषण की स्पृहा वस्तुतः निस्पृहा ही है। इच्छानाश की यह पद्धति कृत्रिम नहीं है। जीवात्मा इच्छाशून्य अथवा इन्द्रियशून्य नहीं हो सकता, उसे इच्छा का स्वरूप ही बदलना है। वितृष्ण पुरुष निश्चित रूप से जानता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण का है (**ईशावास्यमिदं सर्वं**), अतएव किसी भी वस्तु पर अपना मिथ्या अधिकार घोषित नहीं करता। यह ज्ञान स्वरूप-प्राप्ति की इस पूर्ण अनुभूति पर आधारित है कि प्रत्येक जीव श्रीकृष्ण का नित्य-भिन्न-अंश है, अतः उसकी नित्य स्थिति श्रीकृष्ण के समान अथवा उनसे अधिक कदापि नहीं हो सकती। कृष्ण भावनामृत का यह ज्ञान यथार्थ शान्ति का प्रधान अवलम्ब है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

एषा=यह; ब्राह्मी=दिव्य; स्थितिः=अवस्था है; पार्थ=हे अर्जुन; न=नहीं; एनाम्=इसको; प्राप्य=प्राप्त हो कर; विमुह्यति=मोहित होता है; स्थित्वा=स्थित होकर; अस्याम्=इस अवस्था में; अन्तकाले=मृत्यु समय; अपि=भी; ब्रह्मनिर्वाणम्=चिन्मय भगवद्धाम को; ऋच्छति=प्राप्त करता है।

अनुवाद

यह दिव्य भगवत्परायण जीवन का पथ है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस प्रकार स्थिर हुआ पुरुष भगवद्धाम को प्राप्त हो जाता है॥ ७२॥

तात्पर्य

कृष्णभावना अर्थात् भगवत्परायण जीवन की प्राप्ति क्षणभर में भी हो सकती है और यह भी सम्भव है कि कोटि-कोटि जन्मों मे भी इसकी प्राप्ति न हो। इसके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि पूर्वोक्त सत्य को हृदयंगम कर लिया जाय। खट्वांग महाराज ने देहान्त के कुछ क्षण पूर्व श्रीकृष्ण के शरणागत होकर इस कृतार्थ अवस्था को प्राप्त कर लिया था। 'निर्वाण' का अर्थ है विषय परायण जीवन की समाप्ति। बौद्ध दर्शन के अनुसार, इस प्राकृत जीवन के अनन्तर केवल शून्य शेष रह जाता है, किन्तु भगवद्गीता की शिक्षा इससे भिन्न है। यथार्थ जीवन का तो प्रारम्भ ही इस प्राकृत जीवन का अन्त हो जाने पर होता है। घोर विषयियों के लिए इतना जानना भी पर्याप्त होगा कि इस प्राकृत जीवन का अन्त निश्चत है। परन्तु भक्त महानुभावो के लिए इस प्राकृत जीवन के पश्चात् एक चिन्मय जीवन भी है। इस जीवन का अन्त होने से पूर्व ही यदि कोई सौभाग्यवश कृष्णभावनाभावित हो जाय, तो उसे तत्क्षण 'ब्रह्म निर्वाण' पद प्राप्त हो जाता है। भगवद्धाम तथा भक्ति मे सर्वथा अभेद है, दोनों भगवत्-स्वरूप है। अतएव भगवद्भक्ति में तत्पर होना भगवद्धाम मे प्रवेश करने के तुल्य है। प्राकृत जगत् में इन्द्रिय तृप्ति विषयक क्रियायें घटित होती हैं, जबकि भगवद्धाम में केवल कृष्णभावनाभावित कर्म होते हैं। जो इसी जीवन में कृष्णभावनाभावित हो जाता है वह तत्काल ब्रह्मभूत स्तर पर आरूढ़ हो जाता है। इतना ही नहीं, कृष्ण

भावनाभावित पुरुष देहान्त से पूर्व ही भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जाता है।

ब्रह्म तत्त्व प्रकृति के सर्वथा विपरीत है। अतः 'ब्राह्मी स्थितिः' का अर्थ 'प्राकृत क्रियाओं के स्तर से अतीत अवस्था।' भगवद्गीता में अन्यत्र भी भगवद्भक्ति को मुक्तावस्था स्वीकार किया गया है। अस्तु, भव-बन्धन से मुक्ति का नाम ही 'ब्राह्मी स्थिति' है।

श्री भक्तिविनोद ठाकुर के अनुसार, भगवद्गीता का यह द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रतिपाद्य तत्त्व का सारांश है। भगवद्गीता के प्रतिपाद्य हैं 'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। द्वितीय अध्याय में सम्पूर्ण ग्रन्थ की अन्तर्वस्तु के रूप में, 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' का विशद निरूपण है एवं भक्तियोग की अवतरणिका भी विज्ञापित है।

ओ३म् तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साँख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः



कर्मयोग

(भगवत्परायण कर्म)

अर्जुन उवाच।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; ज्यायसी=उत्तम; चेत्=यदि; कर्मणः=सकाम कर्म से; ते=आपका; मता=मत; बुद्धिः=बुद्धि; जनार्दन=हे कृष्ण; तत्=फिर; किम्=क्यों; कर्मणि=कर्म में; घोरे=जघन्य; माम्=मुझे; नियोजयसि=लगाते हैं; केशव=हे कृष्ण।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन ! यदि सकाम कर्म की अपेक्षा आप बुद्धि-योग को श्रेष्ठ समझते हैं, तो फिर हे केशव ! मुझे इस घोर युद्ध में बलपूर्वक क्यों नियोजित कर रहे हैं ? ।।१।।

तात्पर्य

अपने अन्तरङ्ग सखा अर्जुन को शोक-सागर में से मुक्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में जीव के स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया है। इसी सन्दर्भ में 'बुद्धि-योग' अथवा कृष्ण-भावनामृत को स्वरूप प्राप्ति का मार्ग कहा गया है। कभी-कभी भ्रमवश कृष्णभावनामृत को जड़ता समझ लिया जाता है। इस भ्रान्त धारणा से युक्त पुरुष तो प्रायः कृष्ण नाम कीर्तन द्वारा पूर्णतया कृष्ण भावनाभावित बनने के निमित्त एकान्तवास भी करने लगता है। परन्तु कृष्ण भावना के दर्शन में भलीभाँति शिक्षित हुए बिना एकान्त में भगवन्नाम जप करना उचित नहीं है। ऐसा करने से अबोध जनता कृत तुच्छ अर्चना की ही प्राप्ति होगी। अर्जुन भी कृष्ण भावनामृत अथवा 'बुद्धि योग' का तात्पर्य यही समझा कि क्रियाशील जीवन से संन्यास ग्रहण कर एकान्त में तप-त्याग करना चाहिए। वस्तुतः कृष्ण भावनामृत को हेतु बनाकर वह चतुरतापूर्वक युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था। तथापि, निष्कपट शिष्य के रूप में उसने इस विषय को अपने गुरु श्रीकृष्ण के आगे रख दिया और अपने श्रेय-साधन के सम्बन्ध में उनसे जिज्ञासा की। उत्तरस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में 'कर्म योग' अर्थात् कृष्ण भावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।२।।

व्यामिश्रेण=अनिश्चित (दुविधा पूर्ण) ; **इव**=से ; **वाक्येन**=वचनों से ; **बुद्धिम्**=बुद्धि को; **मोहयसिइव**=मोहित सी करते हैं ; **मे**=मेरी

तत्=अतः ; एकम्=एक ; वद=कहिये ; निश्चित्य=निश्चय करके ; येन =जिसके द्वारा; श्रेयः=यथार्थ लाभ को; अहम्=मैं; आप्नुयाम्=होऊं।

अनुवाद

आपके अनिश्चित (दुविधापूर्ण) उपदेश से मेरी बुद्धि मोहित सी हो रही है। अतएव निश्चयपूर्वक वह साधन कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो सके ॥२॥

तात्पर्य

पूर्ववर्ती अध्याय में, 'भगवद्गीता' के उपक्रम के रूप में 'सांख्य-योग', 'बुद्धि योग', इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्म योग, साधक की स्थिति आदि का वर्णन आया है। परन्तु इन सब तत्त्वों का विवेचन व्यवस्थित रूप में नहीं किया गया। कल्याण मार्ग के ज्ञान और उसके अनुसार कर्म करने के लिए अधिक सुनियोजित दिग्दर्शन अपेक्षित है। अतएव अर्जुन इन सम्भ्रामक प्रतीयमान होने वाले तत्त्वों का स्पष्टीकरण करना चाहता था, जिससे साधारण मनुष्य भी उन्हें यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकें। यद्यपि श्रीकृष्ण का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं था कि वे अर्जुन को वाग्चातुर्य से मोहित करते, परन्तु अर्जुन को यह बोध नहीं हो सका कि कृष्ण-भावना की पद्धति यथार्थ में क्या है—जड़ता (निष्क्रियता) अथवा सक्रिय भगवत्सेवा। इस प्रकार अपनी जिज्ञासा के माध्यम से अर्जुन उन समस्त जिज्ञासुओं के लिए कृष्णभावनामृत का पथ प्रशस्त कर रहा है, जो यथार्थ में भगवद्गीता के रहस्य को आत्मसात करने के अभिलाषी हैं।

श्रीभगवानुवाच।
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान् उवाच=भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा ; **लोके**=लोक में ; **अस्मिन्**=इस ; **द्विविधा**=दो प्रकार की ; **निष्ठा**=निष्ठा ; **पुरा**=पूर्व में ; **प्रोक्ता**=कही गयी हैं ; **मया**=मेरे द्वारा ; **अनघ**=हे निष्पाप ; **ज्ञानयोगेन**

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन ! यदि सकाम कर्म की अपेक्षा आप बुद्धि-योग को श्रेष्ठ समझते हैं, तो फिर हे केशव ! मुझे इस घोर युद्ध में बलपूर्वक क्यों नियोजित कर रहे हैं ? ।।१।।

तात्पर्य

अपने अन्तरङ्ग सखा अर्जुन को शोक-सागर में से मुक्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में जीव के स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया है। इसी सन्दर्भ में 'बुद्धि-योग' अथवा कृष्ण-भावनामृत को स्वरूप प्राप्ति का मार्ग कहा गया है। कभी-कभी भ्रमवश कृष्णभावनामृत को जड़ता समझ लिया जाता है। इस भ्रान्त धारणा से युक्त पुरुष तो प्राय: कृष्ण नाम कीर्तन द्वारा पूर्णतया कृष्ण भावनाभावित बनने के निमित्त एकान्तवास भी करने लगता है। परन्तु कृष्ण भावना के दर्शन में भलीभाँति शिक्षित हुए बिना एकान्त में भगवन्नाम जप करना उचित नहीं है। ऐसा करने से अबोध जनता कृत तुच्छ अर्चना की ही प्राप्ति होगी। अर्जुन भी कृष्ण भावनामृत अथवा 'बुद्धि योग' का तात्पर्य यही समझा कि क्रियाशील जीवन से संन्यास ग्रहण कर एकान्त में तप-त्याग करना चाहिए। वस्तुत: कृष्ण भावनामृत को हेतु बनाकर वह चतुरतापूर्वक युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था। तथापि, निष्कपट शिष्य के रूप में उसने इस विषय को अपने गुरु श्रीकृष्ण के आगे रख दिया और अपने श्रेय-साधन के सम्बन्ध में उनसे जिज्ञासा की। उत्तरस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में 'कर्म योग' अर्थात् कृष्ण भावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।२।।

व्यामिश्रेण=अनिश्चित (दुविधा पूर्ण); **इव**=से; **वाक्येन**=वचनों से; **बुद्धिम्**=बुद्धि को; **मोहयसिइव**=मोहित सी करते हैं; **मे**=मेरी;

तत्=अतः ; एकम्=एक ; वद=कहिये ; निश्चित्य=निश्चय करके ; येन =जिसके द्वारा; श्रेयः=यथार्थ लाभ को; अहम्=मैं; आप्नुयाम्=होऊं ।

अनुवाद

आपके अनिश्चित (दुविधापूर्ण) उपदेश से मेरी बुद्धि मोहित सी हो रही है । अतएव निश्चयपूर्वक वह साधन कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो सके ।।२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती अध्याय में, 'भगवद्गीता' के उपक्रम के रूप में 'सांख्य-योग', 'बुद्धि योग', इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्म योग, साधक की स्थिति आदि का वर्णन आया है । परन्तु इन सब तत्त्वों का विवेचन व्यवस्थित रूप में नहीं किया गया । कल्याण मार्ग के ज्ञान और उसके अनुसार कर्म करने के लिए अधिक सुनियोजित दिग्दर्शन अपेक्षित है । अतएव अर्जुन इन सम्भ्रामक प्रतीयमान होने वाले तत्त्वों का स्पष्टीकरण करना चाहता था, जिससे साधारण मनुष्य भी उन्हें यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकें । यद्यपि श्रीकृष्ण का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं था कि वे अर्जुन को वाग्चातुर्य से मोहित करते, परन्तु अर्जुन को यह बोध नहीं हो सका कि कृष्णभावना की पद्धति यथार्थ में क्या है—जड़ता (निष्क्रियता) अथवा सक्रिय भगवत्सेवा । इस प्रकार अपनी जिज्ञासा के माध्यम से अर्जुन उन समस्त जिज्ञासुओं के लिए कृष्णभावनामृत का पथ प्रशस्त कर रहा है, जो यथार्थ में भगवद्गीता के रहस्य को आत्मसात करने के अभिलाषी हैं ।

श्रीभगवानुवाच ।
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३।।

श्रीभगवान् उवाच=भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा ; लोके=लोक में ; अस्मिन्=इस ; द्विविधा=दो प्रकार की ; निष्ठा=निष्ठा ; पुरा=पूर्व में ; प्रोक्ता=कही गयी हैं ; मया=मेरे द्वारा ; अनघ=हे निष्पाप ; ज्ञानयोगेन

=ज्ञानयोग से; **सांख्यानाम्**=सांख्यवादियों की; **कर्मयोगेन**=भक्ति-योग से; **योगिनाम्**=भक्तों की।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले कह चुका हूँ कि स्वरूपप्राप्त पुरुष दो प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ तो श्रीभगवान् को जानने के निमित्त सांख्ययोग में प्रवृत्त रहते हैं, जबकि दूसरे भक्तियोग से उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥३॥

तात्पर्य

द्वितीय अध्याय के उनतालिसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने 'सांख्ययोग' तथा 'कर्मयोग' अथवा बुद्धियोग—इन दोनों पद्धतियों का उल्लेख किया है। इस श्लोक में वे उसी का अधिक विशद वर्णन कर रहे हैं। मनोधर्म तथा अनुभवसिद्ध ज्ञान-दर्शन में प्रवृत्त हुए व्यक्तियों के लिए सांख्ययोग उपयुक्त है। दूसरे प्रकार के मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्म करते हैं। जैसा द्वितीय अध्याय के इकसठवें श्लोक में कहा है। उनतालिसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने यह भी कहा है कि 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावना के अनुसार कर्म करने से कर्म-बन्धन से मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में कोई प्रत्यवाय रूप दोष भी नहीं होता। ६१ वें श्लोक में इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है कि बुद्धियोग का अर्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण की पूर्ण आश्रयता ग्रहण करना है। इस विधि से अनायास ही इन्द्रिय-निग्रह भी हो जाता है। अतः धर्म तथा दर्शन के रूप में दोनों योग अन्योन्याश्रित हैं। दर्शन-विहीन धर्म भावुकता मात्र है, जो कदाचित् धर्मान्धता में भी परिणत हो जाता है। दूसरी ओर जो दर्शन धर्म से युक्त न हो, वह वस्तुतः मनोधर्म है। श्रीकृष्ण सभी के ऐकान्तिक लक्ष्य हैं, क्योंकि जो परतत्त्व के यथार्थ जिज्ञासु हैं वे दार्शनिक भी अन्त में कृष्ण भावनाभावित हो जाते हैं। भगवद्गीता में यह भी प्रतिपादित है। श्रीभगवान् के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना इस सम्पूर्ण पद्धति का सार है। मनोधर्म का मार्ग परोक्ष पद्धति है, क्योंकि उसके द्वारा कृष्णभावनामृत की प्राप्ति शनैः-शनैः ही हो सकती है। दूसरी ओर कृष्णभावना के द्वारा श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। प्रत्यक्षतः

कृष्णभावना का मार्ग अधिक उत्तम है क्योंकि वह दार्शनिक पद्धति के द्वारा इन्द्रिय-शुद्धि करने पर निर्भर नहीं करता। कृष्ण भावनामृत का पथ स्वयं-शुद्धिकारक है तथा भगवद्भक्ति की सीधी पद्धति से युक्त होने के कारण से वह सुगम भी है और उदात्त भी।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥

न=न; कर्मणाम्=स्वधर्म के; अनारम्भात्=न करने से; नैष्कर्म्यम्=कर्म बन्धन से मुक्ति को; पुरुषः=मनुष्य; अश्नुते=प्राप्त होता है; न=न; च=तथा; संन्यासात्=संन्यास द्वारा; एव=ही; सिद्धिम्=कृतार्थता को; समधिगच्छति=प्राप्त होता।

अनुवाद

कर्म न करने से ही कर्म-बन्धन से मुक्ति नहीं होती और न ही केवल संन्यास से कृतार्थता होती है॥४॥

तात्पर्य

विषयी मनुष्यों के हृदय को शुद्ध करने के लिए जिन स्वधर्म रूप कर्मों का विधान किया गया है, उन्हें करके शुद्ध हुआ मनुष्य ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। शुद्धिकरण के बिना अकस्मात् सन्यासाश्रम-ग्रहण कर लेने से कल्याण नहीं होता। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार सन्यास ग्रहण करने, अर्थात् सकाम कर्मों का निवर्तन कर देने से ही नारायणत्व की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण इस मत का अनुमोदन नहीं करते। हृदय-शुद्धि से पूर्व लिया गया संन्यास सामाजिक व्यवस्था में उत्पातकारी ही सिद्ध होता है। दूसरी ओर, स्वधर्म की उपेक्षापूर्वक भगवद्भक्ति में तत्पर हुआ भक्त जो कुछ भी साधन (बुद्धियोग) करता है, प्रभु उसे सोल्लास स्वीकार कर लेते हैं। 'स्वल्पमपि अस्य धर्मस्य त्रायते महत भयात्'—'इस धर्म का थोड़ा सा साधन भी महान् भय से रक्षा व लेता है।'

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

न=नहीं ; हि=अवश्यमेव ; कश्चित्=कोई भी ; क्षणम्=क्षणमात्र; अपि=भी ; जातु=किसी काल में ; तिष्ठति=रहता है ; अकर्मकृत्=विना कर्म किए ; कार्यते=करते हैं ; हि=निःसन्देह ; अवशः=विवश हुए ; सर्वः=सब मनुष्य ; प्रकृतिजैः=प्रकृति से उत्पन्न हुए ; गुणैः=गुणों द्वारा ।

अनुवाद

सब मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के परवश हुए कर्म करते हैं । इसलिए कोई भी पुरुष क्षण मात्र के लिए भी कर्म किए विना नहीं रह सकता ॥५॥

तात्पर्य

आत्मा की सक्रियता का बद्ध-जीवन से कोई सम्वन्ध नहीं, वह तो स्वभाव से ही नित्य क्रियाशील है । आत्मा की उपस्थिति के विना प्राकृत कलेवर कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता । देह तो चेतनाशून्य वाहन मात्र है, जिसे नित्य क्रियाशील आत्मा क्रियान्वित रखता है । अतएव आत्मा के लिए कृष्ण भावनाभावित सत्कर्मों के परायण होना आवश्यक है, अन्यथा वह माया द्वारा निर्दिष्ट कार्यों में व्यस्त हो जायगा । माया के संसर्ग वश दिव्य होने पर भी आत्मा प्राकृत गुणों को ग्रहण कर लेता है । इस दुःसंग के दुष्प्रभाव से आत्मा को शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्र-विहित स्वधर्म का आचरण किया जाय । परन्तु यदि आत्मा अपने स्वरूपभूत कर्म–कृष्ण भावना में ही तत्पर है,तो वह जो कुछ भी करता है, वही उसके कल्याण के लिए पर्याप्त है । श्रीमद्भागवत से सिद्ध है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थाप्तो भजतां स्वधर्मतः ॥

"कृष्ण भावना को अंगीकार करके जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार स्वधर्म पालन नहीं करता और भक्तियोग का भी भलीभाँति सम्पादन

नहीं करता, वह यदि पतित भी हो जाय, तो भी उसकी हानि नहीं होगी। इसके विपरीत यदि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रीय विधान का पालन किया जाय, तो भी कृष्णभावना के अभाव में उस सबसे क्या लाभ?" (श्रीमद्भागवत १.५.१७)

अतएव शुद्धि-कर्मो की सार्थकता इसी में है कि कृष्ण भावना की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार सिद्ध होता है कि संन्यास आदि सब शुद्धीकरण की पद्धतियों का चरम लक्ष्य कृष्ण भावना भावित होने में सहायता प्रदान करना है, जिसके विना सम्पूर्ण उद्यम विफल हो जाते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

कर्मेन्द्रियाणि=पांच कर्मेन्द्रियों का; **संयम्य**=दमन कर; **यः**=जो; **आस्ते**=रहता है; **मनसा**=मन से; **स्मरन्**=चिन्तन करता; **इन्द्रियार्थान्**=इन्द्रियों के विषयों को; **विमूढ़**=मूर्ख; **आत्मा**=पुरुष; **मिथ्याचारः**=दम्भी; **सः**=वह; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों का हठ से दमन करके मन से इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन करता है, वह निस्सन्देह अपने को भ्रम में डालता है और उसे मिथ्याचारी कहा जाता है ॥६॥

तात्पर्य

ऐसे अनेक कपटी हैं जो कृष्ण भावनाभावित कर्म तो नही करते, वरन् ध्यान का पाखण्ड करते हुए चित्त द्वारा विषय-चिन्तन में ही तन्मय रहते हैं। भ्रान्त अनुयायियों को छलने के लिए वे स्वारस्यशून्य शुष्क दर्शन पर भी प्रवचन करते हैं, परन्तु इस श्लोक के अनुसार इन्हे परम धूर्त ही जानना चाहिए। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए समाज में संन्यासी आदि कोई भी रूप धारण कर लेना बड़ा सरल है; परन्तु यदि स्वधर्म का

पालन किया जाय, तो क्रमशः आत्म-शुद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, स्वयं को 'योगी' कहते हुए भी जो इन्द्रिय तृप्ति-दायक भोगों का ही अन्वेषण करता है, वह यद्यपि कभी-कभी दर्शन पर प्रवचन भी करता है, किन्तु उसे परम धूर्त ही जानना चाहिए। उसके तथाकथित ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं, श्रीभगवान् की मायाशक्ति ऐसे पापाचारी के ज्ञान की सम्पूर्ण गरिमा को हर लेती है। मिथ्याचारी का चित्त नित्य मलिन रहता है। अतएव उसके द्वारा विज्ञापित यौगिक ध्यान की कुछ भी महत्ता नहीं है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

यः=जो ; **तु**=परन्तु ; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियोंको; **मनसा**=मनद्वारा; **नियम्य**=वश में करके ; **आरभते**=आरम्भ करता है ; **अर्जुन**=हे अर्जुन ; **कर्मेन्द्रियैः**=कर्मेन्द्रियों से ; **कर्मयोगम्**=भक्ति योग ; **असक्तः**=अनासक्त ; **सः**=वह ; **विशिष्यते**=अति श्रेष्ठ है।

अनुवाद

दूसरी ओर, जो मनुष्य मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा भक्तिभावित कर्म में तत्पर रहता है, वह अति श्रेष्ठ है ॥७॥

तात्पर्य

लम्पट जीवन और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ध्यान योगी का मिथ्या वेष धारण करने के स्थान पर स्वधर्म के ही परायण रहकर जीवन के लक्ष्य—भव-बन्धन से मुक्त होकर भगवद्धाम को प्राप्त करने के लिए साधन करना कहीं उत्तम है। श्रीविष्णु की प्राप्ति ही परम स्वार्थ-गति है। सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का उद्देश्य जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करना है। कृष्ण भावनाभावित नियमित सेवा करने से गृहस्थी भी इस गति को प्राप्त हो सकता है। स्वरूप प्राप्ति के लिए

शास्त्र के अनुसार संयमित जीवन-यापन करते हुए अनासक्त भाव से स्वधर्माचरण करने से परमार्थ सुलभ हो जाता है। अतएव जो पुरुष निष्कपट भाव से इस विधि का अनुगमन करता है, वह उस मिथ्याचारी से अति श्रेष्ठ है जो अबोध जनता को ठगने के उद्देश्य से कृत्रिम आध्यात्मिकता धारण किए रहता है। जीविका के लिए ध्यान लगाने वाले प्रवंचक ध्यानी से तो पथ-मार्जन करने वाला निश्छल मनुष्य भी श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

नियतम्=शास्त्र द्वारा नियत; कुरु=कर; कर्म=स्वधर्म रूप कर्त्तव्य को; त्वम्=तू; कर्म=कर्म करना; ज्यायः=श्रेष्ठ है; हि=निःसन्देह; अकर्मणः=कर्म न करने से; शरीर=शारीरिक; यात्रा=निर्वाह; अपि=भी; च=तथा; ते=तेरा; न=नहीं; प्रसिद्ध्येत्=सिद्ध होगा; अकर्मणः=कर्म न करने से।

अनुवाद

इसलिए तू स्वधर्म रूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा ॥८॥

तात्पर्य

ऐसे अनेक कपट ध्यानी और व्यावसायिक मनुष्य हैं, जो मिथ्या रूप से अपने को उच्चकुलीन तथा परमार्थ के लिए पूर्ण त्याग करने वाला बताते हैं। श्रीकृष्ण की इच्छा थी कि मिथ्याचार करने की अपेक्षा अर्जुन क्षत्रियोचित स्वधर्म का ही अनुशीलन करे। अर्जुन गृहस्थ एवं सेनापति था। अतः उसके लिए यथास्थिति बने रहकर गृहस्थ क्षत्रिय के स्वधर्म का अनुसरण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। स्वधर्म का आचरण विषयी मनुष्य के हृदय का शनैः शनैः परिष्कार कर उसे दोषों से मुक्त कर देता है। जीविका-अर्जन के लिए किए गए तथाकथित त्याग का अनुमोदन

श्रीभगवान् अथवा किसी धर्मशास्त्र ने भी नहीं किया है। देह-धारणार्थ कुछ न कुछ कर्म तो अनिवार्य ही है। अतः विषय वासना से हृदय के शुद्ध हुए बिना कर्म का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर देना उचित नहीं। जगत् का प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को भोगने अर्थात् इन्द्रिय तृप्ति की मलिन प्रवृत्ति से दूषित रहता है। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्तियों को दूर करना होगा। स्वधर्म के पालन द्वारा ऐसा किये बिना उस कपट योगी का रूप कदापि धारण न करे, जो कर्म को त्याग कर दूसरों पर भार बन कर रहता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थात्=यज्ञ (विष्णु) के लिए किये जाने वाले; **कर्मणः**=कर्म के अतिरिक्त; **अन्यत्र**=अन्य कर्म; **लोकः**=संसार में; **अयम्**=इस; **कर्मबन्धनः**=कर्म बन्धन होता है; **तत्-अर्थम्**=उनके लिए; **कर्म**=कर्म को; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **मुक्तसंगः**=अनासक्त भाव से; **समाचर**=भली भाँति कर।

अनुवाद

श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा इस संसार में कर्मबन्धन होता है। इसलिए हे कौन्तेय! श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा बन्धन मुक्त रहेगा ॥९॥

तात्पर्य

केवल शरीर-धारण करने के लिए भी कर्म करना आवश्यक है। इसलिए विभिन्न वर्णाश्रमों के लिए स्वधर्म रूप कर्म का विधान इस प्रकार किया गया है कि उस प्रयोजन की पूर्ति हो सके। 'यज्ञ' शब्द भगवान् विष्णु का भी वाचक है। सब यज्ञों का लक्ष्य श्रीविष्णु को प्रसन्न करना है। वेद की वाणी है—**'यज्ञो वै विष्णु'** अर्थात्, यज्ञ एवं विष्णु-भक्ति का लक्ष्य एक ही है। अतएव इस श्लोक से सिद्ध होता है कि कृष्ण भावनामृत

भी यज्ञ ही है। श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम-धर्म का यही लक्ष्य है। **वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते।** (विष्णु पुराण ३.८.८) अतएव श्रीविष्णु के तोषण के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, अन्य सब कर्म बन्धनकारक सिद्ध होंगे, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का अपना-अपना फल होता है, जो कर्ता के लिए बन्धनकारी है। अतः श्रीकृष्ण (विष्णु) के प्रीत्यर्थ कृष्णभावनाभावित कर्म ही करे। इस कोटि के कर्म करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। यही महान् कर्म-कौशल है। प्रारम्भिक अवस्था में इस पद्धति के लिए अतिशय कुशल परामर्श अपेक्षित रहता है। इसलिए कृष्ण-भक्त अथवा जिनके आश्रय में अर्जुन को कर्म करने का सुअवसर प्राप्त हुआ—उन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अनुसार सोत्साह कर्म करे। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई भी क्रिया न करे, सब कर्म श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ ही करे। इस अभ्यास के द्वारा कर्म बन्धन मेमुक्ति ही नहीं होगी, वरन् उस भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी होगी,जो भगवद्धाम में प्रवेश करने का ऐकान्तिक पथ है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सह यज्ञाः=यज्ञ सहित; **प्रजाः**=प्रजा को; **सृष्ट्वा**=रचकर; **पुरा**=प्राचीन काल में; **उवाच**=कहा; **प्रजापतिः**=प्राणियों के स्वामी ने; **अनेन**=इससे; **प्रसविष्यध्वम्**=समृद्धि प्राप्त करो; **एषः**=यह यज्ञ; **वः**=तुम्हें; **अस्तु**=हो; **इष्ट**=वाञ्छित, **कामधुक्**=कामनाओं को देने वाला।

अनुवाद

सृष्टि के आदि में, प्रजापति ने श्रीविष्णु के लिए प्रयोजित यज्ञ के साथ मानव और देवताओं को रचकर उन्हें यह आशीर्वाद दिया, 'इस यज्ञ द्वारा सुखोपभोग करो, क्योंकि इसके अनुष्ठान से तुम्हें सब वाछित पदार्थों की प्राप्ति होगी' ॥१०॥

श्रीभगवान् अथवा किसी धर्मशास्त्र ने भी नहीं किया है। देह-धारणार्थ कुछ न कुछ कर्म तो अनिवार्य ही है। अतः विषय वासना से हृदय के शुद्ध हुए विना कर्म का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर देना उचित नहीं। जगत् का प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को भोगने अर्थात् इन्द्रिय तृप्ति की मलिन प्रवृत्ति से दूषित रहता है। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्तियों को दूर करना होगा। स्वधर्म के पालन द्वारा ऐसा किये विना उस कपट योगी का रूप कदापि धारण न करे, जो कर्म को त्याग कर दूसरों पर भार वन कर रहता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मवन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थात्=यज्ञ (विष्णु) के लिए किये जाने वाले; **कर्मणः**=कर्म के अतिरिक्त; **अन्यत्र**=अन्य कर्म; **लोकः**=संसार में; **अयम्**=इस; **कर्मबन्धनः**=कर्म वन्धन होता है; **तत्-अर्थम्**=उनके लिए; **कर्म**=कर्म को; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **मुक्तसंगः**=अनासक्त भाव से; **समाचर**=भली भाँति कर।

अनुवाद

श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा इस संसार में कर्मवन्धन होता है। इसलिए हे कौन्तेय! श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा वन्धन मुक्त रहेगा ॥९॥

तात्पर्य

केवल शरीर-धारण करने के लिए भी कर्म करना आवश्यक है। इसलिए विभिन्न वर्णाश्रमों के लिए स्वधर्म रूप कर्म का विधान इस प्रकार किया गया है कि उस प्रयोजन की पूर्ति हो सके। 'यज्ञ' शब्द भगवान् विष्णु का भी वाचक है। सब यज्ञों का लक्ष्य श्रीविष्णु को प्रसन्न करना है। वेद की वाणी है—**'यज्ञो वै विष्णु'** अर्थात्, यज्ञ एवं विष्णु-भक्ति का लक्ष्य एक ही है। अतएव इस श्लोक से सिद्ध होता है कि कृष्ण भावनामृत

भी यज्ञ ही है। श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम-धर्म का यही लक्ष्य है। वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते। (विष्णु पुराण ३.८.८) अतएव श्रीविष्णु के तोषण के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, अन्य सब कर्म बन्धनकारक सिद्ध होंगे, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का अपना-अपना फल होता है, जो कर्ता के लिए बन्धनकारी है। अतः श्रीकृष्ण (विष्णु) के प्रीत्यर्थ कृष्णभावनाभावित कर्म ही करे। इस कोटि के कर्म करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। यही महान् कर्म-कौशल है। प्रारम्भिक अवस्था में इस पद्धति के लिए अतिनिपुण कुशल परामर्श अपेक्षित रहता है। इसलिए कृष्ण-भक्त अथवा जिनके आश्रय में अर्जुन को कर्म करने का सुअवसर प्राप्त हुआ—उन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अनुसार सोत्साह कर्म करे। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई भी क्रिया न करे, सब कर्म श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ ही करे। इस अभ्यास के द्वारा कर्म बन्धन से मुक्ति ही नहीं होगी, वरन् उस भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी होगी, जो भगवद्धाम में प्रवेश करने का ऐकान्तिक पद है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सह यज्ञाः=यज्ञ सहित; प्रजाः=प्रजा को; सृष्ट्वा=रचकर; पुरा=प्राचीन काल में; उवाच=कहा; प्रजापतिः=प्राणियों के स्वामी ने; अनेन=इससे; प्रसविष्यध्वम्=समृद्धि प्राप्त करो; एषः=यह यज्ञ; वः=तुम्हें; अस्तु=हो; इष्ट=वाञ्छित; कामधुक्=कामनाओं को देने वाला।

अनुवाद

सृष्टि के आदि में, प्रजापति ने श्रीविष्णु के लिए प्रयोजित यज्ञ के साथ मानव और देवताओं को रचकर उन्हें यह आशीर्वाद दिया, 'इस यज्ञ द्वारा सुखोपभोग करो, क्योंकि इसके अनुष्ठान से तुम्हें सब वाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति होगी' ॥१०॥

तात्पर्य

प्रजापति (विष्णु) ने इस प्राकृत सृष्टि की रचना कर बद्ध जीवों को अपने यथार्थ निवास भगवद्धाम को पुनर्गमन करने का सुअवसर प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भुला देने के कारण जगत् के सब जीव माया में बँधे हुए हैं। इस सम्बन्ध को जानने में हमारी सहायता करना ही वेदों का लक्ष्य है। जैसा गीता में कहा है, **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'**। भगवान् की श्रीमुख वाणी है कि उन्हें जानना ही वेदों का लक्ष्य है। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि **'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं।'** अस्तु, भगवान् श्रीविष्णु प्रजापति हैं। श्रीमद्भागवत में भी श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उन्हें विविध प्रकार से 'पति' अर्थात् स्वामी सम्बोधित किया है—

श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चांधकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥
(श्रीमद्भागवत २।४।२०)

भगवान् विष्णु प्रजापति हैं; वे ही सब जीवों, लोकों तथा श्री के पति एवं सर्व-संरक्षक हैं। उन्होंने इस जगत् की रचना इसलिए की है जिससे बद्ध जीवों को श्रीविष्णु के प्रीत्यर्थ यज्ञ करने की शिक्षा प्राप्त हो जाय। इससे वे संसार में त्रितापदग्ध हुए बिना सुख पूर्वक रह सकेंगे और देहान्त हो जाने पर भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायेंगे। यह मायाबद्ध जीव के लिए भगवान् की पूरी योजना है। यज्ञ के द्वारा बद्ध-जीव उत्तरोत्तर कृष्ण-भावना-भावित होकर सब प्रकार से देवोपम बन जाते हैं। वर्तमान कलियुग के युगधर्म के रूप में वेदों में 'संकीर्तन यज्ञ' का विधान है। अतएव इस युग के समस्त जीवों के उद्धारार्थ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस अलौकिक पद्धति का प्रवर्तन किया। वस्तुतः संकीर्तन यज्ञ और कृष्ण-भावना का युगल बड़ा सुन्दर है। श्रीमद्भागवत में भी संकीर्तन यज्ञ के विशिष्ट सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त रूप (श्रीचैतन्य महाप्रभु) का वर्णन है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

"इस कलियुग में यथार्थ बुद्धिमान् संकीर्तन-यज्ञ के द्वारा ही पार्षदों से युक्त भगवान् श्रीगौरहरि की आराधना करेंगे।" (श्रीमद्भागवत ११.५.२९) इस कलियुग में अन्य वर्णित वैदिक यज्ञों का करना सम्भव नहीं रहा है। परन्तु संकीर्तन यज्ञ तो आज भी सर्वाभीष्ट-सिद्धि के लिए अतिशय सुगम और सर्वोत्कृष्ट (उदात्त) है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

देवान्=देवताओं को; भावयत=प्रसन्न करो; अनेन=इस यज्ञ के द्वारा; ते=वे; देवाः=देवता; भावयन्तु=प्रसन्न करेंगे; वः=तुम्हें; परस्परम्=परस्पर; भावयन्तः=एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए; श्रेयः=कल्याण को; परम्=परम, अवाप्स्यथ=प्राप्त करोगे।

अनुवाद

तुम्हारे यज्ञों से प्रसन्न हुए देवता तुम्हें प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के पोषण से सर्वत्र सबके लिए समृद्धि हो जायगी ॥११॥

तात्पर्य

देवता संसार के शक्ति-निक्षिप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव को देह-धारणार्थ वायु, जल, प्रकाशादि तत्वों की आवश्यकता है। इनकी आपूर्ति का उत्तरदायित्व देवताओं पर है। ये असंख्य देवगण विराट् भगवद्-विग्रह के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अवस्थित भगवत्सेवक हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्य के यज्ञ करने पर निर्भर है। यद्यपि कुछ यज्ञ विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, तथापि सभी यज्ञों में मुख्य भोक्ता के रूप में भगवान् विष्णु की ही आराधना सम्पन्न होती है। भगवद्गीता में भी कहा है कि स्वयं श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता हैं—'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्' अतएव अन्त में 'यज्ञपति' का परितोषण ही सब 'यज्ञों' का मुख्य प्रयोजन है। इन यज्ञों को भलीभाँति करने से निश्चि-

संभरण विभागों के अध्यक्ष देवता स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं, जिससे किसी भी प्राकृतिक पदार्थ का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों से ऐसे अनेक आनुसंगिक लाभ भी होते हैं, जिनसे अन्त में बन्धनमुक्ति हो जाती है। वेदानुसार, यजन से सब क्रियाओं का परिष्कार हो जाता है—

> आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ।
> ध्रुवाः स्मृतिः स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्र-मोक्षः॥

"जैसा अगले श्लोक में कहा गया है, यजन द्वारा आहार शुद्ध हो जाता है तथा आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है। सत्त्व-शुद्धि से स्मृति शुद्ध होती है, जिससे मुक्ति-पथ के चिन्तन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इस समग्र पद्धति से कृष्ण-भावना-उद्‌भावित होती है, जो वर्तमान विश्व की महती आवश्यकता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

इष्टान्=इच्छित; **भोगान्**=जीवन धारण के लिए आवश्यक पदार्थों को; **हि**=अवश्य; **वः**=तुम्हें; **देवाः**=देवता; **दास्यन्ते**=देंगे; **यज्ञ-भाविताः**=यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए; **तैः**=उनके द्वारा; **दत्तान्**=दिये हुए पदार्थों को; **अप्रदाय**=दिये विना; **ऐभ्यः**=देवताओं के लिए; **यः**=जो; **भुंक्ते**=भोगता है; **स्तेन**=चोर है; **एव**=निश्चय; **सः**=वह।

अनुवाद

देवता, जो विविध जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकारी हैं, यज्ञ से प्रसन्न होकर मानव की सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर देते हैं। इस पर भी जो पुरुष उनके द्वारा दिये गये भोगों को उन्हें पुनः अर्पण किये विना भोगता है, वह निश्चय चोर है॥१२॥

तात्पर्य

देवता भगवान् श्रीविष्णु द्वारा भोग सामग्री प्रदान करने के लिए नियुक्त किये गये हैं। इसलिए शास्त्रीय यज्ञों के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करे। वेद में विभिन्न देवताओं के निमित्त नाना यज्ञों का विधान है। परन्तु इन सबके परम लक्ष्य तो श्रीभगवान् ही हैं। जो मनुष्य श्रीभगवान् के तत्त्व को नही समझ सकता, उसी के लिए देव-यज्ञ का विधान किया गया है। अनुष्ठाता के गुणों के अनुसार वेद में विभिन्न यज्ञों का निर्देश है। देवोपासना गुणानुसार ही होती है। उदाहरण के लिए, मांसाहारियों के लिए प्रकृति के घोर रूप—कालि की उपासना और पशु-बलि का विधान है। परन्तु जो सत्त्वगुण में स्थित, उसके लिए तो भगवान् श्रीविष्णु की दिव्य आराधना ही उपदिष्ट है। अतः यह सिद्ध होता है कि समस्त यज्ञों का आत्यन्तिक प्रयोजन शनैः-शनैः शुद्ध-सत्त्व के स्तर को प्राप्त कराना है। साधारण लोगों को कम से कम 'पंचमहायज्ञ' तो अवश्य ही करने चाहिएँ।

यह स्मरणीय है कि मानव समाज के लिए आवश्यक समस्त पदार्थों का अनुदान देवता करते हैं, जो श्रीभगवान् के प्रतिनिधि हैं। मनुष्य स्वयं किसी भी पदार्थ का सृजन नहीं कर सकता। मानव-समाज के समस्त भक्ष्य पदार्थों के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जायगा। इनमें सत्त्व-गुणी के आहार—अनाज, फल, शाक, दुग्ध, शर्करा आदि एवं मांसाहारियों के मांसादि भोजन भी सम्मिलित हैं। उपरोक्त किसी भी पदार्थ की संरचना मनुष्य नहीं कर सकता। तेज, प्रकाश, जल आदि जीवनोपयोगी अन्यान्य पदार्थों के सृजन में भी मनुष्य समर्थ नही। परमेश्वर श्रीकृष्ण के बिना पर्याप्त सूर्यप्रकाश, चन्द्र-प्रभा, परिवर्षण, समीर, आदि नहीं हो सकते और इन तत्त्वों के अभाव में जीवन नहीं रह सकता। स्पष्टतः हमारा जीवन श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त सामग्री पर ही पूर्णतया आश्रित है। अपने उत्पादन-सम्बन्धी उद्यम के लिए भी हमें धातु, खनिज आदि अपेक्षित हैं। श्रीभगवान् के अनुचर देवता हमें ये सब पदार्थ इसीलिए देते हैं कि इनके सदुपयोग से हम स्वस्थ रहकर स्वरूप-प्राप्ति के लिए साधन कर सकें और अन्त में भवरोग के घोर संघर्ष से मुक्त हो जायें।

यज्ञों के द्वारा इस जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम मानवीय जीवन के उद्देश्य को भुलाकर श्रीभगवान् के सेवकों द्वारा दिये गए इन पदार्थों से केवल अपनी इन्द्रियों की तृप्ति ही करते हैं, तो हमें अधिकाधिक बन्धन की ही प्राप्ति होगी, जो इस सृष्टि का प्रयोजन नहीं है। अतएव ऐसा करने वाला निश्चय चोर है और प्रकृति के नियमानुसार दण्डनीय है। लक्ष्य-विहीन तस्कर-समाज कभी सुखी नहीं हो सकता। विषयी चोरों के जीवन का कोई परम लक्ष्य नहीं होता। वे नित्य विषय भोगों के ही परायण रहते हैं, यहाँ तक कि यज्ञ का ज्ञान भी उन्हें नहीं होता। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वाधिक सुगम यज्ञ-संकीर्तन यज्ञ का प्रवर्तन किया है। कृष्णभावनामृत को अंगीकार कर विश्व का प्रत्येक निवासी इस संकीर्तन यज्ञ में सम्मिलित हो सकता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

यज्ञशिष्ट=यज्ञ प्रसाद को; **अशिनः**=खाने वाले; **सन्तः**=भक्त; **मुच्यन्ते**=मुक्त हो जाते हैं; **सर्वकिल्बिषैः**=सब पापों से; **भुञ्जते**=भोगते हैं; **ते**=वे; **तु**=तो, **अघम्**=पाप को ही; **पापा**=पापात्मा; **ये**=जो; **पचन्ति**=भोजन बनाते हैं; **आत्मकारणात्**=इन्द्रिय सुख के लिए।

अनुवाद

यज्ञ से बचे अन्न का भोजन करने वाले भगवद् भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो इन्द्रिय तृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं॥१३॥

तात्पर्य

भगवद्भक्त अथवा कृष्णभावनाभावित महज्जनों को सन्त कहा जाता है। वे भगवत् प्रेम-पारावार में ही नित्य निमज्जित रहते हैं। जैसा ब्रह्मसंहिता में कहा है :

'प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।'

सर्वानन्द प्रदायक भगवान् गोविन्द, मुक्ति-विलुण्ठक मुकुन्द, सर्वाकर्षी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम से आविष्ट हृदय वाले सन्तजन उन परम पुरुषोत्तम को अर्पित किये विना कुछ भी अंगीकार नहीं करते। इसलिए वे भक्तगण श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, आदि भक्ति के विविध अंगों से नित्यप्रति यज्ञ करते रहते हैं। इन यज्ञों के प्रभाव से वे जगत् के सम्पूर्ण पापमय संग-दोष से मुक्त रहते हैं, वरन् त्रिभुवन को ही पावन कर देते हैं। दूसरी ओर इन्द्रिय तृप्ति के लिए भोजन वनाने वाले अन्य मनुष्य चोर ही नहीं हैं, वरन् सर्वविध पाप को ही खाते हैं। पापाचार एवं चौर्य-कर्म में तत्पर मनुष्य किस प्रकार सुखी होगा ? यह कदापि सम्भव नहीं। अतः पूर्णानन्द के आस्वादनार्थ जन-साधारण में पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर संकीर्तन यज्ञ करने की सुगम विधि का प्रचार-प्रसार करे। अन्यथा, ससार में सुख-शान्ति सदा अलभ्य ही रहेगी।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नात्=अन्न से ; भवन्ति=उत्पन्न होते हैं ; भूतानि=प्राकृत कलेवर ; पर्जन्यात्=वर्षा से ; अन्न=अन्न ; संभवः=उत्पन्न होता है ; यज्ञात्=यज्ञ द्वारा ; भवति=होती है ; पर्जन्यः=वर्षा ; यज्ञः=यज्ञ ; कर्म=स्वधर्मरूप कर्म से ; समुद्भवः=प्रकट होता है।

अनुवाद

सब प्राणी अन्न से ही जीवन धारण करते है और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है तथा यज्ञ स्वधर्म से प्रकट होता है ॥१४॥

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के महिमामय भाष्यकार श्रील बलदेव विद्याभूषण का कथन है : "ये इन्द्राद्यङ्गं तयावस्थितं यज्ञं सर्वेश्वरं विष्णु-

मभ्यर्च्य तच्छेषमशन्ति तेन तेह ह यात्रां सम्पादयन्ति, ते सन्तः सर्वेश्वरस्य भक्ताः सर्व-किल्विषैरनादि-काल-विवृद्धै रात्मानुभव प्रतिवन्धकैर्निखिलैः पापैर्विमुच्यन्ते ।'

'यज्ञ-पुरुष' अथवा 'यज्ञ-भोक्ता' नाम से विश्रुत परमेश्वर श्रीकृष्ण अखिल देवनिकाय के अधीश्वर हैं। जिस प्रकार विभिन्न अंग सम्पूर्ण शरीर की सेवा करते हैं, उसी भांति ये सब देवता श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अधिकारासीन इन्द्र, चन्द्र, वरुण, प्रभृति देवता प्राकृत संसार के व्यवस्थापक हैं। वेदों में इनके निमित्त यज्ञानुष्ठान का निर्देश है, जिससे परितुष्टहोकर ये अन्न की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त वायु प्रकाश तथा जल प्रदान करें। परन्तु श्रीकृष्ण की आराधना करने से उनके विभिन्न अंग-स्वरूप देवताओं की आराधना स्वयमेव हो जाती है; देवताओं की पृथक् उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रहती। कृष्णभावनाभावित भक्त इसी हेतु से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण के प्रति अन्न निवेदित करने के अनन्तर ही भोजन करते हैं। इस पद्धति से शरीर का भक्तिवर्धक परिपोषण होता है। भगवत्प्रसाद ग्रहण से देह के विगत पाप कर्म-फल ही नष्ट नहीं होते, वरन् सब प्रकार के सांसारिक विकारों से भी शरीर मुक्त हो जाता है। संचारी रोग के व्याप्त होने पर रोगाणुरोधक औषध के मसूरण के द्वारा मनुष्य अपनी रक्षा करता है। इसी भाँति, श्रीविष्णु को समर्पित किए गए अन्न (प्रसाद) के ग्रहण करने से हमारी सम्पूर्ण विषयासक्ति का भलीभाँति निवारण हो जाता है। इस पद्धति का नित्य आचरण करने वाला ही भक्त कहलाता है। इस प्रकार जो केवल कृष्ण प्रसाद को ही ग्रहण करता है, वह कृष्णभावनाभावित पुरुष उन सभी प्राकृत विकारों का प्रतिकार कर सकता है, जो स्वरूपानुभूति के पथ में विघ्न उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत, इन्द्रिय तृप्ति के लिए भोजन करने वाला निरन्तर पाप कर्म की ही अभिवृद्धि करता रहता है, जिससे पुनर्जन्म में पाप-कर्मों के फल को भोगने के लिये शूकर-कूकर योनि की प्राप्ति होती है। संसार दोषों से भरा है, परन्तु भगवत्प्रसाद का सेवन करने से जीवन्मुक्त हुए भक्त की इनके आक्रमणों से

रक्षा हो जाती है, जबकि ऐसा नहीं करने वाला सर्वथा कलुषित हो जाता है।

अन्न, शाकादि सात्त्विक पदार्थ ही वस्तुतः खाने के योग्य हैं। मानव नाना प्रकार के अन्न, शाक, फल, आदि का उपयोग करता है तथा पशु बचे हुए अन्न, शाक, तृण, तथा वनस्पति का आहार करते हैं। मांसाहारी मनुष्य भी पशु-भक्षण के लिए अन्ततः वनस्पति-उत्पादन पर ही निर्भर हैं। अतः मूल रूप में हम सब कृषि-उत्पादन पर आश्रित हैं, वृहत् कारखानों पर नहीं। कृषि-उत्पादन का आधार है पर्याप्त परिवर्षण। वर्षा के नियन्ता इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा आदि समस्त देवगण श्रीभगवान् के सेवक हैं। श्रीभगवान् केवल यज्ञों से ही प्रसन्न होते हैं। अतएव जो यज्ञ नहीं करता, वह प्रकृति के नियम के अनुसार सदा अभावग्रस्त रहता है। अस्तु, कम से कम दुर्भिक्ष से मानव समाज को बचाने के लिए तो इस युग के लिए विशेष रूप से निर्दिष्ट यज्ञ—संकीर्तन का आयोजन अवश्य ही करना चाहिए।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म=कर्म; ब्रह्म=वेद से; उद्भवम्=उत्पन्न हुआ; विद्धि=जान; ब्रह्म=वेद; अक्षर=परम ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण से; समुद्भवम्=प्रकट हुए हैं; तस्मात्=इस कारण; सर्वगतम्=सर्वव्यापी; ब्रह्म=ब्रह्म-तत्त्व; नित्यम्=सदा; यज्ञे=यज्ञ में; प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित है।

अनुवाद

स्वधर्म रूप कर्मों का विधान वेदों में है तथा वेद साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से प्रकट हुए हैं। इसलिए सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है ॥१५॥

तात्पर्य

इस श्लोक में 'यज्ञार्थ-कर्म' अथवा श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ कर्म करने की

आवश्यकता का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के परितोषणार्थ कर्म करने के लिए हमें 'ब्रह्म' अर्थात् अपौरुषेय 'वेदों' से कर्म-विधान जानना होगा, क्योंकि वेद ही कर्म-विधि की संहिता हैं। वेदाज्ञा के विना सम्पादित क्रिया को 'विकर्म' अथवा पाप कहते हैं। अतएव कर्म-बन्धन मुक्ति के लिए वेद-निर्देश सदा ग्रहणीय हैं। जिस प्रकार साधारण जीवन में राज के नियमानुसार कर्म किया जाता है, उसी भाँति, श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार ही कर्म करना है। ये वैदिक-विधान स्वयं श्रीभगवान् के निःश्वास से प्रकट हुए हैं। प्रसिद्ध कथन है : **'अस्य महतो भूतस्य नश्वसितं एतद् यद्दग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्वात् गिरसः।'** 'ऋक्', 'साम', 'यजु' और 'अथर्व'—ये चारों वेद श्रीभगवान् के निःश्वास सहित प्रकट हुए हैं।' सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् निःश्वास द्वारा भी प्रवचन करने में समर्थ हैं। ब्रह्मसंहिता से प्रमाणित है कि श्रीभगवान् अपने किसी भी अंग से अन्य समस्त अंगों की क्रिया कर सकते हैं। अर्थात्, वे अपने निःश्वास से प्रवचन तथा दृष्टिमात्र से गर्भाधान करने में सक्षम हैं। वस्तुतः, कहा जाता है कि उन्होंने माया पर दृष्टिनिपात कर उसमें समस्त जीवों का गर्भाधान किया और इसके अनन्तर वैदिक ज्ञान के रूप में बद्ध जीवों के लिए भगवद्धाम के मार्ग का निर्देश किया। हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि माया-बद्ध जीव इन्द्रिय तृप्ति के लिए सदा आतुर रहते हैं। परन्तु वैदिक निर्देश इस विधि से प्रणीत हैं कि अपनी विकृत कामनाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाले मिथ्या आनन्द को भोगकर जीव अन्त में भगवद्धाम को प्राप्त हो जाय। इस प्रकार बद्ध जीवों को मुक्ति का सुअवसर दिया गया है। अतः प्रत्येक बद्ध जीव को कृष्ण भावनाभावित बन कर यज्ञ-क्रिया का अभ्यास करना चाहिए। जो इस वैदिक-विधान का पालन नहीं कर सकते, वे मनुष्य भी कृष्णभावना को अंगीकार कर सकते हैं। कृष्णभावना से सम्पूर्ण वैदिक यज्ञ-कर्मों का प्रयोजन सिद्ध हो जायगा।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

एवम्=इस प्रकार नियत; प्रवर्तितम्=वेदों द्वारा चलाये गये; चक्रम्=चक्र के; न अनुवर्तयति=अनुसार आचरण नहीं करता; इह=इस जीवन में; यः=जो; अघायुः=पाप पूर्ण जीवन वाला; इन्द्रियारामः=विषय भोग परायण; मोघम्=व्यर्थ; पार्थ=हे पार्थ (अर्जुन); सः=वह; जीवति=जीता है।

अनुवाद

हे अर्जुन ! जो मनुष्य वेद की इस यज्ञ-व्यवस्था का अनुसरण नहीं करता, उसका जीवन निस्सन्देह पापमय है, क्योंकि जो इन्द्रिय तृप्ति के ही परायण रहता है, वह व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने उस धन सर्वस्ववादी विचारधारा का तिरस्कार किया है, जिसके अनुसार कठोर परिश्रम के द्वारा इन्द्रिय तृप्ति में रमण करना चाहिए। अतएव जो इस संसार को भोगना चाहते हैं, उनके लिए ही पूर्वोक्त यज्ञ-चक्र का अनुसरण करना परम आवश्यक है। इस विधान की अवज्ञा करने वाला महान् विपत्ति को आमन्त्रित कर रहा है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर अधिक पाप से लिप्त होता जाता है। प्रकृति के नियमानुसार, यह मानव शरीर विशेष रूप से स्वरूप-सिद्धि के लिए ही प्राप्त होता है। इसके तीन मार्ग हैं—'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। पाप-पुण्य से मुक्त हुए योगियों के लिए यज्ञादि-विधान का दृढ़ अनुसरण आवश्यक नहीं रहता। परन्तु जो इन्द्रिय-तृप्ति के परायण हैं, उनके लिए पूर्वोक्त यज्ञ चक्र के साधन से आत्म-शुद्धि करना अनिवार्य है। कर्म के अनेक आवान्तर भेद हैं। जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, वे निश्चय ही विषय-परायण हैं। अतः उनके लिए पुण्य कर्मों का सम्पादन अभिधेय है। यज्ञ-व्यवस्था इस प्रकार सुनियोजित है कि विषयी इच्छा-पूर्ति करते हुए भी इन्द्रिय तृप्तिजनित बन्धन से ग्रस्त न हों। विश्व की समृद्धि हमारे प्रयत्न पर नहीं, अपितु देवताओं द्वारा सम्पादित श्रीभगवान् की पूर्व-व्यवस्था पर निर्भर है। इसीलिए वेदों में विभिन्न यज्ञों का भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए विधान है। परोक्ष रूप से

यह भी कृष्ण भावनामृत का ही अभ्यास है, क्योंकि यज्ञविद् यथा-समय कृष्णभावनाभावित हो जायगा, यह सुनिश्चित है। परन्तु यदि यज्ञों का अनुष्ठाता कृष्णभावनाभावित न बने, तो यह सिद्धान्त नैतिक आचार मात्र रह जाता है। अतः अपनी प्रगति को नैतिक आचार तक ही सीमित रखने की अपेक्षा, उसका अतिक्रमण कर कृष्णभावनामृत की प्राप्ति करनी चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

यः=जो; तु=परन्तु; आत्मरतिः=आत्मा में ही आनन्द आस्वादन करता है; एव=निस्सन्देह; स्यात्=रहता है; आत्मतृप्तः=स्वयं प्रकाश; च=तथा; मानवः=मनुष्य; आत्मनि=अपने में; एव=ही; सन्तुष्टः=पूर्ण रूप से संतुष्ट; तस्य=उसके; कार्यम्=कर्त्तव्य; न=नहीं; विद्यते=है।

अनुवाद

परन्तु जो पुरुष आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है, जो आत्म-प्रकाश से युक्त है और जो आत्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है॥१७॥

तात्पर्य

जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उस पुरुष के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। कृष्णभावना में तन्मयता के कारण उसके हृदयगत मल का तत्काल परिष्कार हो जाता है। ऐसी अन्तर्शुद्धी वस्तुतः हजारों यज्ञों का फल है। इस प्रकार मति का शोधन हो जाने से श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध में पूर्व आस्था का उदय होता है। इस प्रकार भगवत्कृपा से कर्तव्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है, जिससे वेद-विधान के प्रति कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। ऐसे कृष्णभावना-

न्तर; कार्यम्=कर्त्तव्य समझ कर; कर्म=कर्म; समाचर=भली-भांति कर; असक्तः=अनासक्त; हि=निःसन्देह; आचरन्=करने से; कर्म=कर्म: परम्=परब्रह्म को; आप्नोति=प्राप्त होता है; पूरुषः=मनुष्य ।

अनुवाद

इसलिए कर्मफल में अनासक्त भाव से कर्तव्य की भांति कर्म करना चाहिए, क्योंकि अनासक्त कर्म करने से परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है ।।१६।।

तात्पर्य

भक्तों के लिए 'परमलक्ष्य' का अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण तथा निर्विशेषवादियों के लिए मुक्ति है । अतएव जो पुरुष सद्गुरु के मार्ग दर्शन में फलासक्ति के विना श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए (कृष्णभावनाभावित) कर्म करता है, वह जीवन के परम लक्ष्य की दिशा में निस्सन्देह प्रगति करता है । अर्जुन से कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ युद्ध करने को कहा गया है, क्योंकि श्रीकृष्ण की ऐसी ही इच्छा थी । पुण्यात्मा अथवा अहिंसक होना भी वैयक्तिक आसक्ति है । वस्तुत; भगवान् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करना ही फलासक्ति शून्य कर्मयोग है । भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी को परमोच्च कर्म-सिद्धि कहा है । नियत यज्ञों की भाँति वैदिक कर्म भी इन्द्रिय तृप्ति करने में हुए पापों की निवृत्ति के लिए किये जाते हैं । परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सब प्रकार के शुभ-अशुभ फल से मुक्त है । कृष्ण भावनाभावित भक्त में लेशमात्र भी फलासक्ति नहीं रहती, वह तो केवल श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ कर्म करता है । अतएव सब प्रकार के कर्म करते रहने पर भी वह सर्वथा अनासक्त रहता है ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।२०।।

कर्मणा=कर्म द्वारा; एव=ही; हि=निस्सन्देह; संसिद्धि=परम

कृतार्थता को; आस्थिताः=प्राप्त हुए हैं; जनकादयः=जनक आदि राजा; लोक संग्रहम्=लोक-शिक्षा को; एव=ही, अपि=भी; संपश्यन् =विचार कर; कर्तुम्=करने के; अर्हसि=योग्य है।

अनुवाद

जनक आदि राजा भी कर्म द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसलिए लोक-संग्रह के उद्देश्य से भी तू स्वधर्म रूप कर्म करने के ही योग्य है ॥२०॥

तात्पर्य

जनक आदि राजर्षि आत्मज्ञानी थे। इसलिए उनके लिए वैदिक कर्म आवश्यक नहीं थे। तथापि, लोक शिक्षा के हेतु उन्होंने [illegible]
नियत कर्मों का भलीभांति आचरण किया। जनक श्रीसीताजी के [illegible]
और भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। महाभागवत होने से उनकी [illegible]
स्थिति लोकोत्तर थी, तथापि मिथिला के अधिपति के रूप में वे [illegible]
प्रजा को धर्मयुद्ध की शिक्षा देते थे। वे एवं उनके प्रजाजन [illegible]
को इस बात की शिक्षा प्रदान करने के लिए युद्ध करते थे कि [illegible]
के विफल हो जाने पर हिंसा भी आवश्यक हो जाती है। [illegible]
पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने भी युद्ध के निवारणार्थ [illegible]
किन्तु विपक्ष युद्ध के लिए पूर्णतया कृतसंकल्प था। [illegible]
निमित्त के लिए युद्ध आवश्यक है। यद्यपि [illegible]
संसार लेशमात्र भी रुचिकर नहीं रहता, [illegible]
तथा कर्म करने की शिक्षा देने के लिए वह [illegible]
श्लोक में कहा गया है, कृष्णभावना का [illegible]
के द्वारा ऐसा आदर्श स्थापित करता है [illegible]
कर सकें।

यद्यदाचरति [illegible]
स यत्प्रमाणं [illegible]

यत्=जो ; **यत्**=जो भी ; **आचरति**=आचरण करता है ; **श्रेष्ठः**= लोकनायक ; **तत्**=वह ; **तत्**=वह ; **एव**=ही ; **इतरः**=साधारण ; **जनः**=मनुष्य ; **सः**=वह ; **यत्**=जो ; **प्रमाणम्**=प्रमाण ; **कुरुते**= करता है ; **लोकः**=सम्पूर्ण विश्व ; **तत्**=उसका ; **अनुवर्तते**=अनुसरण करता है ।

अनुवाद

महापुरुष जो-जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते हैं । वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है ॥२१॥

तात्पर्य

जन साधारण को सदा एक ऐसे लोकनायक की अपेक्षा रहती है, जो अपने व्यावहारिक आचरण से जनता को शिक्षित कर सके । जो स्वयं धूम्रपान का व्यसनी हो, वह जानता को ऐसा न करने का उपदेश नहीं दे सकता । श्रीचैतन्य महाप्रभु की वाणी है कि दूसरों को शिक्षा देने से पूर्व स्वयं शिक्षक को सदाचार का सम्यक् पालन करना चाहिए । इस प्रकार जो अपने सदाचरण से लोक-शिक्षा देता है, उसे 'आचार्य' अर्थात् आदर्श गुरु कहा जाता है । अतएव जन साधारण में शिक्षा का व्यापक प्रसार करने के लिए शिक्षक स्वयं भी शास्त्रीय सिद्धान्तों का परिपालन करे । यथार्थ आचार्य शास्त्र-विरुद्ध विधान नहीं कर सकता । मनु-स्मृति जैसे सत्-शास्त्रों को मानव समाज द्वारा अनुसरणीय आदर्श-शास्त्र माना जाता है । इस प्रकार यह नितान्त आवश्यक है कि लोक-नायक की शिक्षा महान् आचार्यों द्वारा आचरित आदर्श नियमों पर आधारित हो । श्रीमद्भागवत से भी प्रमाणित है कि महाभागवतों का अनुसरण करने से ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है । राजा अथवा राज्य के सर्वोच्च कार्यकारी, पिता तथा अध्यापक अबोध जनता के स्वयंसिद्ध नायक हैं । इनका अपने आश्रितों के प्रति विशेष दायित्व है । इसके लिए आवश्यक है कि ये नीति और परमार्थ के प्रामाणिक शास्त्रों में पारंगत हों ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

न=नहीं; मे=मुझे; पार्थ=हे पार्थ; अस्ति=है; कर्त्तव्यम्=कर्तव्य; त्रिषु=तीनों; लोकेषु=लोकों में; किंचन=कुछ भी; न=नहीं; अनवाप्तम्=अप्राप्त; अवाप्तव्यम्=प्राप्त होने योग्य पदार्थ; वर्ते=तत्पर हूं; एव=निस्सन्देह; च=तथा; कर्मणि=कर्म में।

अनुवाद

हे पार्थ! त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा न तो किसी पदार्थ का अभाव है और न ही आवश्यकता है। फिर भी मैं कर्म में ही तत्पर रहता हूं ॥२२॥

तात्पर्य

वेदों में श्रीभगवान् का यह वर्णन प्राप्त होता है :

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

'परमेश्वर श्रीकृष्ण सब ईश्वरों के भी परम महेश्वर एवं सभी देवताओं के परमोच्च देव हैं। सभी उनके आधीन हैं। जीवात्मा स्वयं परतत्त्व नहीं है, वरन् उनकी विशिष्ट शक्ति के स्रोत श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण देवताओं के आराध्य तथा समस्त नियन्ताओं के भी नियन्ता हैं। अतएव जगत् के लोकनायकों और ईश्वरों से अतीत होने से वे सर्ववन्दनीय हैं। उनसे अधिक कोई नहीं है, वही सब कारणों के परम कारण हैं।'

'भगवान् का श्रीविग्रह साधारण जीवात्मा के देह के समान नहीं है। उनके देह एवं आत्मा में भेद नहीं है, क्योंकि वे अद्वय-तत्त्व हैं।

प्रभु की सब इन्द्रियाँ भी चिन्मय हैं। इसी से उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य करने में पूर्ण समर्थ है। इसलिए उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नहीं हो सकता। वे विविध शक्तियों से युक्त हैं एवं उनकी लीला स्वाभाविक क्रमानुसार स्वयमेव सम्पादित होती है।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.७-८)

श्रीभगवान् में सम्पूर्ण ऐश्वर्य यथार्थतः परिपूर्णतम रूप में प्रकाशित रहते हैं। अतः उनके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य का विधान फलेप्सु के लिए ही है। जिसे त्रिभुवन में कुछ भी नहीं लेना है, उसके लिए निस्सन्देह कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। तथापि, क्षत्रिय-नायक होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध में तत्पर हैं, क्योंकि आर्त्त को आश्रय देना क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। शास्त्राज्ञा से सर्वथा अतीत होने पर भी श्रीभगवान् शास्त्र-विरुद्ध आचरण कदापि नहीं करते।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि=यदि; **हि**=क्योंकि; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **वर्तेयम्**=तत्पर रहूं; **जातु**=कभी; **कर्मणि**=कर्म में; **अतन्द्रितः**=सावधान हुआ; **मम**=मेरे; **वर्त्म**=पथ का; **अनुवर्तन्ते**=अनुगमन करेंगे; **मनुष्याः**=सब मानव; **पार्थ**=हे पार्थ; **सर्वशः**=सब प्रकार से।

अनुवाद

क्योंकि यदि मैं कर्म न करूं, तो हे पार्थ ! सब मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे ॥२३॥

तात्पर्य

पारमार्थिक उन्नति के लिए सामाजिक शान्ति बनाए रखने के हेतु ऐसे अनेक परम्परागत कुलाचार हैं, जिनका प्रत्येक सभ्य मनुष्य को पालन करना चाहिए। ये विधि-विधान वस्तुतः मायाबद्ध जीवों के लिए ही हैं, श्रीकृष्ण के लिए नहीं। परन्तु धर्म की स्थापना के लिए अवतरित होने

पर उन्होंने इन सभी नियमों का पालन किया। अन्यथा, साधारण मनुष्य भी उनका अनुकरण करते हुए कर्म का त्याग कर देते, क्योंकि वे परम प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने गृह में तथा बाहर भी गृहस्थोचित धर्म का पूर्ण आचरण करते थे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

उत्सीदेयुः=नष्ट हो जायं; इमे=ये सब; लोकाः=लोक; न=नहीं; कुर्यात्=करूं; कर्म=कर्म; चेत्=यदि; अहम्=मैं; संकरस्य=वर्णसंकर का; च=तथा; कर्ता=कारण; स्याम्=बनूंगा; उपहन्याम्=मारने वाला; इमाः=इन सम्पूर्ण; प्रजाः=प्राणियों को।

अनुवाद

यदि मैं कर्म न करूं तो ये सब लोक नष्ट हो जाय और मैं वर्णसंकर का कारण बनकर सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशक बनूं॥२४॥

तात्पर्य

वर्णसंकर सामाजिक शान्ति में व्यवधान उपस्थित करते हैं। इस सामाजिक उपद्रव के निवारणार्थ ऐसे विधि-नियमों का विधान है, जिनसे जनता स्वतः शान्त तथा परमार्थ के लिए व्यवस्थित हो सके। जब भगवान् श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं, तो इन महत्त्वपूर्ण कर्मों की गरिमा और महत्ता को बनाए रखने के लिए वे स्वय भी इनका पालन करते हैं। प्रभु सब जीवों के पिता हैं, इसलिए यदि जीव पथ-भ्रान्त हो जाय तो इसका दायित्व एक प्रकार से उन्हीं पर है। अतएव जब-जब समाज में व्यापक रूप से धर्म की उपेक्षा होने लगती है, तब-तब श्रीभगवान् स्वयं अवतरित होकर समाज-सुधार करते हैं। परन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि हमें श्रीभगवान् के चरण चिह्नों का अनुसरण ही करना है, उनका अनुकरण करने में हम सर्वथा असमर्थ हैं। 'अनुसरण' तथा 'अनुकरण' में गम्भीर भेद है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोवर्धन-धारण लीला का हम अनुकरण नहीं कर

सकते। मानव के लिए यह सर्वथा अशक्य है। इससे सिद्ध होता है कि उनकी अतिमानवीय लीला का कदापि अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का ही नित्य अनुसरण करना चाहिए। श्रीमद्भागवत से सिद्ध होता है :

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥

"श्रीभगवान् एवं उनके शक्ति-निक्षिप्त सेवकों की शिक्षा ही आचरणीय है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा हमारे लिए कल्याणकारी है। अतः सुधीजन निस्सन्देह उनका यथारूप पालन करेगा, किन्तु उनके समान आचरण करने का प्रयत्न कभी न करे। भगवान् शिव के समान विषाब्धिपान का प्रयत्न कोई न करे।"। (श्रीमद्भागवत १०.३३.३१-३२)

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जो प्रभाकर-भास्कर की गति के भी नियन्ता हैं, उन ईश्वरों की स्थिति हमसे कहीं श्रेष्ठ है। ईश्वर-शक्ति के अभाव में कोई भी सर्वशक्तिमान् ईश्वरों के समान आचरण नहीं कर सकता। भगवान् शिव सागर के परिमाण में विष का पान कर गए, किन्तु यदि कोई साधारण मनुष्य उस विष के विन्दु-मात्र को भी पीने का प्रयत्न करे तो वह तत्क्षण मृत्यु का ग्रास हो जायगा। भगवान् शिव के अनेक कपटी भक्त उनका अनुकरण करते हुए गांजा आदि मादक द्रव्यों के सेवन के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि भगवान् शिव का इस प्रकार अनुकरण कर वे स्वयं अपनी मृत्यु के कारण वन रहे हैं। इसी भाँति, भगवान् श्रीकृष्ण के भी ऐसे अनेक कपटी भक्त हैं, जो उनकी भाँति रासलीला तो करना चाहते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के समान गोवर्धन धारण करने में वे असमर्थ हैं। अतएव ईश्वरों के आचरण का अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का अनुसरण करना ही परम श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त ,पर्याप्त योग्यता के विना उनके स्थान को ग्रहण करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिये। तथापि, वर्तमान समय में ऐसे अनेक 'भगवत्-अवतार' प्रचलित हैं, जिनमें भगवत्-शक्ति का सर्वथा अभाव है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

सक्ताः=आसक्त; कर्मणि=कर्म में; अविद्वांसः=अज्ञानी; यथा=जिस प्रकार; कुर्वन्ति=कर्म करते हैं; भारत=हे भरतवंशी; कुर्यात्=करे; विद्वान्=ज्ञानी; तथा=उसी भांति; असक्तः=अनासक्त भाव से; चिकीर्षु=चाहता हुआ; लोकसंग्रहम्=लोक-शिक्षा को।

अनुवाद

जिस प्रकार फल में आसक्त हुए अज्ञानी कर्म करते हैं, उसी भाँति ज्ञानी भी अनासक्त भाव से लोक-शिक्षा के लिये कर्म करे ॥२५॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष तथा कृष्णभावना-विहीन में इच्छा का भेद रहता है। कृष्णभावनाभावित महानुभाव ऐसा कोई कर्म नही करता, जिससे कृष्णभावना का विकास न हो। वह ठीक उस अज्ञानी के समान भी कर्म कर सकता है, जो लौकिक कर्मों में अत्यन्त आसक्त रहता है। परन्तु एक ओर जहाँ अज्ञानो कर्म में इन्द्रिय तृप्ति के लिए तत्पर है, वही दूसरी ओर कृष्णभावनाभावित का लक्ष्य श्रीकृष्ण के सुख का विधान करना है। इसलिए यह आवश्यक है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष साधारण जनता को कर्म करना और कर्म-फल को कृष्णभावना में नियोजित करना सिखाए।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

न=नहीं; बुद्धिभेदम्=बुद्धि भ्रम; जनयेत्=उत्पन्न करे; अज्ञानाम्=मूर्खों में; कर्मसंगिनाम्=सकाम कर्मों में आसक्ति वाले; जोषयेत्

=कराये ; सर्व=सब ; कर्माणि=कर्म ; विद्वान्=ज्ञानी ; युक्तः=पूर्णतः तत्पर ; समाचरन्=भलीभांति करता हुआ ।

अनुवाद

ज्ञानी पुरुष सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, अर्थात् उन्हें कर्म से विमुख न करे, वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगावे ।।२६।।

तात्पर्य

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'—यह सिद्धान्त सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का पर्यवसान है । लौकिक क्रियाओं सहित वेदों में आये सब कर्मों और यज्ञों का प्रयोजन श्रीकृष्ण को जानना है जो जीवन के परम लक्ष्य हैं । परन्तु मायाबद्ध जीव तो इन्द्रिय-तृप्ति से अधिक कुछ भी नहीं जानते; इसलिए वेदों का भी वे इतना ही तात्पर्य समझते हैं । वस्तुतः इन्द्रिय-निग्रह करने से शनैः-शनैः कृष्णभावना प्राप्त हो जाती है । अतः कृष्णभावनाभावित महापुरुष को चाहिए कि दूसरों के कार्य अथवा ज्ञान में भ्रम उत्पन्न किये बिना अपने आचरण से ऐसा आदर्श स्थापित करे जिसके अनुसार सम्पूर्ण कर्मफल को श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित किया जा सके । कृष्णभावना-भावित ज्ञानी इस प्रकार कर्म करे, जिससे इन्द्रिय सुखार्थ कर्म करने वाले अज्ञानी को कर्म करने की विधि का और सदाचरण का बोध हो जाय । यद्यपि अज्ञानी की क्रियाओं में विघ्न डालना ठीक नहीं, परन्तु जो मनुष्य एक अंश में भी कृष्णभावनाभावित हो, उसे भी अन्य वैदिक विधियों की उपेक्षा करके सीधे भगवद्भक्ति में नियुक्त किया जा सकता है । इस प्रकार के सौभाग्यशाली के लिए वैदिक कर्मकाण्ड की कोई आवश्यकता नहीं, कृष्णभावनामृत की सीधी वीथि में स्वधर्म का आचरण करने से समग्र निःश्रेयस् की सिद्धि हो जाती है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।२७।।

प्रकृतेः=अपरा प्रकृति के; क्रियमाणानि=सम्पादित होते हैं; गुणैः=गुणों द्वारा; कर्माणि=कर्म; सर्वशः=सम्पूर्ण; अहङ्कार-विमूढात्मा=अहङ्कार से मोहित चित्त वाला; कर्ता=करने वाला हूं; अहम्=मैं; इति=इस प्रकार; मन्यते=मानता है।

अनुवाद

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते हैं, परन्तु गुणों से उत्पन्न हुए अहङ्कार से मोहित हुआ जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मानता है ॥२७॥

तात्पर्य

यदि एक कृष्णभावनाभावित पुरुष और एक विषयी समान कर्म में प्रवृत हों, तो यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वे दोनों समान स्तर पर कार्य कर रहे हैं, परन्तु यथार्थ में दोनों की स्थितियो में आकाश-पाताल का अन्तर है। विषयी को मिथ्या अहंकारवश यह विश्वास रहता है कि सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता वह स्वयं है। वह यह नही जानता कि इस देह की रचना प्रकृति ने की है, जो भगवान् श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में कार्य करती है। विषयी इस सत्य से अनभिज्ञ रहता है कि अन्तिम रूप में वह श्रीकृष्ण के ही आधीन है। इस प्रकार का मिथ्या अहंकारी समझता है कि वह सब कुछ स्वयं स्वतन्त्र रूप से करता है। यह अविद्या का लक्षण है। वह नही जानता कि यह स्थूल-सूक्ष्म शरीर श्रीभगवान् के निर्देशानुसार माया द्वारा निर्मित है, जिस कारण सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक कर्मों के द्वारा उसे कृष्णभावना—कृष्णसेवा में ही तत्पर रहना चाहिए। अज्ञानी भूल जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण हृषीकेश हैं, अर्थात् देह की इन्द्रियों के अधीश्वर हैं। सुदीर्घ-काल तक विषय-भोग करने में इन्द्रियों का दुरुपयोग करने से उत्पन्न हुये मिथ्या अहंकार द्वारा जीव मोहित हो रहा है। इसी कारण उसे श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध का विस्मरण हो जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

तत्त्ववित्=तत्त्व से जानने वाला ; **तु**=तो ; **महाबाहो**=हे महाबाहु ; **गुणकर्म**=गुणों द्वारा प्रेरित कर्म ; **विभागयोः**=भेद को ; **गुणाः**=इन्द्रियां ; **गुणेषु**=इन्द्रिय तृप्ति में ; **वर्तन्ते**=तत्पर हैं ; **इति**=इस प्रकार ; **मत्वा**=मानकर ; **न**=कभी नहीं ; **सज्जते**=आसक्त होता ।

अनुवाद

परन्तु हे महाबाहो ! जो भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म में भेद को भलीभांति जानता है, वह तत्त्ववेत्ता इन्द्रियों और इन्द्रिय-तृप्ति के परायण नहीं होता ॥२८॥

तात्पर्य

तत्ववेत्ता को यह निश्चित रूप से ज्ञात रहता है कि विषय-सङ्ग उसके स्वरूप के प्रतिकूल है। वह जानता है कि उसका स्थान इस जगत् में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्णका भिन्नांश है। सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् के भिन्नांश के रूप में अपने सत्स्वरूप के ज्ञान के साथ ही उसे यह भी अनुभूति होती है कि जिस किसी कारणवश वह देहात्म बुद्धि के बन्धन में पड़ गया है। अपने शुद्ध स्वरूप में उसका कार्य अपने कर्मों को श्रीकृष्ण के भक्तियोग में नियोजित करना है। अतएव वह कृष्ण भावनाभावित कर्मों में ही पूर्णतया तत्पर होकर इन्द्रिय-तृप्ति विषयक प्रासंगिक एवं अनित्य कर्म से स्वतः विरक्त हो जाता है। वह जानता है कि उसकी सांसारिक परिस्थिति परमेश्वर के नियन्त्रण में है। इसलिए बड़े से बड़े प्राकृत दुःख से भी वह विचलित नहीं होता। दुःखों में भी उसे भगवत्कृपा का ही दर्शन होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, जो परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् इन तीनों रूपों में जानता है, वह 'तत्त्ववित्' है। ऐसा ज्ञानी परमब्रह्म से अपने यथार्थ सम्बन्ध को भी जानता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९ ॥

प्रकृतेः=प्रकृति के; गुणसंमूढाः=गुणों से मोहित हुए मनुष्य; सज्जन्ते=तत्पर और आसक्त होते हैं; गुणकर्मसु=प्राकृत क्रियाओं में; तान्=उन; अकृत्स्नविदः=भलीभांति न जानने वाले; मन्दान्=स्वरूप प्राप्ति के साधन में आलसी; कृत्स्नवित्=ज्ञानी; न विचालयेत्=चलायमान न करे।

अनुवाद

माया के गुणों से मोहित हुए अज्ञानी प्राकृत क्रियाओं में पूर्ण रूप से प्रवृत्त होकर उन्हीं में आसक्त हो जाते हैं। परन्तु उन मन्द कर्म करने वाले अज्ञानियों को ज्ञानी चलायमान न करे ॥२९॥

तात्पर्य

देह मे मिथ्या आत्मबुद्धि कर लेने के कारण अज्ञानी मनुष्य प्राकृत उपाधियों से युक्त रहते हैं। यह देह अपरा प्रकृति की देन है। इसलिए जिसकी देह में ही गाढ़ आत्मबुद्धि हो रही है, उस मनुष्य को 'मन्द' अर्थात् आलसी (आत्मज्ञान-विहीन) कहा जाता है। अज्ञानियों के लिए देह ही स्वरूप है, उनके लिए शारीरिक सम्बन्ध हो बन्धुत्व है, वे देह की जन्मभूमि को आराध्य समझते हैं; तथा कर्म-काण्ड को ही लक्ष्य मानते हैं। समाज-सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार आदि इन भव रोगियों के कतिपय कार्य हैं। ऐसी उपाधियों के मोह में आकर वे सदा प्रपंच के क्षेत्र मे ही तत्पर रहते हैं। उनके लिए भगवत्प्राप्ति मनोकल्पना मात्र है, जिसमें उनकी कोई रुचि नही। ऐसे मूढ अहिंसा आदि जीवन के प्राथमिक नैतिक सिद्धान्तों तथा अन्य विषय-सुख-प्रदायक कार्यों में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु जो परमार्थ-पथ के पथिक हैं, वे इन विषयासक्त मनुष्यों को चलायमान न करें। अधिक अच्छा यही है कि शान्त भाव से अपना परमार्थ का साधन करता रहे।

अज्ञानी मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्मों के माहात्म्य को हृदयंगम नहीं कर सकता। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का परामर्श है कि ऐसे व्यक्तियों को विचलित करने में अमूल्य समय का नाश न करे। परन्तु भक्तजन तो भगवान् से भी अधिक कृपामय होते हैं, क्योंकि वे श्रीभगवान् के यथार्थ प्रयोजन को जानते हैं। वे यह भी भलीभाँति जानते हैं कि मानव के लिए यह परम आवश्यक है कि वह कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण हो जाय। अतएव इस शिक्षा का सम्पूर्ण विश्व में प्रसार करने के लिए महाभागवत बड़े से बड़ा संकट सहन करते हैं, यहाँ तक कि अज्ञानी के निकट स्वयं जाकर उसे कृष्णभावनाभावित कर्म (भगवत्सेवा) में नियुक्त करने का प्रयास करते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

मयि=मुझमें; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **कर्माणि**=कर्म; **संन्यस्य**=पूर्णतया समर्पित करके; **अध्यात्म**=पूर्ण आत्म-ज्ञान से युक्त; **चेतसा**=बुद्धि द्वारा; **निराशीः**=निष्काम; **निर्ममः**=ममता रहित; **भूत्वा**=होकर; **युध्यस्व**=युद्ध कर; **विगतज्वरः**=आलस्य के बिना।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों का मुझमें समर्पण कर, चित्त को मुझमें ही लगाकर तथा ममता और आलस्य से मुक्त होकर निष्काम भाव से युद्ध कर॥३०॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवद्गीता का प्रयोजन स्पष्ट रूप में प्रकट हुआ है। श्रीभगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म-पालन के लिए, सैन्य-अनुशासनवत् पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाना आवश्यक है। यह आदेश अपेक्षाकृत कुछ कठिन हो सकता है, तथापि श्रीकृष्ण की आश्रयता में स्वधर्म-पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए, क्योंकि यही जीव का स्वरूप है।

जीव का नित्य स्वरूप भगवान् की इच्छा के आधीन रहना है। इसलिए श्रीभगवान् के सहयोग से विमुख जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आज्ञा दी, मानो वे उसके सेनानायक हों। भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वस्व त्याग करने के साथ ही भोक्तापन से मुक्त होकर स्वधर्म का आचरण किया जाय। अर्जुन को श्रीभगवान् की आज्ञा पर विचार नहीं करना था, उसे तो तत्काल उसका पालन ही करना था। परमेश्वर श्रीकृष्ण आत्माओं के आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। अतएव जो निष्काम भाव से पूर्णतया उन्हीं के आश्रित हो, अर्थात् पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो, उसे 'अध्यात्म चेतसा' कहते हैं। 'निराशी' का अर्थ यह है कि गुरु-आज्ञा का निष्काम भाव से पालन करना चाहिए। स्वामी के करोड़ों रुपयों की गणना करने वाला कोषाध्यक्ष अपने लिए एक पैसा भी नहीं रखता। इसी प्रकार यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी एकमात्र श्रीभगवान् हैं, मनुष्य नहीं। 'मयि' पद का यही यथार्थ तात्पर्य है। जो इस कृष्ण-भावना से भावित होकर कर्म करता है, वह निस्सन्देह किसी भी पदार्थ पर अपना अधिकार घोषित नहीं करता। इसे 'निर्मम' बुद्धि कहा जाता है।

इस दृढ़ आदेश में देह के स्वजनादि सम्बन्धों का विचार नहीं है। अतः इसके पालन में यदि कोई सङ्कोच बाधा दे, तो उसका त्याग करके 'विगत ज्वर' अर्थात् सचेत हो जाना चाहिए। गुण और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपना विशेष कर्त्तव्य होता है। जैसा पूर्व में कहा गया है, इन सब कर्त्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्ति-पथ प्रशस्त हो जायगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

ये=जो; मे=मेरे; मतम्=आदेश को; इदम्=इस; नित्यम्=शाश्वत धर्मरूप; अनुतिष्ठन्ति=विधिवत् पालन करते हैं; मानवाः=

अज्ञानी मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्मों के माहात्म्य को हृदयंगम नहीं कर सकता। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का परामर्श है कि ऐसे व्यक्तियों को विचलित करने में अमूल्य समय का नाश न करे। परन्तु भक्तजन तो भगवान् से भी अधिक कृपामय होते हैं, क्योंकि वे श्रीभगवान् के यथार्थ प्रयोजन को जानते हैं। वे यह भी भलीभाँति जानते हैं कि मानव के लिए यह परम आवश्यक है कि वह कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण हो जाय। अतएव इस शिक्षा का सम्पूर्ण विश्व में प्रसार करने के लिए महाभागवत बड़े से बड़ा संकट सहन करते हैं, यहाँ तक कि अज्ञानी के निकट स्वयं जाकर उसे कृष्णभावनाभावित कर्म (भगवत्सेवा) में नियुक्त करने का प्रयास करते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

मयि=मुझमें; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **कर्माणि**=कर्म; **संन्यस्य**=पूर्ण-तया समर्पित करके; **अध्यात्म**=पूर्ण आत्म-ज्ञान से युक्त; **चेतसा**=बुद्धि द्वारा; **निराशीः**=निष्काम; **निर्ममः**=ममता रहित; **भूत्वा**=होकर; **युध्यस्व**=युद्ध कर; **विगतज्वरः**=आलस्य के बिना।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों का मुझमें समर्पण कर, चित्त को मुझमें ही लगाकर तथा ममता और आलस्य से मुक्त होकर निष्काम भाव से युद्ध कर॥३०॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवद्गीता का प्रयोजन स्पष्ट रूप में प्रकट हुआ है। श्रीभगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म-पालन के लिए, सैन्य-अनुशासनवत् पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाना आवश्यक है। यह आदेश अपेक्षा-कृत कुछ कठिन हो सकता है, तथापि श्रीकृष्ण की आश्रयता में स्वधर्म-पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए, क्योंकि यही जीव का स्वरूप है।

जीव का नित्य स्वरूप भगवान् की इच्छा के आधीन रहना है। इसलिए श्रीभगवान् के सहयोग से विमुख जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आज्ञा दी, मानो वे उसके सेनानायक हों। भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वस्व त्याग करने के साथ ही भोक्तापन से मुक्त होकर स्वधर्म का आचरण किया जाय। अर्जुन को श्रीभगवान् की आज्ञा पर विचार नहीं करना था, उसे तो तत्काल उसका पालन ही करना था। परमेश्वर श्रीकृष्ण आत्माओं के आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। अतएव जो निष्काम भाव से पूर्णतया उन्ही के आश्रित हो, अर्थात् पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो, उसे 'अध्यात्म चेतसा' कहते हैं। 'निराशी' का अर्थ यह है कि गुरु-आज्ञा का निष्काम भाव से पालन करना चाहिए। स्वामी के करोड़ों रुपयों की गणना करने वाला कोषाध्यक्ष अपने लिए एक पैसा भी नहीं रखता। इसी प्रकार यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी एक-मात्र श्रीभगवान् हैं, मनुष्य नही। 'मयि' पद का यही यथार्थ तात्पर्य है। जो इस कृष्ण-भावना से भावित होकर कर्म करता है, वह निस्सन्देह किसी भी पदार्थ पर अपना अधिकार घोषित नहीं करता। इसे 'निर्मम' बुद्धि कहा जाता है।

इस दृढ़ आदेश में देह के स्वजनादि सम्बन्धों का विचार नही है। अतः इसके पालन में यदि कोई सङ्कोच बाधा दे, तो उसका त्याग करके 'विगत ज्वर' अर्थात् सचेत हो जाना चाहिए। गुण और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपना विशेष कर्त्तव्य होता है। जैसा पूर्व में कहा गया है, इन सब कर्त्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्ति-पथ प्रशस्त हो जायगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

ये=जो; मे=मेरे; मतम्=आदेश को; इदम्=इस; नित्यम्=शाश्वत धर्मरूप; अनुतिष्ठन्ति=विधिवत् पालन करते हैं; मानवाः=

मनुष्य ; **श्रद्धावन्तः**=श्रद्धा-भक्ति से युक्त होकर ; **अनसूयन्तः**=ईर्ष्या से रहित ; **मुच्यन्ते**=मुक्त हो जाते हैं ; **ते**=वे सब ; **अपि**=भी ; **कर्मभिः**=कर्मबन्धन से ।

अनुवाद

जो पुरुष मेरे आदेश के अनुसार स्वधर्म का आचरण करते हुए ईर्ष्या से मुक्त रहकर श्रद्धाभाव से मेरी इस शिक्षा का पालन करते हैं, वे कर्म बन्धन से मुक्त हो हो जाते हैं ।।३१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का परम सार और सार्वभौम शाश्वत सत्य है । जैसे वेद शाश्वत् हैं, उसी भाँति कृष्ण-भावना का यह सत्य भी शाश्वत है । भगवान् की इस आज्ञा को द्वेष-बुद्धि से मुक्त होकर प्रगाढ़ श्रद्धा सहित धारण करे । ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जो भगवद्‌गीता पर भाष्य रचते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में उनका कोई विश्वास नहीं है । वे कर्म-बन्धन से कदापि मुक्त नहीं हो सकते । इसके विपरीत वह साधारण मनुष्य, जो शाश्वत भगवत्-आज्ञा में अटूट श्रद्धा रखता है, चाहे इसका पालन भी न कर सके, परन्तु कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह सम्भव है कि कृष्णभावना के प्रारम्भ में श्रीभगवान् के आदेश का पूर्ण रूप से पालन न हो सके । परन्तु जो पुरुष इस सिद्धान्त का विरोध नहीं करता, वरन् हानि अथवा निराशा की चिन्ता किये बिना साधन में तत्पर रहता है, वह अति शीघ्र विशुद्ध कृष्णभावनामृत के स्तर पर आरूढ़ हो जायगा ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

ये=जो ; **तु**=परन्तु ; **एतत्**=इस ; **अभ्यसूयन्तः**=द्वेष करने वाले ; **न**=नहीं; **अनुतिष्ठन्ति**=नित्य आचरण करते; **मे मतम्**=मेरे आदेश का;

सर्वज्ञान=सम्पूर्ण ज्ञान में; विमूढान्=पूर्णतया भ्रमित; तान्=उन्हें; विद्धि=जान; नष्टान्=नष्ट हुए; अचेतसः=कृष्णभावनाशून्य।

अनुवाद

परन्तु जो द्वेष के कारण मेरे इस उपदेश की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् नित्य निरन्तर इसका पालन नहीं करते, उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य, भ्रान्त तथा अज्ञान और बन्धन से नष्टजानना चाहिए ॥३२॥

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनाभावित न होने के दोष को स्पष्टकिया गया है। राज-अवज्ञा की भाँति भगवदाज्ञा के उल्लङ्घन का दण्ड भी अवश्यमेव भोगना होगा। अवज्ञाकारी बड़े से बड़ा कोई भी क्यों न हो हृदयशून्यता के कारण उसे अपना स्वरूप और परब्रह्म, परमात्मा एवं श्रीभगवान् का तत्व भी अज्ञात रहता है। अतएव उसके लिए जीवन की सार्थकता की कोई आशा नही हो सकती।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सदृशम्=अनुसार; चेष्टते=चेष्टा करता है; स्वस्याः=अपनी; प्रकृतेः=गुण; ज्ञानवान्=ज्ञानी; अपि=भी; प्रकृतिम्=प्रकृति को; यान्ति=प्राप्त होते हैं; भूतानि=सब प्राणी; निग्रह=बलात् निरोध; किम्=क्या; करिष्यति=कर सकता है।

अनुवाद

ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है, सब प्राणी अपनी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। इसमें बलपूर्वक निग्रह क्यों करेगा ? ॥३३॥

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत की शुद्ध सत्त्वमयी भाव-भूमि पर आरूढ़ हुए विना त्रिगुणमयी माया से मुक्ति नहीं हो सकती, जैसा स्वयं श्रीभगवान् (७.१४) कहा है। अतएव लौकिक स्तर पर स्थित वड़े से वड़े विद्वान् के लिए भी देह और आत्मा में भेद के पुस्तकीय ज्ञान-मात्र से मुक्त हो जाना असम्भव है। ऐसे अनेक कपट योगी हैं, जो वाह्य रूप से इस विज्ञान में उन्नत होने का दम्भ करते हैं, परन्तु अन्तर में उन प्राकृतिक गुणों के ही सर्वथा आधीन रहते हैं, जिनका वे उल्लंघन नहीं कर सकते। पुस्तकीय ज्ञान का पारगामी उच्च विद्वान् भी चिरकाल से चले आ रहे माया के संग के कारण मुक्त नहीं हो पाता, जवकि कृष्णभावना उस मनुष्य के लिए भी वन्धन-मुक्ति में सहायक सिद्ध होती है, जो स्वधर्म पालन में व्यस्त हो। अतः पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हुए विना अकस्मात् स्वधर्म को त्याग कर कपट योगी नहीं वनना चाहिए। अधिक उत्तम यह है कि यथास्थिति वने रहकर सद्गुरु की शिक्षा के आश्रय में कृष्णभावनाभावित वनने का प्रयत्न करता रहे। इस विधि द्वारा माया-वन्धन से मोक्ष सुलभ हो जाता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रियस्य=इन्द्रियों के; **इन्द्रियस्य अर्थे**=विषयों में; **राग**=आसक्ति; **द्वेषौ**=द्वेष; **व्यवस्थितौ**=स्थित हैं; **तयोः**=उनके; **न**=नहीं; **वशम्**=नियन्त्रण में; **आगच्छेत्**=आए; **तौ**=वे; **हि**=निःसन्देह; **अस्य**=इसके; **परिपन्थिनौ**=व्यवधान हैं।

अनुवाद

वद्ध जीवों को इन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष का अनुभव होता है; परन्तु इन्द्रियों तथा इन्द्रिय विषयों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों भगवत्प्राप्ति के मार्ग में विघ्नकारी हैं ॥३४॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महानुभाव स्वभावतः प्राकृत इन्द्रिय तृप्ति के प्रति वितृष्ण रहते हैं। परन्तु जो इस उदात्त भावना से युक्त नहीं हैं, उन्हें शास्त्रीय विधि-विधान का पालन करना चाहिए। अमर्यादित विषय भोग भव-बन्धन का हेतु है, परन्तु शास्त्रीय विधि-विधान का अनुसरण करने वाला इन्द्रिय-विषयों में आबद्ध नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, मैथुनिक आनन्द जीव की एक आवश्यकता है और वैवाहिक सम्बन्ध के रूप में अनुमत भी है। शास्त्र में अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी भी अन्य स्त्री से मैथुनिक सम्बन्ध मे प्रवृत्त होने का निषेध है। अन्य सब स्त्रियों में मातृभाव रखना उचित है। परन्तु शास्त्र की ऐसी स्पष्ट आज्ञा होने पर भी अन्य स्त्रियों से निषिद्ध सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति मनुष्य में रहती ही है। इन प्रवृत्तियों को निगृहीत करना होगा। अन्यथा वे स्वरूपप्राप्ति में विघ्नकारी सिद्ध होंगी। जब तक देह विद्यमान है, तब तक उसकी आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की जा सकती है। तथापि, हमें इस प्रकार के संयम पर पूर्णरूप से निर्भर नहीं रहना चाहिए। विधि-विधान का पालन भी अनासक्त भाव से ही करे, क्योंकि मर्यादित इन्द्रिय तृप्ति करते हुए भी मार्ग भ्रष्ट होने का भय रहता है, उसी प्रकार जैसे राजपथ पर भी दुर्घटना हो सकती है। अत्यन्त सावधानी पूर्वक संरक्षित पथ के लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा निरापद है। विषय संग के कारण जीव में इन्द्रिय-तृप्ति की वासना चिरंतन काल से चली आ रही है। अतः संयमित रूप से इन्द्रिय-तर्पण करने पर भी अधः-पतन की संभावना बनी ही रहती है। इस कारण मर्यादित इन्द्रिय-तृप्ति में लेशमात्र आसक्ति न हो जाय, इसमें पूर्ण सावधान रहे। परन्तु श्रीकृष्ण की भक्ति से भावित कर्म की यह विशेषता है कि वह सब प्रकार की इन्द्रिय सम्बन्धी क्रियाओं से विरत कर देता है। अतएव जीवन की किसी भी अवस्था में कृष्णभावनामृत से विरक्त होने की चेष्टा न करे, सब प्रकार की विषयैषणा से विरक्त होने का ऐकान्तिक प्रयोजन अन्ततोगत्वा कृष्णभावनाभावित बन जाना ही है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

श्रेयान्=अधिक कल्याणकारी है ; **स्वधर्म**=अपना कर्त्तव्य ; **विगुणः** =दोषयुक्त भी ; **परधर्मात्**=दूसरों के धर्म से ; **स्वनुष्ठितात्**=भलीभांति आचरित ; **स्वधर्मे**=स्वधर्म में ; **निधनम्**=मरना भी ; **श्रेयः**=उत्तम है ; **परधर्मः**=दूसरों का कर्त्तव्य ; **भयावहः**=भयदायक है ।

अनुवाद

दूसरे के धर्म की अपेक्षा दोषयुक्त होने पर भी स्वधर्म का आचरण अधिक कल्याणकारी है । परधर्म में प्रवृत्त होने की तुलना में, स्वधर्म में मरना भी उत्तम है, दूसरे का धर्म तो भय को देने वाला है ॥३५॥

तात्पर्य

परधर्म की अपेक्षा पूर्ण कृष्णभावना से युक्त होकर स्वधर्म का ही आचरण करे । स्वधर्म का विधान गुणों के द्वारा निर्धारित मनोदैहिक स्थिति के अनुसार किया गया है । श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट पारमार्थिक कर्त्तव्य श्रीकृष्ण की भक्ति के लिए प्रयोजित हैं, परन्तु दूसरे के धर्म (कर्त्तव्य) का अनुकरण करने की अपेक्षा मृत्यु पर्यन्त लौकिक-पारलौकिक स्वधर्म में ही दृढ़ रहना उत्तम है । लौकिक और पारमार्थिक धर्म में भेद हो सकता है, किन्तु प्रामाणिक आज्ञा का पालन करना दोनों रूपों में कल्याणकारी सिद्ध होता है । जो प्रकृति के गुणों से युक्त है, उसे दूसरों का अनुकरण न करके यथायोग्य स्वधर्म ही करना चाहिए । उदाहरण के लिए सत्वगुणी ब्राह्मण अहिंसक होता है, जबकि रजोगुणी क्षत्रिय के लिए हिंसा की छूट है । इस न्याय से एक क्षत्रिय के लिए ब्राह्मणोचित अहिंसा का अनुकरण करने की अपेक्षा हिंसा करते हुए परास्त होना अधिक उत्तम होगा । प्रत्येक मनुष्य को क्रमिक प्रणाली के द्वारा हृदय का शुद्धिकरण करना है, अकस्मात् नहीं । परन्तु प्राकृतिक गुणों का उल्लंघन करके पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित हो जाने पर तो वह

प्रामाणिक गुरु की आज्ञानुसार कुछ भी कर्म कर सकता है। कृष्णभावना की उस शुद्धावस्था में क्षत्रिय ब्राह्मण के समान तथा ब्राह्मण क्षत्रिय के समान कर्म कर सकता है। उस शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था में भौतिक जगत् के भेदभाव नहीं रहते। उदाहरणस्वरूप, विश्वामित्र मूल में क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में उन्होंने ब्राह्मणोचित व्यवहार किया और ब्राह्मण होने पर भी परशुराम ने क्षत्रियवत् कार्य किये। दिव्य स्तर में स्थित होने के कारण वे ऐसा करने में समर्थ थे। परन्तु जब तक त्रिगुणों के अधीन है, तब तक गुणों के अनुसार स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए। साथ ही, पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो जाना।

अर्जुन उवाच ।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; अथ—ऐसे में; केन—किसके द्वारा; प्रयुक्तः—प्रेरित; अयम्—यह; पापम्—पाप कर्म; चरति—करता है; पूरुषः—मनुष्य; अनिच्छन्—इच्छा न होने पर, अपि—भी; वार्ष्णेय—हे वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण; बलात् इव—बलपूर्वक की भाँति; नियोजितः—प्रवृत्त।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! किसके द्वारा प्रेरित हुआ मनुष्य इच्छा न होने पर भी बलात् पाप कर्म में प्रवृत्त हो जाता है? ॥३६॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् का भिन्नांश होने के कारण जीवात्मा अपने आदि स्वरूप में, नित्य, शुद्ध एवं समस्त प्राकृतिक विकारों से मुक्त है। अतएव

स्वभावतः वह प्राकृत जगत् के पाप-कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु माया के संसर्ग में आने पर यह विविध प्रकार से, बहुधा मन के विरुद्ध भी, अनेक पापकर्म कर बैठता है। अतः संसार में जीवों का स्वभाव विकृत क्यों हो जाता है, इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण से अर्जुन की जिज्ञासा अत्यन्त समीचीन है। यद्यपि कभी-कभी जीवात्मा पाप कर्म करना नहीं चाहता, तथापि बलात्कार से उसमें प्रवृत्त हो जाता है। ये पापकर्म अन्तर में स्थित परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते, वरन् जैसा श्रीभगवान् अगले श्लोक में कह रहे हैं, इसका एक अन्य कारण है।

श्रीभगवानुवाच।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥३७॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **कामः**=काम; **एषः**=यह; **क्रोधः**=क्रोध; **एषः**=यही; **रजोगुण**=रजोगुण से, **समुद्भवः**=उत्पन्न हुआ; **महाशनः**=तृप्त न होने वाला; **महापाप्मा**=बड़ा पापमय; **विद्धि**=जान; **एनम्**=इसे; **इह**=इस जगत् में; **वैरिणम्**=परम शत्रु।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम ही है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण कर लेता है और जो इस संसार में कभी न तृप्त होने वाला पापात्मा शत्रु है॥३७॥

तात्पर्य

जब जीवात्मा प्राकृत सृष्टि के संसर्ग में आता है, तो उसका नित्य-सिद्ध कृष्णप्रेम रजोगुण के संग से काम में रूपान्तरित हो जाता है। भगवत्प्रेम का भाव काम में उसी भाँति परिणत हो जाता है, जैसे अम्लिका के संसर्ग से दुग्ध दही का रूप धारण कर लेता है। पुनः अतृप्त रह जाने पर काम क्रोध का रूप धारण कर लेता है और क्रोध सम्मोह

में परिणत हो जाता है। इसी सम्मोह से भव-बन्धन का चक्र अविराम गतिशील है। अतएव काम, जीवात्मा का सर्वप्रधान शत्रु सिद्ध होता है, क्योंकि शुद्ध जीवात्मा को प्राकृत संसार में बधे रहने के लिए प्रेरित करने वाला काम ही है। क्रोध तमोगुण की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार नाना गुण क्रोध तथा अन्य उपविकारों के रूप में प्रकट होते हैं। इसलिए रजोगुण तमोगुण का रूप धारण करे इससे पूर्व ही यदि उसे सदाचार और स्वधर्म के पालन द्वारा सत्त्वगुण में आरूढ़ कर दिया जाय तो पारमार्थिक साधन में आसक्ति हो जायगी। इस प्रकार क्रोध रूपी अध.पतन से त्राण हो सकता है।

अपने नित्य-वर्द्धमान चिदानन्द का आस्वादन करने के लिए श्रीभगवान् ने अनेक रूप धारण किए। जीवात्मा इसी चिदानन्द के भिन्नांश हैं। उन्हें आंशिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। परन्तु वे इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर वैठते है, जिससे उनका स्वाभाविक दास्यभाव इन्द्रिय तृप्ति में वदल जाता है, और वे काम के आधीन हो जाते हैं। श्रीभगवान् ने इस प्राकृत सृष्टि का सृजन इसीलिए किया है, जिससे वद्ध जीव अपनी कामोन्मुखी प्रवृत्तियों को पूर्ण कर सके। सुदीर्घकाल तक काममय कर्म करके पूर्णतया निराश हो जाने पर ही जीव अपने यथार्थ स्वरूप की जिज्ञासा करते हैं।

यही जिज्ञासा ब्रह्मसूत्र का उपक्रम है, **'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'**, 'परम तत्त्व के सम्वन्ध मे जिज्ञासा करनी चाहिए।' श्रीमद्भागवत में परम सत्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है : **'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च'**--'परम ब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थों के जनक हैं।' अतः काम का उद्‌गम भी उन्ही से हुआ है। इसलिए यदि काम को भगवत्प्रेम अर्थात् कृष्णभावना अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब इच्छा करने मे परिणत कर दिया जाय, तो काम-क्रोध दोनो दिव्य हो जायेंगे। भगवान् राम के अनन्य सेवक श्रीहनुमानजी ने शत्रुओं के प्रति अपने रोष का भगवद् प्रीत्यर्थ उपयोग किया था। इस प्रकार कृष्णभावना में नियोजित काम-क्रोध भी शत्रु नहीं रहते, वरन् मित्र बन जाते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

धूमेन=धूम्र द्वारा; **आव्रियते**=आवृत रहता है; **वह्निः**=अग्नि; **यथा**=जिस प्रकार; **आदर्शः**=दर्पण; **मलेन**=धूल द्वारा; **च**=तथा; **यथा**=जैसे; **उल्बेन**=गर्भाशय द्वारा; **आवृतः**=ढका हुआ; **गर्भः**=गर्भ; **तथा**=उसी प्रकार; **तेन**=उस काम द्वारा; **इदम्**=यह; **आवृतम्** आच्छादित है।

अनुवाद

जिस प्रकार धूएं से अग्नि, धूल से दर्पण अथवा जेर से गर्भ ढका रहता है, उसी भांति जीवात्मा अलग-अलग अनुपात में इस काम से आवृत है ॥३८॥

तात्पर्य

जीवात्मा की शुद्ध चेतना को धूमिल करने वाला आवरण प्रगाढ़ता के अनुपात-भेद से तीन प्रकार का होता है, जैसे अग्नि में धूम्र, दर्पण पर मल तथा गर्भ को ढकने वाला गर्भाशय। इस प्रकार विविध परिस्थितियों में अलग-अलग अनुपात में अभिव्यक्त होने वाला यह आवरण काम ही है। जब काम को धूम्र की उपमा दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवात्मा का स्वरूप कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। प्रकारान्तर से, जब जीवात्मा कृष्णभावना का हलका-सा प्रदर्शन करता है तो उसे धूएंसे आवृत अग्नि की उपमा दी जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि जहाँ भी धूम्र हो, वहां अग्नि का होना अनिवार्य है, तथापि पहले-पहले अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के प्रारम्भ के समान है। दर्पण पर रज के उदाहरण से विविध पारमार्थिक साधनों के द्वारा चित्त रूपी दर्पण का शोधन इंगित है। इसकी सर्वोत्तम पद्धति भगवन्नाम-कीर्तन है। जेर द्वारा आच्छादित गर्भ के उदाहरण से एक असहाय अवस्था का दृष्टान्त दिया गया है, क्योंकि गर्भ में शिशु इतनी

असहाय अवस्था में रहता है, कि कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के तुल्य है। वृक्ष जीवात्मा हैं, किन्तु उनमें काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी योनि प्राप्त हुई है, जो प्राय: चेतनाशून्य है। आवृत दर्पण पशु-पक्षियों के तुल्य है तथा धूम्र से आच्छादित अग्नि मनुष्य से तुलनीय है। मानव देह में ही जीवात्मा अपनी कृष्णभावना का पुन: उन्मेष कर सकता है। इसके अधिक प्रगति करने पर भगवद्भक्ति रूपिणी अग्नि सम्पूर्ण मानव-समाज में प्रोज्ज्वलित की जा सकती है। यदि उस अग्नि से निकले धूम्र का भलीभांति नियन्त्रण किया जाय तो वह प्रचण्ड हो उठेगी। इस प्रकार मानव देह जीवात्मा के लिए भव-बन्धन से मोक्ष-प्राप्ति का अन्यतम अवसर है। इस मानव देह में ही सद्गुरु के आश्रय में कृष्णभावना का अनुशीलन करने से काम रूपी दुर्जेय शत्रु को विजय किया जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

आवृतम्=आच्छन्न है; ज्ञानम्=शुद्ध चेतना; एतेन=इस; ज्ञानिनः=ज्ञानियों के; नित्य वैरिणा=नित्य शत्रु द्वारा, कामरूपेण=कामरूपी; कौन्तेय=हे कुन्ती पुत्र अर्जुन; दुष्पूरेण=सदा अतृप्त रहने वाले; अनलेन=अग्नि की भांति; च=भी।

अनुवाद

इस प्रकार मनुष्य का शुद्ध ज्ञान उसके नित्य वैरी, इस काम द्वारा आच्छादित है, जो सदा अतृप्त अग्नि के समान प्रचण्ड रहता है ॥३९॥

तात्पर्य

मनुस्मृति में उल्लेख है कि कितना भी विषय भोग क्यों न किया जाय, परन्तु काम की तृप्ति नही हो सकती, उसी भांति जैसे निरन्तर ईंधन डालते रहने से अग्नि को शांत नही किया जा सकता। इस संसार

में, सम्पूर्ण कार्य-कलापों का केन्द्र विन्दु काम ही है। अतएव इस जगत् को 'मैथुन्यागार' कहा गया है। सामान्य कारागार में वन्दी को सलाखों के भीतर रखा जाता है। इसी प्रकार श्रीभगवान् की अवज्ञा करने वाले अपराधियों को मैथुनिक-जीवन में बांधा जाता है। इन्द्रिय तृप्ति के साधनों में प्राकृत सभ्यता की उन्नति का अर्थ जीवात्मा के भव रोग की अवधि को बढ़ाना है। यह काम उस अज्ञान का द्योतक है, जिससे जीवात्मा संसार में वंधा रहता है। इन्द्रिय तृप्ति करते हुए सुख की तुच्छ अनुभूति हो सकती है, परन्तु यथार्थ में तो इस प्रकार प्रतीत होने वाला सुख अन्तिम परिणाम में विषयी का परम शत्रु ही सिद्ध होता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाणि=इन्द्रियां ; **मनः**=मन ; **बुद्धिः**=वुद्धि ; **अस्य**=काम के ; **अधिष्ठानम्**=निवास ; **उच्यते**=कहे गये हैं ; **एतैः**=इन सवके द्वारा ; **विमोहयति**=मोहित करता है ; **एषः**=यह ; **ज्ञानम्**=ज्ञान ; **आवृत्य**=ढककर ; **देहिनम्**=देहवद्ध आत्मा का ।

अनुवाद

इन्द्रियां, मन और वुद्धि इस काम के निवास हैं, जो जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान को आवृत कर उसे मोहित करता है ॥४०॥

तात्पर्य

शत्रु ने देहवद्ध जीवात्मा के शरीर में सभी सामरिक महत्त्व के स्थलों पर अधिकार कर लिया है। भगवान् श्रीकृष्ण उन स्थानों का संकेत कर रहे हैं, जिससे शत्रु-दमन का अभिलाषी उसके निवास-स्थानों से अवगत हो जाय। सम्पूर्ण इन्द्रिय क्रियाओं का केन्द्र मन है। यह मन ही इन्द्रिय भोग के समस्त विचारों का आगार है। यही कारण है कि मन-इन्द्रियां काम को निवास देती हैं। तत्पश्चात्, वुद्धि इन कामोन्मुखी प्रवृत्तियों की राजधानी वन जाती है। वृद्धि आत्मा का निकट पड़ोसी

है। इसलिए कामांध बुद्धि के प्रभाव में आकर आत्मा भी मिथ्या अहंकार के वश हुआ प्रकृति, मन तथा इन्द्रियों से तादात्म्य कर लेता है और इन्द्रिय तृप्ति में आसक्त जीवात्मा भ्रमपूर्वक इसी को यथार्थ सुख मान बैठता है। देह में हो रही इस मिथ्या आत्मबुद्धि का श्रीमद्भागवत में अति उत्तम वर्णन है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणापे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौमइज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

'जो मनुष्य इस त्रिधातु-निर्मित देह में आत्मबुद्धि रखता है, देह जन्य विकारों को स्वजन समझता है, जन्मभूमि को पूज्य मानता है और भक्तों का सत्संग करने के उद्देश्य को न लेकर, स्नान करने के लिए ही तीर्थ यात्रा करता है, वह गधे के तुल्य है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥

तस्मात्=इसलिये; त्वम्=तू, इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को; आदौ =सबसे पहले; नियम्य=वश में करके; भरतर्षभ=हे भरतश्रेष्ठ; पाप्मानम्=महापापमय; प्रजहि=मार; हि=नि सन्देह, एवम्=इस; ज्ञान=ज्ञान; विज्ञान=शुद्ध आत्मविज्ञान के; नाशनम्=नाश करने वाले।

अनुवाद

इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापमय काम को मार॥४१॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अर्जुन को गीता के प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संयम करने का आदेश दिया है, जिससे आत्म-जिज्ञासा और आत्मज्ञान का विनाश करने वाले महापापमय शत्रु—काम का दमन करने में वह सक्षम हो

जाय। 'ज्ञानम्' का अर्थ है, आत्मा तथा अनात्मा के भेद का बोध अर्थात् देह से आत्मा की भिन्नता का बोध। 'विज्ञानम्' का तात्पर्य विशिष्ट आत्मज्ञान, स्वरूप का बोध और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का ज्ञान है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है: **'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया....** 'मायाच्छादित होने से आत्मा और परतत्त्व का ज्ञान परम गोपनीय (रहस्यमय) है, परन्तु जब स्वयं श्रीभगवान् इसका गान करते हैं तो यह ज्ञान-विज्ञान सुगमता से हृदयङ्गम किया जा सकता है।' भगवद्गीता से यह ज्ञान, विशेष रूप से आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। जीव स्वरूप से श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। इसलिए उनका एकमात्र प्रयोजन भगवान् की सेवा करना है। इसी ज्ञान को कृष्णभावना कहा जाता है। मनुष्य को जीवन के आदिकाल से ही कृष्ण-भावना की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे वह कृष्णभावना से पूर्णतया भावित होकर उसके अनुसार भगवत्सेवा रूपी कर्म कर सके।

काम जीव के नित्य स्वरूप-सिद्ध भगवत्प्रेम की ही विकृत प्रतिच्छाया है। इसलिए यदि शैशव में कृष्णभावनामृत की शिक्षा ग्रहण कर ली जाय तो जीव का स्वाभाविक कृष्णप्रेम काम के रूप में विकृत नहीं होगा। भगवत्प्रेम के काम में विकृत हो जाने पर स्वाभाविक स्थिति को पुनः प्राप्त करना दुःसाध्य हो जाता है। तथापि, कृष्णभावना इतनी समर्थ है कि विलम्बित प्रयत्न करने वाला भी वैधी भक्ति के द्वारा कृष्णप्रेमी बन ही जाता है। अतः जीवन की किसी भी अवस्था में इसकी अनि-वार्यता को समझते ही कृष्णभावना (भगवद्भक्ति) के द्वारा इन्द्रिय संयम का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। इससे अन्धकारमय काम परम उज्ज्वल कृष्णप्रेम में परिणत हो जायगा, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को; पराणि=श्रेष्ठ; आहुः=कहा जाता है;

इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियों से अधिक ; **परम**=श्रेष्ठ ; **मनः**=मन ; **मनसः**= मन से ; **तु**=भी ; **परा**=उत्कृष्ट ; **बुद्धिः**=मनीषा है ; **यः**=जो ; **बुद्धेः**=बुद्धि से भी ; **परतः**=उत्तम ; **तु**=किन्तु ; **सः**=वह (आत्मा) है।

अनुवाद

कर्मेन्द्रियां जड़ प्रकृति से श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से भी श्रेष्ठतर है तथा वह (आत्मा) बुद्धि से भी परे है ॥४२॥

तात्पर्य

इन्द्रियां काममयी क्रियाओं के द्वार हैं। काम का निवास देह के भीतर है, इन्द्रियों के द्वारा उसे निर्गमन प्रदान किया जाता है। इसलिए सम्पूर्ण देह की अपेक्षा इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं। कृष्णभावना में इन मार्गों का उपयोग नही किया जाता। कृष्णभावना में जीवात्मा साक्षात् श्री भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है, अतः यहाँ उल्लिखित शारीरिक कार्यों के पर्यवसान परमात्मा हैं। किसी भी शारीरिक चेष्टा में इन्द्रिय-क्रिया होती है, इसलिए इन्द्रिय-प्रतिरोध का अर्थ है समस्त शारीरिक क्रियाओं का अवरोधन। परन्तु शरीर के निश्चेष्ट और शान्त होने पर भी मन क्रियाशील रहता है, जैसे स्वप्न में। किन्तु मन से उत्तम बुद्धि की संकल्प शक्ति है तथा बुद्धि से भी उच्चतर स्वयं आत्मा है। अतएव यदि आत्मा भगवन्निष्ठ हो जाय तो बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि उसके सब अनुग भी अपने आप भक्तिनिष्ठ हो जायेंगे। 'कठोपनिषद्' की एक कथा में उल्लेख है कि इन्द्रियों से इन्द्रिय-तृप्ति के विषय उत्तम हैं और मन इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए यदि मनको प्रत्यक्ष रूप से भगवत्सेवामृत में अहर्निश निमज्जित रखा जाय, तो अन्य विषयों में इन्द्रियों के तत्पर होने की कोई भी सम्भावना शेष नही रहेगी। इस मनोभाव का विवेचन पूर्वोक्त श्लोकों में द्रष्टव्य है। निस्सन्देह, भगवत्-सेवा के परायण हुए मन के लिए तुच्छ विषयों के उन्मुख होना असम्भव हो जायगा। 'कठोपनिषद्' में आत्मा को 'महान्' कहा गया है। इस प्रकार इन्द्रिय विषयों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि सब तत्त्वों से आत्मा अति परे है। अतएव सीधे-सीधे

आत्मा के स्वरूप को समझने से सम्पूर्ण प्रापञ्चिक समस्या का समाधान हो सकता है।

जीवात्मा का कर्त्तव्य केवल इतना ही है कि बुद्धि के द्वारा अपने स्वरूप की जिज्ञासा करे और चित्त को कृष्णभावनामृत में निमज्जित रखे। इससे सम्पूर्ण समस्या का समाधान हो जायगा।

प्रारम्भिक साधक को इन्द्रिय विषयों से दूर रहने का परामर्श दिया जाता है। परन्तु यदि भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होकर बुद्धिमत्ता सहित चित्त को कृष्णभावना में निमज्जित कर दिया जाय, तो मन सशक्त हो जायगा, जिससे सर्ववत् अति बलवान् होने पर भी इन्द्रियां खण्डित-विषदंश-धारी सर्पों के समान अशक्त हो जायंगी। यद्यपि आत्मा बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का स्वामी है, तथापि यदि उसे कृष्णभावना से प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण-संग के द्वारा सशक्त नहीं किया जायगा, तो चित्त के वेगवश परमार्थ से पतन की पूर्ण सम्भावना रहेगी।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवम्=इस प्रकार; **बुद्धेः**=बुद्धि से; **परम**=श्रेष्ठ; **बुद्ध्वा**=जानकर; **संस्तभ्य**=वश में करके; **आत्मानम्**=मन को; **आत्मना**=बुद्धि द्वारा; **जहि**=नाश कर; **शत्रुम्**=शत्रु का; **महाबाहो**=हे महाबाहो; **कामरूपम्**=कामरूपी; **दुरासदम्**=दुर्जेय।

अनुवाद

इस प्रकार हे महाबाहो! इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे अपने दिव आत्म-स्वरूपको जानकर और बुद्धिके द्वारा चित्त को वश में करके आत्म शक्ति से युक्ति हुआ इस कामरूपी कभी शान्त न होने वाले दुर्धर्ष श का नाश कर ॥४३॥

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता का यह तृतीय अध्याय निर्विशेष शून्यवाद क

पूर्ण रूप से निरस्त कर जीव को यह ज्ञान प्रदान करता है कि वह श्रीकृष्ण का नित्य दास है और इस प्रकार उसे कृष्णभावना की दिशा में निर्णायक रूप से अग्रसर करता है। प्रापञ्चिक जीवन में जीव काम विकार और प्रकृति को भोगने की प्रवृत्ति से निश्चित रूप से युक्त रहता है। आधिपत्य की इच्छा और इन्द्रिय-तृप्ति मायाबद्ध जीव के परम शत्रु हैं, परन्तु कृष्णभावनामृत की शक्ति के द्वारा वह इन्द्रियों, मन और बुद्धि का संयम करने में सक्षम हो जाता है। अकस्मात् कर्म और स्वधर्म का त्याग करना आवश्यक नहीं है, शुद्ध स्वरूप में एकाग्र हुई मति के द्वारा कृष्णभावना का शनैः शनैः विकास करने से उस शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, जो इन्द्रियों और चित्त से परे है। यह सिद्धान्त इस अध्याय का परम सार है। ज्ञान अथवा योगासनों के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को वशमें करने का कृत्रिम आयास मानव के लिये भगवत्प्राप्ति में कदापि सहायक नहीं हो सकता। इसके लिए सद्‌गुरु से कृष्णभावना की शिक्षा प्राप्त करनी होगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो: नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः



ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

(दिव्यज्ञान)

श्रीभगवानुवाच ।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा ; इमम्=इस ; विवस्वते=सूर्य-देव को ; योगम्=श्रीभगवान् से जीवात्मा के सम्बन्ध विषयक विज्ञान का ; प्रोक्तवान्=उपदेश किया था ; अहम्=मैंने ; अव्ययम्=अविनाशी ; विवस्वान्=विवस्वान् (सूर्य) ने ; मनवे=मानव जाति के जन्मदाता वैवस्वत मनु से ; प्राह=कहा ; मनुः=मनु ने ; इक्ष्वाकवे=राजा इक्ष्वाकु के प्रति ; अब्रवीत=कहा ।

अनुवाद

भगवान् ने कहा, मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया। विवस्वान् ने इसकी शिक्षा मानव जाति के जन्मदाता मनु को दी तथा मनु ने इसे इक्ष्वाकु के प्रति कहा ॥१॥

तात्पर्य

इस श्लोक में हमें भगवद्गीता का इतिहास प्राप्त होता है, जो उस चिरन्तन काल से अनुरेखित किया गया है जब वह सम्पूर्ण लोकों के राजाओं को प्रदान की गई थी। यह विज्ञान विशेष रूप से प्रजाजनों की रक्षा के लिए प्रयोजित है। इसलिए राजवंश को इसे भलीभांति हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे वह प्रजा का पालन और कामरूपी बन्धन से संरक्षण कर सके। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध के ज्ञान का अर्जन करना है। अतएव सब राज्यों और लोकों के अधिनायकों का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि विद्या, संस्कृति और भक्ति के द्वारा, जनता में इस शिक्षा का प्रसार करे। दूसरे शब्दों में, सभी राज्याध्यक्षों से यह आशा की जाती है कि वे कृष्णभावना का प्रसार करें। जिससे इस विज्ञान से लाभान्वित होकर जनता मानव योनि के दुर्लभ सुअवसर का सदुपयोग करती हुई सर्वोन्मुखी विजय-पथ का अनुसरण कर सके।

इस युग में सूर्य के अधिष्ठातृ देवता विवस्वान् हैं। ये सम्पूर्ण सौर-मण्डलीय लोकों के जन्मदाता और सूर्य-लोक के अधिपति हैं। ब्रह्म संहिता में उल्लेख है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भ्रतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

ब्रह्माजी ने कहा, 'मैं भगवान् गोविन्द का भजन करता हूं, जो आदि पुरुष हैं और जिनकी आज्ञानुसार सम्पूर्ण लोकों का अधिपति सूर्य अशेष तेज एवं शक्ति धारण कर रहा है। वह सूर्य भगवान् गोविन्द के चक्षु के तुल्य है और उन्हीं की आज्ञानुसार अपने काल-चक्र में परिभ्रमण करता है।'

सूर्य सम्पूर्ण लोकों का अधिपति है और सूर्य-देव (वर्तमान समय में विवस्वान्) तेज-शक्ति की आपूर्ति करके अन्य सब लोकों का नियन्त्रण करने वाले इस सूर्य पर राज्य करते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार भ्रमण कर रहा है। आदि काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता-विज्ञान ग्रहण करने के लिए विवस्वान् को ही अपना प्रथम शिष्य स्वीकार किया था। अतः गीता क्षुद्र लौकिक विद्वान् के लिए प्रयोजित मनोधर्ममय कृति नहीं है, वरन् स्मरणातीत काल से चली आ रही परम्परा के द्वारा प्राप्त होने वाला प्रामाणिक ज्ञान-शास्त्र है। महाभारत (शान्तिपर्व ३४८.५१-५२) में गीता-इतिहास के सम्बन्ध में यह उल्लेख है—

त्रेता-युगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ,
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

"त्रेता युग के आदि में विवस्वान् ने इस योग (भगवान् से सम्बन्ध) विषयक विज्ञान का मनु को उपदेश किया था और मनु ने, जो मानव-मात्र के जन्मदाता है, पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक एवं उस रघुवंश के पूर्वज थे, जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार ग्रहण किया। इससे प्रमाणित होता है कि भगवद्गीता मानव समाज मे महाराज इक्ष्वाकु के समय से ही विद्यमान है।"

वर्तमान कलियुग के केवल ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, जबकि इसकी पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इससे पूर्व द्वापर युग (८,००,००० वर्ष) और उससे भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष) व्यतीत हो चुके है। इस प्रकार लगभग २०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य और पुत्र, इस पृथ्वी के सार्वभौम सम्राट महाराज इक्ष्वाकु के प्रति भगवद्गीता का प्रवचन किया था। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष है, जिसमें से १२,०४,००,००० का व्यय हो चुका है। मनु से पूर्व श्रीभगवान् अपने शिष्य सूर्य-देव विवस्वान् के समक्ष गीतोपदेश कर चुके थे। इस अनुमान के अनुसार गीता का सर्वप्रथम प्रवचन कम से कम १२,०४,००,००० पूर्व हुआ और मानव समाज में भी लगभग २०,००,०००

वर्ष से इसका प्रचलन रहा है। आजसे पांच हजार वर्ष पहले भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रोता बनाकर इसका पुनः गायन किया। स्वयं गीता और गीता गायक भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के इतिहास का यह स्थूल अनुमान-मात्र है। गीता सूर्यदेव विवस्वान् के प्रति कही गयी थी, क्योंकि वे क्षत्रिय हैं, वस्तुतः सम्पूर्ण सूर्यवंशी-क्षत्रियों के जन्मदाता हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने से भगवद्गीता वेदतुल्य अपौरुषेय ज्ञान है। वेद-वाणी को उसके मूलरूप में वाक्चातुर्य के बिना स्वीकार किया जाता है। इसलिए गीता को भी इसी प्रकार यथारूप अङ्गीकार करना होगा। तार्किक अपनी उच्छृङ्खल विधि से गीता का कुछ भी मनमाना अर्थ लगा सकते हैं, परन्तु भगवद्गीता का यथार्थ स्वरूप उन्हें सदा अलभ्य रहेगा। अतएव भगवद्गीता को परम्परा के अनुसार यथारूप हृदयङ्गम करना ही कल्याणकारी है। इसी सिद्धान्त की स्थापना के लिए यहां कहा गया है कि श्रीभगवान् ने सूर्यदेव को, सूर्यदेव ने पुत्र मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को भगवद्गीता का उपदेश किया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

एवम्=इस प्रकार; **परम्परा**=शिष्य परम्परा से; **प्राप्तम्**=प्राप्त हुए; **इमम्**=इस विज्ञान को; **राजर्षयः**=राजर्षियों ने; **विदुः**=जाना; **सः**=वह; **कालेन**=कालक्रम से; **इह**=इस संसार में; **महता**=महान्; **योगः**=श्रीभगवान् से जीव के सम्बन्ध का विज्ञान; **नष्टः**=लोप हो गया; **परंतप**=हे शत्रुविजयी अर्जुन।

अनुवाद

इस प्रकार शिष्य-परम्परा के द्वारा यह परम विज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इस विधि से जाना, किन्तु काल-क्रम से वह परम्परा खण्डित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लोप हुआ प्रतीत होता है ॥२॥

तात्पर्य

यहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गीता विशेष रूप से राजर्षियों के लिए प्रयोजित है, जिन्हें लोक-शासन के रूप में इसके लक्ष्य को कार्यान्वित करना है। निस्सन्देह भगवद्गीता का अभिप्राय उन मनुष्य रूपधारी असुरों के लिए कदापि नही था, जो नाना प्रकार से गीता की गौरव-गरिमा को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए सभी का अहित करते हैं। तथापि कालान्तर में निर्लज्ज, अविवेकी भाष्यकारों के निहित स्वार्थवश गीता का मूल प्रयोजन छिन्न-भिन्न हो गया। इसलिए शिष्य-परम्परा को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता उपस्थित हो गई। पाच हजार वर्ष पहले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को अनुभव हुआ कि शिष्य-परम्परा पूर्णतया विशृङ्खल हो गई है। इसी से उन्होने घोषित किया कि गीता का प्रयोजन नष्टप्राय हो गया। ऐसे ही वर्तमान समय में गीता के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं, किन्तु इनमे से प्राय. एक भी प्रामाणिक शिष्य-परम्परा का अनुगमन नही करता। विभिन्न लौकिक विद्वानों ने अगणित भाष्यों की रचना की है, परन्तु उनमे से प्राय: सभी श्रीकृष्ण को भगवान् स्वीकार नही करते, यद्यपि श्रीकृष्ण के वचनामृत के आधार पर ही वे *अच्छा व्यापार करते हैं। यह आसुरभाव है, क्योंकि श्रीभगवान् की* सम्पत्ति का उपभोग करते हुए भी वे श्रीभगवान् में विश्वास नही रखते। अतएव जगत् को शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए गीता के प्रामाणिक संस्करण की बडी आवश्यकता है। इस महती आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही प्रस्तुत संस्करण को प्रकाशित किया गया है। भगवद्गीता को यथारूप में अङ्गीकार करना मानवता के लिए परम कल्याणकारी है, जबकि उसे एक मनोधर्ममय कृति समझकर ग्रहण करने से तो समय का अपव्यय ही होगा।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सः=वह; एव=ही; अयम्=यह, मया=मेरे द्वारा; ते=तेरे से; अद्य=आज; योग:=योग-विज्ञान; प्रोक्तः=कहा गया; पुरातनः

=अति प्राचीन ; **भक्तः**=दयित ; **असि**=(तू) है ; **मे**=मेरा ; **सखा**=मित्र ; **च**=भी ; **इति**=अतः ; **रहस्यम्**=रहस्य है ; **हि**=निःसन्देह ; **एतत्**=यह ; **उत्तमम्**=दिव्य ।

अनुवाद

वही प्राचीन योग-विज्ञान मैंने आज तेरे से कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, अतएव इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को हृदय में धारण कर सकता है ।।३।।

तात्पर्य

मानव की भक्त और असुर—ये दो कोटियां हैं । श्रीभगवान् ने इस परमोच्च विज्ञान के श्रोता के रूप में अर्जुन का वरण किया, क्योंकि वह भगवद्भक्त था, जबकि असुर के लिए तो यह उत्तम रहस्यमय विज्ञान सर्वथा दुर्बोध्य ही है । ज्ञान के इस अनुपमेय ग्रन्थ के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं । उनमें से कतिपय भक्त-विरचित भाष्य हैं और कुछ में असुरों द्वारा कृत टीकाएं हैं । वस्तुतः भक्तों की व्याख्याएं ही यथार्थ हैं । इसके विपरीत, असुरों के भाष्य सर्वथा निरर्थक हैं । अर्जुन श्रीकृष्ण को साक्षात् स्वयं भगवान् मानता है । अतः अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुसरण करने वाली गीता की व्याख्या ही इस परम विज्ञान की यथार्थ सेवा है । दुर्भाग्यवश आसुरभावापन्न भाष्यकार श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोकल्पना कर जनता और अध्येतावर्ग को श्रीकृष्ण की शिक्षा के पथ से भ्रष्ट करते हैं । अतएव कल्याण का अभिलाषी अर्जुन की परम्परा का ही अनुसरण करे ।

अर्जुन उवाच ।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा ; **अपरम्**=आधुनिक काल में हुआ

है ; भवतः=आपका ; जन्म=आविर्भाव ; परम्=अत्यन्त प्राचीन है ; जन्म=जन्म ; विवस्वतः=सूर्यदेव का ; कथम्=किस प्रकार ; एतत्= यह ; विजानीयाम्=मैं जानूं ; त्वम्=आपने ; आदौ=आदि में ; प्रोक्तवान=(इसका) प्रवचन किया ; इति=ऐसा ।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, सूर्यदेव विवस्वान् का जन्म आपसे पूर्व हुआ है, इसलिए मैं यह कैसे समझूं कि पूर्व में आपने सूर्य को इस विज्ञान का उपदेश किया था ।।४।।

तात्पर्य

अर्जुन त्रिभुवन-विश्रुत भगवद्भक्त है; इसलिए यह किस प्रकार सम्भव है कि वह श्रीकृष्ण की वाणी को स्वीकार न करे ? सत्य यह है कि अर्जुन अपने लिए नहीं, वरन् उनके निमित्त से जिज्ञासा कर रहा है, जो श्रीभगवान् में आस्थाहीन हैं अथवा आसुरभाव के कारण जिन्हें श्रीकृष्ण को भगवान् मानना प्रिय नहीं। उन्ही के लिए अर्जुन इस सन्दर्भ में जिज्ञासा कर रहा है, जैसे वह स्वयं ही भगवान् श्रीकृष्ण के तत्व से अनभिज्ञ हो। दसवें अध्याय से स्पष्ट हो जायगा कि अर्जुन इस सत्य को भलीभांति जानता था कि श्रीकृष्ण स्वय भगवान् हैं, सम्पूर्ण कारणों के परम कारण एवं परमब्रह्म की अवधि हैं। निस्सन्देह श्रीकृष्ण देवकीनन्दन के रूप में अवतीर्ण हुए थे, परन्तु अवतार लेने पर भी वे स्वयं भगवान् अजन्मा, आदि पुरुष किस प्रकार बने रहे, साधारण मनुष्य के लिए यह रहस्य सर्वथा दुर्बोध्य है। अतएव इसके स्पष्टीकरण के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष यह जिज्ञासा उपस्थित की, जिनसे वे स्वयं इसका प्रामाणिक उत्तर दे सकें। सम्पूर्ण विश्व अनादिकाल से श्रीकृष्ण को परम प्रमाण स्वीकार करता है। यद्यपि असुरो को ही वे मान्य नही है, तथापि उनकी प्रामाणिकता सर्वस्वीकृत है। अत. अर्जुन ने उनसे यह जिज्ञासा की, जिससे श्रीकृष्ण स्वयं अपना वर्णन करें। ऐसा होने पर असुर उनका विकृत चित्रण नही कर सकेंगे, ऐसा उसका अभिप्राय था। श्रीकृष्ण-विज्ञान को आत्मसात करना प्रत्येक जीव का आवश्यक स्वार्थ

है। अतः स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा अपने तत्त्व का निरूपण सम्पूर्ण त्रिभुवन के लिए परम मंगलमय है। असुरों को श्रीकृष्ण का यह आत्म-वर्णन विचित्र प्रतीत हो सकता है क्योंकि वे श्रीकृष्ण को सदा अपने ही दृष्टिकोण से देखते हैं। दूसरी ओर भक्तवृन्द श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्यन्दित उन श्रीवचनों का उन्मुक्त हृदय से स्वागत करते हैं जिनमें वे स्वयं अपना वर्णन करें। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में नित्य अधिकाधिक जानने की उत्कण्ठा वाले भक्तों के लिए श्रीकृष्ण के ये प्रामाणिक वचन नित्य आराध्य हैं। श्रीकृष्ण को साधारण मानव समझने वाले अनीश्वरवादी भी इस प्रकार जान जाते हैं कि श्रीकृष्ण अति मानवीय हैं, उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय एवं दिव्य है, और वे देश, काल और प्राकृतिक गुणों के अधिकार से परे हैं। अर्जुन की कोटि के कृष्ण-भक्त को श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के सम्बन्ध में कदापि भ्रम नहीं हो सकता यह निश्चित है। श्रीभगवान् के समक्ष इस जिज्ञासा को उपस्थित कर भक्तराज अर्जुन ने उन व्यक्तियों की अनीश्वरता को चुनौती दी है, जो श्रीकृष्ण को प्राकृतिक गुणों के आधीन साधारण मनुष्य समझते हैं।

श्रीभगवानुवाच।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **बहूनि**=अनेक; **मे**=मेरे; **व्यतीतानि**=हो चुके हैं; **जन्मानि**=आविर्भाव; **तव**=तेरे; **च**=भी; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **तानि**=उन; **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूं; **सर्वाणि**=सबको; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **वेत्थ**=जानता; **परंतप**=हे शत्रुविजयी।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तेरे और मेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मुझे उन सबकी स्मृति है, किन्तु हे परंतप! तू उन्हें नहीं जानता ॥५॥

तात्पर्य

'ब्रह्म संहिता' से हमें श्रीभगवान् के नानाविध अवतारों का ज्ञान होता है। वहां कथन है—

> अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
> वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥
> (ब्र० सं० ५.३३).

'मैं आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूं, जो अद्वैत, अच्युत, अनादि हैं तथा अनन्तरूप होते हुए भी आद्य, पुराणपुरुष और नित्य नवयौवन युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय रूपों को प्रायः वेदों के परगामी विद्वच्चूड़ामणि जानते हैं, किन्तु विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य प्राप्त रहते हैं।'

ब्रह्म सहिता में ही कहा है—

> रामादि मूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
> नानावतारमकरोदभुवनेषु किन्तु।
> कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान्यो
> गोविन्दमादि पुरुषं तमह भजामि ॥

'मैं भगवान् श्रीगोविन्द का भजन करता हूं, जो राम, नृसिंह आदि अवतारों और अंशावतारों में नित्य अवस्थित रहते हुए भी कृष्ण नाम से विख्यात आदिपुरुष हैं और जो स्वयं (अपने आद्य रूप में) भी अवतरित होते हैं।

वेदों में भी कहा है कि यद्यपि श्रीभगवान् अद्वय हैं, तथापि वे असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं। वे उस वैदूर्यमणि के समान हैं जो अपना वर्ण-परिवर्तन करने पर भी स्वरूप से निर्विकार रहती है। उन विविध भगवद् रूपों को केवल शुद्ध निष्काम भक्त ही जानते है; केवल वेदाध्ययन करने से उनका ज्ञान नही हो सकता : 'वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ'। अर्जुन जैसे भक्त श्रीभगवान् के नित्य प्रिय सखा हैं। अतएव जब भी प्रभु अवतार ग्रहण करते हैं तो उनके सहचर भक्त भी विविध भांति से भगवत्सेवा

करने के लिए उनके साथ अवतरित होते हैं। अर्जुन ऐसा ही भक्त है और इस श्लोक से ज्ञात होता है कि करोड़ों वर्ष पूर्व जब श्रीकृष्ण ने सूर्यदेव को भगवद्गीता सुनाई थी, तो अर्जुन भी वहां किसी अन्य रूप में विद्यमान था। परन्तु श्रीभगवान् और अर्जुन में यह अन्तर है कि श्रीभगवान् को उस इतिहास का स्मरण बना रहा, जबकि अर्जुन को विस्मृति हो गई। भिन्न-अंश जीवात्मा और परमेश्वर श्रीकृष्ण में यही भेद है। यद्यपि अर्जुन को यहां शत्रुविजयी शूरवीर सम्वोधित किया गया है, किन्तु अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करने में वह असमर्थ है। अतः सांसारिक दृष्टि से जीव कितना भी वड़े से वड़ा क्यों न हो, परन्तु श्रीभगवान् की समकक्षता कदापि नहीं कर सकता। श्रीभगवान् का नित्य सहचर निस्सन्देह जीवन्मुक्त होता है, पर वह भी उनके तुल्य नहीं हो सकता। 'ब्रह्म-संहिता' में 'श्रीभगवान् को 'अच्युत' कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि प्रकृति के संग में भी उन्हें स्वरूप-विस्मरण नहीं होता। अतः यह सिद्ध हुआ कि श्रीभगवान् एवं जीव सव प्रकार से समान कदापि नहीं हो सकते; चाहे जीवात्मा अर्जुन की भांति जीवन्मुक्त ही क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवद्भक्त है, तथापि समय-समय पर उसे भगवत्स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। परन्तु यह अवश्य है कि भगवान् की अमोघ कृपा से भक्त को उनके अच्युत स्वरूप का तत्काल वोध हो जाता है, जवकि अभक्त अथवा असुरों के लिए यह दिव्य तत्त्व सर्वथा अज्ञेय रहता है। इसी से गीता का यह विवरण आसुरी वुद्धि के लिए अगम्य है। श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सम्पादित क्रियाओं का स्मरण था; किन्तु अर्जुन को नहीं था, यद्यपि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही का स्वरूप नित्य है। इस श्लोक से हमें यह भी वोध होता है कि देहान्तर करने पर जीवात्मा को पूर्ण विस्मृति हो जाती है, किन्तु श्रीभगवान् को त्रिकाल में कभी विस्मृति नहीं होती। क्योंकि उनका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। श्रीभगवान् अद्वैत हैं, उनके देह तथा स्वयं उनमें अभेद है। उनसे सम्वद्ध प्रत्येक तत्त्व चिन्मय स्वरूप है, जवकि जीवात्मा अपनी प्राकृत देह से भिन्न है। भगवान् के देह और स्वयं भगवान् में अभेद होने के कारण ही जव वे प्राकृत स्तर पर अवतरित होते हैं तो भी उनकी स्थिति साधारण जीवात्मा से

विलक्षण रहती है। असुर श्रीभगवान् के इस परात्पर चिन्मय स्वरूप को अनुकूल-भाव से अंगीकार नहीं कर सकते, जैसे अगले श्लोक में श्रीभगवान् स्वयं कह रहे हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।६।।

अजः=अजन्मा ; अपि=भी ; सन्=होते हुए ; अव्यय=अविनाशी ; आत्मा=विग्रह ; भूतानाम्=सब प्राणियों का ; ईश्वरः=स्वामी ; अपि=भी ; सन्=होने पर ; प्रकृतिम्=दिव्य स्वरूप में ; स्वाम्=अपने ; अधिष्ठाय=स्थित हुआ ; संभवामि=मैं अवतीर्ण होता हूं ; आत्म-मायया=अपनी अन्तरङ्गा शक्ति से।

अनुवाद

मैं अजन्मा, सब प्राणियों का ईश्वर और सच्चिदानन्दमय अविनाशी देह वाला होने पर भी प्रत्येक युग में अपने आद्य चिन्मय रूप में अवतरण करता हूं ।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अपने विलक्षण आविर्भाव के वैशिष्ट्य का वर्णन स्वयं श्रीमुख से किया है—साधारण मनुष्य प्रतीयमान होते हुए भी अपने अनेक-अनेक पूर्व 'जन्मों' की उन्हें पूर्ण स्मृति है, जबकि साधारण मनुष्य को कुछ ही घण्टे पूर्व सम्पादित कार्य का भी स्मरण नहीं रहता। यदि किसी से पूछा जाय कि विगत दिवस में ठीक उसी समय उसने क्या किया था, तो साधारण मनुष्य के लिए इसका तत्काल उत्तर देना कठिन होगा। एक दिन पूर्व उसी समय किए हुए कर्म का स्मरण करने के लिए उसे अपनी बुद्धि का आलोड़न करना होगा। इतने दुर्बल होने पर भी बहुधा मनुष्य अपने को ईश्वर अथवा श्रीकृष्ण घोषित करने का दुःसाहस कर बैठते हैं। इन निरर्थक दावों से भ्रान्त नहीं होना चाहिए।

श्रीभगवान् अपनी प्रकृति अथवा रूप का आगे वर्णन करते हैं। प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' और 'स्वरूप' होता है। श्रीभगवान् का कथन है कि वे स्वयं अपनी देह में प्रकट होते हैं। साधारण जीवात्मा के समान देहान्तर नहीं करते। बद्ध जीव को वर्तमान जन्म में एक प्रकार की देह प्राप्त होती है, तो पुनर्जन्म में कोई और। भौतिक जगत् में जीवात्मा की योनि निश्चित नहीं है, उसका देहान्तर होता रहता है, जबकि श्रीभगवान् ऐसा नहीं करते। वे जब भी प्रकट होते हैं, अपनी अन्तरंग शक्ति के द्वारा उसी आद्य विग्रह में प्रकट होते हैं। भाव यह है कि श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने आद्य एवं शाश्वत वेणु-धारी द्विभुज रूप में ही प्रकट होते हैं जो इस प्राकृत जगत् के विकारों से सर्वथा मुक्त है। तथापि, उन सच्चिदानन्दमय परमेश्वर का आविर्भाव साधारण प्राणी के जन्म के समान भासता है। यद्यपि श्रीकृष्ण बाल्यावस्था से कौमार तथा कौमार से यौवन में प्रवेश करते हैं, किन्तु यह विस्मयास्पद होते हुए भी नितान्त सत्य है कि उनकी वय यौवन से आगे कभी नहीं बढ़ती। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय वे पितामह बन चुके थे; अर्थात् लौकिक गणना के अनुसार उनकी आयु का पर्याप्त व्यय हो चुका था, फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्षीय नवयुवक के समान लगते थे। हमें कभी किसी ऐसे चित्र की प्राप्ति नहीं होती जिसमें श्रीकृष्ण वृद्ध दिखायी दें, क्योंकि सम्पूर्ण त्रैकालिक (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) सृष्टि के आदि पुराण पुरुष होने पर भी श्रीकृष्ण हमारी भांति वृद्धावस्था को कदापि प्राप्त नहीं होते। साथ ही, उनकी चिन्मय देह एवं बुद्धि में क्षय अथवा विकार नहीं होता। अतएव यह स्पष्ट है कि प्राकृत जगत् में अवतरित होने पर भी वे अपनी परिवर्तन रहित दिव्य देह और बुद्धि से युक्त वही अजन्मा, नित्य, सच्चिदानन्दमय हैं। वस्तुतः उनका आविर्भाव-तिरोभाव सूर्य के उदित होने और हमारे आगे गमन करके दृष्टि से विलुप्त हो जाने के समान है। सूर्य के अगोचर होने पर हमें जान पड़ता है कि सूर्यास्त हो गया है तथा उसके दृष्टिगोचर होने पर हम समझते हैं कि सूर्य क्षितिज पर विद्यमान है। वस्तुतः सूर्य तो अपने नियत स्थान पर नित्य स्थित रहता है, अपनी दोषपूर्ण, अपर्याप्त इन्द्रियों के कारण हम ही आकाश में सूर्य के उदय-अस्त होने की कल्पना करते हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि किसी

भी सामान्य जीवात्मा की अपेक्षा श्रीभगवान् का आविर्भाव तिरोभाव पूर्णरूपेण विलक्षण है, वे स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति के कारण सच्चिदानन्दघन हैं और माया से कदापि दूषित नही होते। वेद भी प्रमाणित करते हैं कि अजन्मा होते हुए भी श्रीभगवान् विविध दिव्य अवतार ग्रहण करते हैं। वेदान्त से यह भी सिद्ध है कि यद्यपि श्रीभगवान् जन्म लेते प्रतीत होते हैं, परन्तु वे देहान्तर नही करते। श्रीमद्भागवत में वे जननी के सम्मुख षडैश्वर्य समन्वित चतुर्भुज नारायण रूप से प्रकट होते हैं। विश्वकोष के अनुसार स्वरूपसिद्ध आद्य नित्य विग्रह में उनका अवतरण उनकी निरुपाधिक कृपा का ही कार्य है। श्रीभगवान् को अपने सम्पूर्ण विगत आविर्भाव-तिरोधानों की स्मृति नित्य रहती है, जबकि जीवात्मा देहान्तर करते ही पूर्व शरीर के सम्बन्ध में सब कुछ भूल जाता है। इसी विशिष्टता के कारण श्रीभगवान् सम्पूर्ण जीवों के परमेश्वर हैं, और पृथ्वी पर अवतरण-कालमें अद्भुत, अतिमानवीय लीला-रस-निर्यास का परिवेषण करते हैं। श्रीभगवान् नित्य अद्वय हैं, उनके देह और स्वरूप अथवा गुण और देह में भेद नही है। इस सन्दर्भ मे चित्त मे इस जिज्ञासा का उदय हो सकता है कि इस संसार में श्रीभगवान् के प्रादुर्भाव एव तिरोधान का वस्तुतः प्रयोजन ही क्या है? अगले श्लोक मे यही विवरण है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

यदा=जिस काल में; यदा=जिस स्थान पर; हि=निःसन्देह; धर्मस्य=धर्म की; ग्लानिः=हानि; भवति=होती है; भारत=हे अर्जुन; अभ्युत्थानम्=वृद्धि; अधर्मस्य=अधर्म का; तदा=उस समय, आत्मानम्=अपने को; सृजामि=प्रकट करता हू; अहम्=मैं।

अनुवाद

हे भारत! जिस देश-काल में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, उस समय मैं अवतरित होता हूं ॥७॥

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त 'सृजामि' पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतार-तत्त्व के सन्दर्भ में 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ में नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवद्रूप अथवा भगवद्देह का सृजन नहीं होता, सभी भगवद्रूप शाश्वत हैं। अतः इस सन्दर्भ में 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) में, आठवें मनु के अट्ठाईसवें चतुर्युग के द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, तथापि इस नियम के पालन में वे बाध्य नहीं हैं, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। अतः अधर्म का प्राबल्य एवं यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदों में है। अतएव वैदिक विधान का भलीभांति पालन करने में हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्-भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन करने में समर्थ हैं। वेदों के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर में उनका संचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापन करना है और गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवद्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं, इस-लिए जब-जब असुर इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते हैं कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। उनका प्रादुर्भाव उस काल में हुआ जब विषय-परायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपट-पूर्वक वेद-प्रमाण की आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशु-बलि के कतिपय नियामक विधि-विधान हैं, किन्तु उस समय आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तके विरुद्ध पशु-बलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिंसाको स्थापित करने के लिए भगवान् बुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्र-

सम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारत-भूमि पर ही प्रकट नही होते। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देश-काल में अवतरण कर सकते हैं। परन्तु प्रत्येक अवतार में वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते हैं, जो उस देश-काल के मनुष्य हृदयङ्गम कर सकें। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता में भगवद्भावना और धर्म-परायणता का संचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वयं भी प्रकट होते हैं; कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र, अथवा दास के रूप में भेजते हैं, अथवा स्वयं ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योकि संसार के अन्य भागों के साधारण मनुष्यो की तुलना मे वह कही उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा मे भी चार के बराबर होते हैं और स्नातकोत्तर कक्षा मे भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा मे गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा में अधिक-उच्च स्तर का गणित पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार समस्त भगवद्-अवतारों द्वारा समान सिद्धान्तों की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, परन्तु देश-काल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तों का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारों का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्णभावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियों में भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय=उद्धार करने के लिए; **साधूनाम्**=भक्तजनों के; **विनाशाय**=विनाश करने के लिए; **च**=तथा; **दुष्कृताम्**=दुष्टों का; **धर्म**=धर्म की; **संस्थापनार्थाय**=पुनर्स्थापना के लिए; **संभवामि**=मैं प्रकट होता हूं; **युगे**=युग; **युगे**=युग में।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त 'सृजामि' पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतार-तत्त्व के सन्दर्भ में 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ में नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवद्रूप अथवा भगवद्देह का सृजन नहीं होता, सभी भगवद्रूप शाश्वत हैं। अतः इस सन्दर्भ में 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) में, आठवें मनु के अट्ठाईसवें चतुर्युग के द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, तथापि इस नियम के पालन में वे वाध्य नहीं हैं, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। अतः अधर्म का प्राबल्य एवं यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदों में है। अतएव वैदिक विधान का भलीभांति पालन करने में हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्-भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन करने में समर्थ हैं। वेदों के सम्वन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर में उनका संचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापन करना है और गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवद्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं, इस-लिए जब-जब असुर इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते हैं कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। उनका प्रादुर्भाव उस काल में हुआ जब विषय-परायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपट-पूर्वक वेद-प्रमाण की आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशु-वलि के कतिपय नियामक विधि-विधान हैं, किन्तु उस समय आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तके विरुद्ध पशु-वलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिंसाको स्थापित करने के लिए भगवान् वुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्र-

सम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारत-भूमि पर ही प्रकट नहीं होते। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देश-काल में अवतरण कर सकते हैं। परन्तु प्रत्येक अवतार में वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते हैं, जो उस देश-काल के मनुष्य हृदयङ्गम कर सकें। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता में भगवद्भावना और धर्म-परायणता का संचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वयं भी प्रकट होते है; कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र, अथवा दास के रूप में भेजते हैं, अथवा स्वयं ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योंकि संसार के अन्य भागों के साधारण मनुष्यों की तुलना में वह कहीं उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा में भी चार के बराबर होते हैं और स्नातकोत्तर कक्षा में भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा में गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा में अधिक उच्च स्तर का गणित पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार समस्त भगवद्-अवतारों द्वारा समान सिद्धान्तों की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, परन्तु देश-काल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते है। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तों का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारों का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्णभावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियों में भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय=उद्धार करने के लिए; साधूनाम्=भक्तजनों के; विनाशाय=विनाश करने के लिए; च=तथा; दुष्कृताम्=दुष्टों का; धर्म=धर्म की; संस्थापनार्थाय=पुनर्स्थापना के लिए; संभवामि=मैं प्रकट होता हूं; युगे=युग; युगे=युग में।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त 'सृजामि' पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतार-तत्त्व के सन्दर्भ में 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ में नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवद्रूप अथवा भगवद्देह का सृजन नहीं होता, सभी भगवद्रूप शाश्वत हैं। अतः इस सन्दर्भ में 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) में, आठवें मनु के अट्ठाईसवें चतुर्युग के द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, तथापि इस नियम के पालन में वे बाध्य नहीं हैं, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। अतः अधर्म का प्राबल्य एवं यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदों में है। अतएव वैदिक विधान का भलीभांति पालन करने में हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्-भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन करने में समर्थ हैं। वेदों के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर में उनका संचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापन करना है और गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवद्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं, इस-लिए जब-जब असुर इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते हैं कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। उनका प्रादुर्भाव उस काल में हुआ जब विषय-परायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपट-पूर्वक वेद-प्रमाण की आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशु-बलि के कतिपय नियामक विधि-विधान हैं, किन्तु उस समय आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तके विरुद्ध पशु-बलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिंसाको स्थापित करने के लिए भगवान् बुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्र-

सम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारत-भूमि पर ही प्रकट नही होते। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देश-काल में अवतरण कर सकते हैं। परन्तु प्रत्येक अवतार में वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते हैं, जो उस देश-काल के मनुष्य हृदयङ्गम कर सकें। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता मे भगवद्भावना और धर्म-परायणता का संचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वयं भी प्रकट होते हैं; कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र, अथवा दास के रूप में भेजते हैं, अथवा स्वयं ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योंकि संसार के अन्य भागों के साधारण मनुष्यों की तुलना में वह कहीं उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा में भी चार के बराबर होते हैं और स्नातकोत्तर कक्षा में भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा में गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा में अधिक उच्च स्तर का गणित पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार समस्त भगवद्-अवतारों द्वारा समान सिद्धान्तों की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, परन्तु देश-काल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तों का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारों का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्णभावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियों में भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय=उद्धार करने के लिए; **साधूनाम्**=भक्तजनों के; **विनाशाय**=विनाश करने के लिए; **च**=तथा; **दुष्कृताम्**=दुष्टों का; **धर्म**=धर्म की; **संस्थापनार्थाय**=पुनर्स्थापना के लिए; **संभवामि**=मैं प्रकट होता हूं; **युगे**=युग; **युगे**=युग में।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त 'सृजामि' पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतार-तत्त्व के सन्दर्भ में 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ में नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवद्रूप अथवा भगवद्देह का सृजन नहीं होता, सभी भगवद्रूप शाश्वत हैं। अतः इस सन्दर्भ में 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) में, आठवें मनु के अट्ठाईसवें चतुर्युग के द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, तथापि इस नियम के पालन में वे बाध्य नहीं हैं, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। अतः अधर्म का प्राबल्य एवं यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदों में है। अतएव वैदिक विधान का भलीभांति पालन करने में हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्-भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन करने में समर्थ हैं। वेदों के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर में उनका संचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापन करना है और गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवद्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं, इस-लिए जब-जब असुर इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते हैं कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। उनका प्रादुर्भाव उस काल में हुआ जब विषय-परायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपट-पूर्वक वेद-प्रमाण की आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशु-बलि के कतिपय नियामक विधि-विधान हैं, किन्तु उस समय आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तके विरुद्ध पशु-बलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिंसाको स्थापित करने के लिए भगवान् बुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्र-

सम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारत-भूमि पर ही प्रकट नही होते। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देश-काल मे अवतरण कर सकते हैं। परन्तु प्रत्येक अवतार में वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते हैं, जो उस देश-काल के मनुष्य हृदयङ्गम कर सकें। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता में भगवद्भावना और धर्म-परायणता का संचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वयं भी प्रकट होते है; कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र, अथवा दास के रूप में भेजते हैं, अथवा स्वयं ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योंकि संसार के अन्य भागों के साधारण मनुष्यों की तुलना में वह कही उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा में भी चार के बराबर होते हैं और स्नातकोत्तर कक्षा में भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा में गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा में अधिक-उच्च स्तर का गणित पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार समस्त भगवद्-अवतारो द्वारा समान सिद्धान्तो की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, परन्तु देश-काल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तों का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारों का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्णभावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियों में भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय=उद्धार करने के लिए, साधूनाम्=भक्तजनों के; विनाशाय=विनाश करने के लिए; च=तथा; दुष्कृताम्=दुष्टों का; धर्म=धर्म की; संस्थापनार्थाय=पुनर्स्थापना के लिए; संभवामि=मैं प्रकट होता हूं; युगे=युग; युगे=युग में।

अनुवाद

भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं ।।८।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार साधु वही है, जो कृष्णभावनाभावित हो। अधार्मिक प्रतीत होने वाला भी यदि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो, तो वह साधु ही मान्य है। 'दुष्कृताम्' शब्द से कृष्णभावना की उपेक्षा करने वाला इंगित है। लौकिक विद्या से युक्त होने पर भी ऐसे 'दुष्कृताम्' अथवा दुष्टों को मूढ़ और नराधम ही कहा जाता है। इसके विपरीत, विद्या-संस्कृति शून्य होने पर भी जो पूर्णतया कृष्णभावना के परायण हैं, वह सदा साधु मान्य है। अनीश्वरवादियों के विनाशार्थ श्रीभगवान् के लिए उस प्रकार स्वयं प्रकट होना अनिवार्य नहीं, जिस प्रकार रावण, कंस आदि के लिए उनका अवतार हुआ था। उनके अनेक सेवक दैत्य-दलन में पूर्ण समर्थ हैं। असुरों द्वारा उत्पीड़ित शुद्ध-भक्तों को प्रसन्न करने के लिए ही श्रीभगवान् विशिष्ट अवतार धारण करते हैं। आसुर-भावापन्न दैत्य-भक्त को अवश्य कष्ट देते हैं, चाहे वह स्वजन ही क्यों न हो। यद्यपि प्रह्लाद हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, तथापि उसने उन्हें त्रासित किया; यद्यपि श्रीकृष्ण-जननी देवकी कंस की बहिन थीं, किन्तु वसुदेव-देवकी को केवल इसी कारण से त्रासित किया गया कि उनके यहां श्रीकृष्ण का आविर्भाव होने वाला था। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण कंस-वध की अपेक्षा प्रधान रूप से देवकी-परित्राण के हेतु ही प्रकट हुए, परन्तु दोनों उद्देश्य एक साथ पूर्ण हो गये। इसी से यहां कहा है कि भक्त-परित्राण एवं असुर-मर्दन हेतु श्रीभगवान् विविध अवतार धारण करते हैं।

विद्वच्चूड़ामणि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीचरण द्वारा विरचित श्रीचैतन्यचरितामृत के निम्नलिखित छन्दों में अवतार:सिद्धान्तों का सारांश-प्रतिपादन है—

सृष्टि हेतु येइ मूर्ति प्रपञ्चे अवतरे।
सेइ ईश्वर-मूर्ति अवतार नाम धरे॥
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान।
विश्वे अवतारी धरे अवतार नाम॥

"सृष्टि में प्रकट होने के लिए अवतार-विग्रह भगवद्धाम से अवतीर्ण होते हैं। इस प्रकार अवतीर्ण होने वाली भगवद्मूर्ति को 'अवतार' कहा जाता है। ये अवतार भगवद्धाम (परव्योम) में अवस्थित हैं। प्राकृत सृष्टि में अवतीर्ण होने पर ही उन्हें 'अवतार' कहा जाता है।"

अवतारों की अनेक कोटियां हैं—

पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, शक्त्यावेशावतार, मन्वन्तरावतार और युगावतार इन विविध अवतारों का ब्रह्माण्ड में क्रमानुसार अवतरण होता है, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण अवतारों के उद्गम (अवतारी) आदि पुरुष हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतरण का विशिष्ट प्रयोजन उन शुद्ध-भक्तों की आर्ति का हरण और परितोषण करना है, जो उनकी आद्या वृन्दावन लीला के दर्शनार्थ सदा अतीव उत्कण्ठित रहते हैं। अस्तु, अनन्य भक्तों का परिपोषण करना कृष्णावतार का प्रधान उद्देश्य है।

भगवान् का श्रीमुख वचन है कि वे युग-युग में अवतरण करते हैं। इस कथन से यह सत्य स्पष्ट झलकता है कि वे कलियुग में भी अवतार अवश्य लेते हैं। श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर कहा है कि कलियुग के अवतार श्रीश्रीगौरसुन्दर चैतन्यमहाप्रभु हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण भारत में संकीर्तन के रूप में श्रीकृष्ण की आराधना का और कृष्ण-भावनामृत का प्रचार किया। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन यह संकीर्तन-यज्ञ सम्पूर्ण विश्व में, प्रत्येक ग्राम-जनपद में प्रसारित होगा। उपनिषद्, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि प्रामाणिक शास्त्रों के गुह्य प्रकरणों में गुप्त रूप से श्रीचैतन्य महाप्रभु को भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार घोषित किया गया है। कृष्ण-भक्तों का तो श्रीचैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन-यज्ञ के प्रति स्वयंसिद्ध आकर्षण है ही। इस महावदान्य अवतार में प्रभु दुष्टों का वध नहीं करते, वरन् अपनी निरुपाधि

निरवधि कृपा के द्वारा आपामर-पर्यन्त सभी का भवसागर से उद्धार कर देते हैं ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

जन्म=आविर्भाव ; **कर्म**=क्रिया ; **च**=और ; **मे**=मेरे ; **दिव्यम्**=दिव्य हैं ; **एवम्**=इस प्रकार ; **यः**=जो ; **वेत्ति**=जानता है ; **तत्त्वतः**=यथार्थ में ; **त्यक्त्वा**=त्याग कर ; **देहम्**=इस देह को ; **पुनः**=फिर ; **जन्म**=जन्म को ; **न**=नहीं ; **एति**=प्राप्त होता ; **माम्**=मुझे ही ; **एति**=प्राप्त होता है ; **सः**=वह ; **अर्जुन**=हे अर्जुन ।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है ।।९।।

तात्पर्य

भगवद्धाम से श्रीभगवान् के अवतरण का प्रतिपादन छठे श्लोक में किया जा चुका है । श्रीभगवान् के आविर्भाव-तत्त्व का मर्मज्ञ जीवन्मुक्त हो जाता है । अतएव वर्तमान प्राकृत देह का परित्याग करते ही वह तत्काल भगवद्धाम को गमन करता है । माया-बन्धन से जीव की यह मुक्ति किञ्चिन्मात्र भी सुखसाध्य नहीं है । निर्विशेषवादी एवं योगी तीव्र क्लेश से पूर्ण बहुत से जन्मान्तरों के अनन्तर ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन हो पाते हैं । यह भी पूर्ण मुक्ति नहीं है, क्योंकि संसार में पुनरागमन का भय वहाँ भी बना रहता है । परन्तु भक्त श्रीभगवान् के श्रीविग्रह और लीलामृत के दिव्य स्वरूप को जानकर देह का अन्त होने पर सुगमता से भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे संसार में पुनरागमन का भय सदा-सदा के लिए निवृत्त हो जाता है । 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि

श्रीभगवान् के असंख्य अवतार और रूप हैं—'अद्वैतमच्युतमनादिमनन्त-रूपम्', यद्यपि उनके अनेक दिव्य रूप हैं, तथापि श्रीभगवान् अद्वय हैं। यह सत्य, जो लौकिक विद्वानों के एवं प्रायोगिक दर्शनवेत्ताओं के लिए सर्वथा अगम्य है, निष्ठा पूर्वक हृदयङ्गम करना होगा। यथा वेद-वाणी :

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी हृद्यन्तरात्मा।

"अद्वयदेव श्रीभगवान् नाना दिव्य रूपों में अपने अनन्य भक्तों के साथ लीला करने में नित्य अनुरक्त रहते हैं।" इस वेद-वचन को स्वयं श्रीभगवान् ने गीता के इस श्लोक में प्रमाणित किया है। जो पुरुष वेद एवं श्रीभगवान् के प्रमाण के आधार पर इस सत्य को अंगीकार कर दार्शनिक मनोधर्म में समय नष्ट नहीं करता, वह मुक्ति की परमोच्च अवस्था प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने मात्र से निस्सन्देह मुक्ति हो जायगी। वैदिक वाक्य 'तत्त्वमसि' का यथार्थ तात्पर्य इसी सन्दर्भ से है। जो श्रीकृष्ण को परब्रह्म जानता है अथवा उनके प्रति यह निवेदन करता है कि 'भगवन्! आप परम ब्रह्म स्वयं भगवान् हैं', वह अवश्यमेव तत्क्षण मुक्त हो जाता है। इसीलिए यह भी निश्चित है कि उसे श्रीभगवान् के चिन्मय सान्निध्य की प्राप्ति हो जायगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस कोटि के श्रद्धालु भगवद्भक्त का जीवन कृतार्थ एवं चरितार्थ हो जाता है। वेद-वचन इसका प्रमाण है :

'तमेव विदित्वातिमृत्युमुपेति नान्यः पन्थः विद्यते अयनाय।'

श्रीभगवान् को जानने से जन्म-मृत्यु से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, मुक्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है, क्योंकि जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानता, वह अवश्यमेव तमोगुण में स्थित है। अतएव मधु-पात्र के बाहर चाटुकारी करने के समान लौकिक विद्या के आधार पर भगवद्गीता की मनमानी व्याख्या करने से मुक्ति नहीं हो सकेगी। यह सम्भव है कि इस श्रेणी के प्रयोगाश्रयी दार्शनिकों को जगत् में अत्युच्च पदों की प्राप्ति हो जाय, किन्तु मोक्ष-लाभ भी हो, यह आवश्यक नहीं। मिथ्या अहंकार से दृप्त हुए इन लौकिक विद्वानों को कृतार्थ होने

के लिए भगवद्भक्त की अहैतुकी-निरवधि कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः मनुष्य-मात्र को चाहिए कि विवेक सहित कृष्णभावना का अनुशीलन कर जीवन की कृतार्थता को प्राप्त करे।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वीत=मुक्त हुए; **राग**=आसक्ति; **भय**=भय; **क्रोधाः**=क्रोध से; **मन्मया**=मेरे परायण; **माम्**=मेरे प्रति; **उपाश्रिताः**=शरण हुए; **बहवः**=बहुत से; **ज्ञान**=ज्ञान; **तपसा**=तपस्या से; **पूताः**=पवित्र हुए; **मत् भावम्**=मेरे दिव्य प्रेम को; **आगतः**=प्राप्त हुए हैं।

अनुवाद

राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर मुझमें तन्मय हुए और मेरे ही आश्रित हुए बहुत से मनुष्य पूर्व में मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके हैं। इस प्रकार, उन सभी को मेरे दिव्य प्रेम की प्राप्ति हुई है ॥१०॥

अनुवाद

पूर्व वर्णन के अनुसार, विषयों में आसक्ति वाले मनुष्य के लिए परमसत्य के दिव्य पुरुष रूप को जानना बड़ा कठिन है। प्रायः मनुष्यों की देह में ही आत्मबुद्धि हो रही है, जिससे वे इतने अधिक विषय-परायण हो गये हैं कि उनके लिए यह जानना असम्भव-सा हो गया है कि एक ऐसी चिन्मय देह भी है जो नित्य एवं सच्चिदानन्दमय है। सांसारिक देह क्षणभंगुर, अज्ञानावृत्त एवं पूर्णतया दुखमय है, इसलिए जब उन्हें श्रीभगवान् के दिव्यरूप की जानकारी दी जाती है तो वे उसे भी ऐसा हीं समझते हैं। इन विषयी व्यक्तियों के लिए विशालकाय प्राकृत सृष्टि ही परम तत्त्व है। यही कारण है कि वे परमतत्त्व को निर्विशेष मानते हैं। इसके अतिरिक्त, विषयों में उनकी इतनी स्थूल आसक्ति रहती है कि प्रकृति से मुक्ति के उपरान्त भी, जीव और भगवान् का पृथक् स्वरूप

बना रहता है। यह विचार उन्हें भयभीत कर देता है। जब वे सुनते हैं कि मुक्त जीव में भी पृथक् स्वरूप रहता है तो उन्हें पुन: स्वरूप-प्राप्ति से भय होता है क्योंकि वे स्वभाव से ही निर्विशेष शून्य में लीन होने को अधिक उत्तम समझते हैं। वे जीवात्मा को सागर के उन बुदबुदों की उपमा देते हैं जो सागर से उठते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। उनकी धारणा में यह पृथक् स्वरूप से रहित मुक्त-अस्तित्व की चरम सिद्धि है। परन्तु यथार्थ में तो यह आत्म ज्ञान से शून्य जीवन की एक भयावस्था ही है। इसके अतिरिक्त, ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं, जो आत्म-तत्त्व को लेशमात्र भी नहीं समझ पाते। नाना मतो एवं मनोधर्मों की असंगति से किंकर्तव्यविमूढ़ हुए वे अरुचि अथवा क्रोध के आवेश में आकर मूर्खतावश निर्णय कर बैठते हैं कि ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो सब कारणों का परम कारण हो। अन्ततोगत्वा सब कुछ शून्य ही है। ऐसा कहने वाले निःसन्देह भव-रोग से पीड़ित हैं। अधिकांश मनुष्य गाढ़ विषयासक्ति के कारण परमार्थ की उपेक्षा करते हैं, कुछ परम तत्त्व से एक हो जाना चाहते हैं, तो कुछ निराश व्यक्ति सभी प्रकार की पारमार्थिकता के प्रति क्रुद्ध हो उठते हैं। इस अन्तिम श्रेणी के लोग किसी न किसी प्रकार के मादक-पदार्थ का आश्रय लेते हैं और कभी-कभी तो उससे उत्पन्न हुए मतिविभ्रम को ही भगवद्-दर्शन समझ लिया जाता है। परमार्थ की उपेक्षा, मुक्त हो जाने पर भी स्वरूप पृथक् रहेगा, इस विचार से भय और निराशा को जन्म देने वाली शून्यवादी मान्यता—ये तीनों विषयासक्ति के ही रूप हैं, अतएव इन से मुक्त होना आवश्यक है। इन सभी दोषों से मुक्ति के लिए सद्गुरु के निर्देशानुसार सर्वतोभावेन भगवान् के शरणागत होकर वैधी भक्ति में तत्पर हो जाना चाहिए। भक्तिमय जीवन की चरम अवस्था को भाव अथवा भवत्प्रेम कहा जाता है।

श्रील रूपगोस्वामिचरण द्वारा प्रणीत भक्ति-विज्ञान 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' के अनुसार :

> **आदौ श्रद्धा ततो साधु संगोऽथ भजनक्रिया**
> **ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः।**

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ॥

'भक्ति-पथ का प्रारम्भ भगवत्प्राप्ति-विषयक कामना से होता है। इससे साधु-संग के लिए प्रयत्न होगा। तदुपरान्त भगवत्प्राप्त सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर उनकी आज्ञानुसार साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है। गुरु के पादपद्मों के आश्रय में भक्ति का अनुष्ठान करने से क्रमशः विषयासक्ति से मुक्ति, भगवत्प्राप्ति के पथ में निष्ठा और भगवद्कथा में रुचि उद्भावित होती है। इस कथा-रुचि से कृष्णभावनामृत में आसक्ति हो जाती है, जो भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान—भाव में परिपक्व होती है। वस्तुतः भगवत्प्रेम में ही जीवन की सार्थकता और चरितार्थता है।' 'प्रेमाविष्ट भक्त रागानुगा भगवद्भक्ति में नित्य तत्पर रहता है। इस प्रकार सद्गुरु के आश्रय में भक्ति की क्रमिक पद्धति के द्वारा समस्त विषयासक्ति, पृथक् स्वरूप के भय तथा शून्यवाद-जनित निराशा से सर्वथा रहित सर्वोच्च मुक्त अवस्था प्राप्त होती है और अन्त में भगवद्-धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ये=जो; **यथा**=जैसे; **माम्**=मेरी; **प्रपद्यन्ते**=शरण लेते हैं; **तान्**=उन्हें; **तथा**=वैसे ही; **एव**=निस्सन्देह; **भजामि**=फल देता हूं; **अहम्**=मैं; **मम**=मेरे; **वर्त्म**=पथ का; **अनुवर्तन्ते**=अनुगमन करते हैं; **मनुष्याः**=सब मनुष्य; **पार्थ**=हे अर्जुन; **सर्वशः**=सब प्रकार से।

अनुवाद

जो जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूं। हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुगमन करता है ॥११॥

तात्पर्य

मनुष्य श्रीकृष्ण की विभिन्न अभिव्यक्तियों में उन्हीं का अन्वेषण कर रहा है। *निर्विशेष ब्रह्मज्योति और सर्व व्यापक परमात्मा रूप में भगवान्* श्रीकृष्ण का पूर्ण अनुभव नहीं होता श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण प्राप्ति तो केवल उनके शुद्ध भक्तों को ही होती है। इस प्रकार से श्रीकृष्ण सभी की अनुभूति के विषय हैं, प्रत्येक प्राणी अपनी इच्छा के अनुपात में उन्हें प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जाता है। भगवद्धाम में भी श्रीकृष्ण शुद्ध भक्तों की कामना के अनुसार दिव्य रसों में उनके साथ प्रेम का विनिमय करते हैं। भक्तजन परमेश्वर, सखा, पुत्र, प्रियतम आदि विविध रूपों में श्रीकृष्ण की वांछा करते हैं। भक्तों के प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुरूप श्रीकृष्ण उन सभी को समभाव से पुरस्कृत करते हैं। प्राकृत जगत् में भगवान् और भक्तों में परस्पर इन्हीं रसों का विनिमय होता है। शुद्ध भक्तों को इस जगत् तथा भगवद्धाम में भी स्वयं श्रीभगवान् का सान्निध्य प्राप्त रहता है और इस प्रकार उनकी सेवा में निमग्न हुए वे महानुभाव भगवद्भक्ति के अलौकिक रसानन्द का आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण उन निर्विशेषवादियों की भी सहायता करते हैं जो अपने पृथक् स्वरूप को समाप्त कर पारमार्थिक आत्महत्या करने को आतुर हैं। श्रीकृष्ण उन्हें अपनी ब्रह्मज्योति में विलीन कर लेते हैं। ये निर्विशेषवादी सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीश्यामसुन्दर को स्वीकार नहीं करते। इसलिए साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा से प्राप्त होने वाले दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकते, क्योंकि वे ब्रह्मज्योति में लीन हो चुके हैं। उनमें से कुछ, जो निर्विशेष सत्ता में भी अवस्थित नहीं हो पाते, अपनी सक्रियताविषयक सुप्त कामना से प्रेरित हुए इस संसार रूपी क्रिया-क्षेत्र में पुनरागमन करते हैं। अतएव उनका भगवद्धाम में गमन नहीं होता, प्रत्युत, प्राकृत लोकों में ही कर्म करने का अवसर उन्हें पुनः दिया जाता है। यज्ञेश्वर के रूप में, *श्रीभगवान् सकामकर्मियों को उनके कर्म का वाञ्छित फल देते हैं।* सिद्धिकामी योगियों को अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार सब प्राणी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर ही आश्रित हैं और परमार्थ की विविध पद्धतियां एक ही पथ पर भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रगति करने के तुल्य

हैं। कृष्णभावना रूपी चरम कृतार्थता की उपलब्धि से पूर्व सब उद्यम अपूर्ण ही रहते हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामुदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत्पुरुषं परम ॥

'(भक्तों की भांति) मनुष्य सर्वदा निष्काम हो, सम्पूर्ण कर्म फल चाहता हो अथवा मोक्ष का अभिलाषी ही क्यों न हो, सम्पूर्ण सामर्थ्य से श्रीभगवान् की भक्ति ही करनी चाहिए। इससे वह परम सिद्धि प्राप्त हो जायगी, जिसका पर्यवसान कृष्णभावना है। (श्रीमद्भागवत २.३.१०)

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कांक्षन्त=कामना करते हुए; **कर्मणाम्**=सकाम कर्मों के; **सिद्धिम्** फल की; **यजन्ते**=यज्ञ के रूप में आराधना करते हैं; **इह**=इस जगत में; **देवताः**=देवताओंकी; **क्षिप्रम्**=अतिशीघ्र; **हि**=निश्चित ही; **मानुषे लोके**=मनुष्य लोक में; **सिद्धिः**=सिद्धि; **भवति**=होती है; **कर्मजा**= सकाम कर्म से उत्पन्न हुई।

अनुवाद

मनुष्य इस संसार में कर्मफल की कामना से देवताओं को यज्ञों द्वारा पूजते हैं क्योंकि इस जगत् में सकाम कर्म का फल अतिशीघ्र प्राप्त होता है ॥१२॥

तात्पर्य

जन साधारण में इस संसार के देवताओं के सम्बन्ध में महती असद्-धारणा है। विद्वत्ता का दम्भ करने वाले अल्पज्ञ मनुष्य इन देवताओं को श्रीभगवान् के विविध रूप मानते हैं। यथार्थ में ये देवता भगवान् के रूप नहीं हैं; वे तो श्रीभगवान् के भिन्नांश ही हैं। श्रीभगवान् अद्वय हैं, जबकि उनके भिन्नांश अनेक हैं। वेद कहते हैं: **'नित्यो नित्यानाम्'**: श्री

भगवान् एक हैं। 'ईश्वरः परमः कृष्णः' श्रीकृष्ण ही एकमात्र परात्पर परमेश्वर हैं। देवताओं को इस प्राकृत जगत् की व्यवस्था का अधिकार उन्हीं से प्राप्त है। ये देवता विभिन्न मात्रा में प्राकृत शक्ति से युक्त हुए जीव हैं (नित्यानाम्); अतएव वे परमेश्वर नारायण, विष्णु अथवा श्रीकृष्ण के समकक्ष नहीं हो सकते। इस कारण जो श्रीभगवान् एवं देवगण को समकक्ष मानता है वह नास्तिक अथवा पाखण्डी कहलाता है। अन्य देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, ब्रह्मा, शिव, आदि भी श्रीकृष्ण की समकक्षता नहीं कर सकते। वस्तुतः श्रीभगवान् ब्रह्मा तथा शिव के भी आराध्य हैं (शिवविरंचिनुतम्)। अतः यह परम विस्मयास्पद है कि ऐसे अनेक मानव-अग्रणी हैं जिनकी मूर्ख लोग अवतारवाद के भ्रम से पूजा करते हैं। 'इहः देवताः' पद शक्तिशाली मनुष्य अथवा प्राकृत जगत् के देवगण का द्योतक है। परन्तु भगवान् नारायण, विष्णु अथवा श्रीकृष्ण इस संसार में स्थित नहीं हैं। वे प्राकृत सृष्टि से सर्वथा परे हैं। स्वयं निर्विशेषवादियों के अग्रणी श्रीपाद् शंकराचार्य घोषित करते हैं कि नारायण अथवा श्रीकृष्ण इस प्राकृत मृष्टि से अतीत हैं, तथापि मूर्ख लोग (हृत ज्ञान) तात्कालिक फल की इच्छा से देव-यजन करते हैं। उन्हें फल की प्राप्ति तो होती है, किन्तु वे नहीं जानते कि इस प्रकार प्राप्त होने वाला क्षणभंगुर फल अल्पज्ञों के ही योग्य है। जो विवेकी है वह कृष्णभावना में स्थित रहता है, इसलिए उसे क्षणिक सुख के लिए तुच्छ देवताओं का यजन करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता। ये प्राकृत देवता और उनके उपासक संसार के संहार के साथ नष्ट हो जायेंगे। देवताओं के वरदान प्राकृत और क्षणिक होने से हेय हैं। प्राकृत लोक, उनके निवासी, देवता एवं उनके उपासक ब्रह्माण्ड-सागर मे उठने वाले बुदबुदे मात्र हैं। तथापि मानव इस संसार में भूमि, परिवार तथा अन्य सुख साधन आदि अनित्य ऐश्वर्यों के लिए उन्मत्त हो रहा है। इन नाशवान् पदार्थों की प्राप्ति के लिए वह देवगण अथवा समाज के किसी शक्तिशाली मनुष्य की सेवा करता है। किसी राजनीतिज्ञ की अभ्यर्चना करने से प्राप्त हुए मन्त्री पद को महान् वरदान माना जाता है, इसलिए सब मनुष्य नेता कहलाने वाले दुष्टों का अभिवादन करते हैं और इस प्रकार उनकी अभीष्ट-सिद्धि हो भी जाती है। दुर्भाग्यवश ऐसे मूढ़ मनुष्य कृष्णभावना

में अभिरुचि नहीं रखते, जिससे भवरोग का स्थायी निदान हो सकता है। वे इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही आतुर हो रहे हैं; अतः इन्द्रिय-तृप्ति की स्वल्प सुविधा के लिए देव-पदासीन शक्तिशाली जीवों की आराधना के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। यह श्लोक संकेत करता है कि जनता में ऐसे मनुष्य की प्राप्ति अति दुर्लभ है, जिसकी कृष्णभावनामृत में रुचि हो, क्योंकि प्रधान रूप में इन्द्रिय-तृप्ति में अनुरक्त होने से वह किसी शक्तिशाली जीव की ही उपासना करती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

चातुर्वर्ण्यम्=मानव समाज के चार वर्ण; **मया**=मेरे द्वारा; **सृष्टम्**=रचे गए हैं; **गुण कर्म विभागशः**=गुण और कर्म के अनुसार; **तस्य**=उसका; **कर्तारम्**=करने वाला (होने पर); **अपि**=भी; **माम्**=मुझ; **विद्धि**=(तू) जान; **अकर्तारम्**=अकर्त्ता; **अव्ययम्**=अविनाशी को।

अनुवाद

प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं; परन्तु इस व्यवस्था का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान ॥१३॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता हैं, सब कुछ उनसे ही उत्पन्न हुआ है, उन्हीं के द्वारा प्रतिपालित है तथा विनाश होने पर उन्हीं के आश्रय में रहता है। स्पष्टतः वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के उद्भावक हैं। वर्णाश्रम धर्म में सर्वप्रथम बुद्धिवादियों का वर्ग है, जो सत्त्वगुण में स्थित होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय, प्रशासनिक वर्ग में रजोगुणी क्षत्रिय आते हैं। वैश्यों में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है तथा शूद्र प्रकृति के तमोगुण में स्थित हैं। मानव समाज में चतुर्वर्ण की

सृष्टि करने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण इन सबसे अतीत हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों के समान नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में विद्यमान है। मानव समाज अनेक दृष्टियों से पशु-समाज के सदृश है। अतः पशु स्तर से मनुष्य का उत्थान करने के उद्देश्य से श्रीभगवान् ने उपरोक्त वर्णाश्रम की रचना की। इस पद्धति के द्वारा शनैः-शनैः कृष्ण-भावना उद्भावित हो जाती है। मनुष्य की कर्म में प्रवृत्ति त्रिगुणों के अनुपात के अनुसार होती है, जिससे वह युक्त है। कर्म गुणों पर आधारित जीवन के उक्त लक्षणो का वर्णन इस ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष की कोटि ब्राह्मण से भी उत्तम है। गुणों के अनुसार ब्राह्मण को परमतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए, परन्तु अधिकांश ब्राह्मण श्रीकृष्ण के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप को ही प्राप्त कर पाते हैं। इसलिए जो पुरुष ब्राह्मण के सीमित ज्ञान का उल्लघन कर भगवान् श्रीकृष्ण का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है, अर्थात् वैष्णव पद प्राप्त करता है। कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण के राम, नृसिंह, वराह, आदि अंशों के ज्ञान का भी समावेश है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण मानव समाज की इस वर्णाश्रम व्यवस्था से परे है, उसी भांति कृष्णभावित महापुरुष भी समाज, राष्ट्र, जाति, आदि जगत् के सब भेदों से अतीत है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

न=नहीं; माम्=मुझे; कर्माणि=कर्म; लिम्पन्ति=बांधते; न=नहीं है; मे=मेरी; कर्मफले=कर्मफल में, स्पृहा=वाञ्छा; इति=इस प्रकार; माम्=मुझे; यः=जो, अभिजानाति=जानता है, कर्मभिः=कर्मफल से; न=नहीं; सः=वह, बध्यते=लिपायमान होता।

अनुवाद

मुझ पर किसी भी कर्म का प्रभाव नहीं होता, क्योंकि मुझे कर्मफल

की कामना नहीं है। मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानने वाला भी कर्म-फल में लिपायमान नहीं होता ॥१४॥

तात्पर्य

यह संसार का सर्वमान्य संवैधानिक अभिधान है कि राजा दण्डनीय अथवा राज नियमों के आधीन नहीं हो सकता। इस न्याय से जगत् के स्रष्टा श्रीभगवान् उसकी क्रियाओं से लिपायमान नहीं होते। सृष्टि करने पर भी वे उससे असंग रहते हैं। इसके विपरीत, प्राकृत पदार्थों पर अधिकार करने की प्रवृत्ति के कारण जीवात्मा कर्मफल में बंध जाते हैं। किसी संस्थान का स्वामी कर्मचारियों के उचित-अनुचित कर्म के लिए उत्तर-दायी नहीं, कर्मचारी स्वयं उत्तरदायी हैं। जीवात्मा इन्द्रिय-तृप्ति के लिए विविध क्रियाओं में संलग्न है। भगवान् ने इन क्रियाओं का विधान नहीं किया है, तथापि जीवात्मा उत्तरोत्तर उत्तम इन्द्रिय-तृप्ति करने के लिए इस संसार में कर्म कर रहे हैं और मृत्यु के अनन्तर स्वर्गीय सुख चाहते हैं। श्रीभगवान् पूर्ण आप्तकाम हैं, उनमें तथाकथित स्वर्गीय सुख के प्रति किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं है। स्वर्गीय देवता उन्हीं के द्वारा नियुक्त किये गये सेवक हैं। कोई स्वामी उस तुच्छ सुख की इच्छा कभी नहीं करता, जो उसके सेवकों द्वारा वाञ्छित हो। इसलिए लौकिक कर्म एवं कर्मफल से प्रभु सर्वथा विरक्त हैं। उदाहरण के लिए, पृथ्वी पर प्रकट होने वाली विविध वनस्पतियों की हेतु वर्षा नहीं है, यद्यपि वर्षा के अभाव में इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वैदिक स्मृति में इस तथ्य की पुष्टि है :

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि ।
प्रधानकारिणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥

प्राकृत सृष्टि के परम कारण एकमात्र श्रीभगवान् हैं, प्रकृति तो केवल निमित्त कारण है, जिससे ब्रह्माण्डीय सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। देवता, मनुष्य तथा निम्न पशु आदि सभी प्राणी पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्म-फल भोगने को बाध्य हैं। श्रीभगवान् इन क्रियाओं के लिए उन्हें समुचित सुविधा और प्राकृत गुणों के नियम सुलभ कराते हैं, परन्तु जीवों की विगत अथवा वर्तमान, किसी भी क्रिया के लिए वे उत्तरदाता नहीं।

वेदान्त सूत्र में सिद्ध किया गया है कि प्रभु किसी भी जीव से पक्षपात नहीं करते। जीवात्मा अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। श्रीभगवान् तो केवल बहिरंग शक्ति (अपरा प्रकृति) के माध्यम से उसे पर्याप्त सुविधा प्रदान करते हैं। इस कर्म सिद्धान्त की सम्पूर्ण दृढ़ता को जानने वाला कर्मफल से लिपायमान नहीं होता। भाव यह है कि श्रीभगवान् के इस दिव्य स्वरूप को तत्त्व से जानने वाला कृष्णभावना का अनुभवी पुरुष कर्म-बन्धन के आधीन कभी नही होता। जो श्रीभगवान् के अलौकिक स्वरूप को न जानते हुए यह समझता है कि साधारण जीवों के समान भगवान् के कर्म भी सकाम हैं, वह निश्चित रूप से कर्मफल से बंध जाता है। दूसरी ओर, जो परम सत्य के तत्त्व को जानता है, वह पुरुष कृष्णभावना में स्थित हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

एवम्=यह तत्त्व; ज्ञात्वा=भलीभांति जानकर; कृतम्=किया गया है; कर्म=कर्म; पूर्वैः=पूर्व के; अपि=भी मुमुक्षुभिः=मुमुक्षु पुरुषों द्वारा; कुरु=कर; कर्म=स्वधर्म रूप कर्त्तव्य; एव=ही; तस्मात् =अतएव; त्वम्=तू, पूर्वैः=पूर्वजों द्वारा; पूर्वतरम्=प्राचीन काल से; कृतम्=किया हुआ।

अनुवाद

प्राचीन काल में सब मुमुक्षु पुरुषों ने भी इस ज्ञान से युक्त होकर कर्म द्वारा मुक्ति-लाभ किया। अतएव पूर्वजों की भांति, इस बुद्धियोग में युक्त हुआ तू भी कर्त्तव्य का आचरण कर ॥१५॥

तात्पर्य

मनुष्यों की दो कोटियां है। कुछ का हृदय पूर्णतया विषय-कलुषित है, तो दूसरे विषयैषणा से मुक्त हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों ही प्रकार के मनुष्यों के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। पूर्णतया विषय-दूषित

व्यक्ति विधि भक्ति के आचरण द्वारा शनैः-शनैः हृदय का परिशोधन करने के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। पहिले ही विशुद्ध हुए पुरुषों को भी कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही तत्पर रहना चाहिए, जिससे उनकी आदर्श क्रियाओं का अनुकरण करके दूसरे भी कल्याण को प्राप्त हो जायं। देखा गया है कि प्रायः मूर्ख व्यक्ति अथवा कनिष्ठ साधक कृष्णभावनामृत को जाने बिना ही कर्म से विरक्त हो जाना चाहते हैं। रणांगण में कर्म से विरत हो जाने की अर्जुन की इच्छा को श्रीभगवान् ने स्वीकार नहीं किया। कल्याण के लिए कर्म करने की यथार्थ विधि को जानने की आवश्यकता है। कृष्णभावनाभावित कर्म को त्यागकर अलग बैठकर कृष्णभावनामृत का दम्भ करने की अपेक्षा श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्म-क्षेत्र में तत्पर रहना कहीं उत्तम है। इस श्लोक में अर्जुन को यह परामर्श दिया गया है कि वह सूर्यदेव आदि पूर्ववर्ती भगवद्भक्तों के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनाभावित कर्म करे। भगवान् श्रीकृष्ण को उन सब कर्मों की स्मृति है जो उन्होंने और उनके भक्तों (कृष्णभावनाभावित पुरुषों) ने पूर्व में किये थे। इसलिए वे सूर्यदेव के कार्य की स्तुति कर रहे हैं, जिसने करोड़ों वर्ष पूर्व उन्हीं से यह विद्या सीखी थी। भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के सब शिष्यों को यहां पूर्व के होने वाले मुक्त पुरुष कहा गया है, जो श्रीकृष्ण की आज्ञा रूपी कर्त्तव्य के पालन में तत्पर रहे। भाव यह है कि अर्जुन भी सूर्यदेव आदि महानुभावों का अनुगमन करता हुआ कृष्णभावनाभावित कर्म करे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

किम्=क्या है; **कर्म**=कर्म; **किम्**=क्या है; **अकर्म**=अकर्म है; **इति**=इस; **कवयः**=बुद्धिमान्; **अपि**=भी; **अत्र**=इस विषय में; **मोहिताः**=मोहित हो जाते हैं; **तत्**=उस; **ते**=तेरे प्रति; **कर्म**=कर्म तत्त्व का; **प्रवक्ष्यामि**=वर्णन करूंगा; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा**=जानकर; **मोक्ष्यसे**=मुक्त हो जायगा; **अशुभात्**=दुर्भाग्य (संसार बन्धन) से।

अनुवाद

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस प्रकार यह निर्णय करने में बुद्धिमान् भी मोहित हैं। इसलिए मैं तेरे लिए उस कर्म-तत्त्व का वर्णन करूंगा, जिसे जान कर तू सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा ॥१६॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म पूर्ववर्ती शुद्ध-भक्तों के आदर्श के अनुसार ही करना है। यह पन्द्रहवें श्लोक में भी कहा गया है। स्वेच्छामय कर्म का निषेध क्यों है, यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया जायगा।

कृष्णभावनाभावित कर्म करने के लिए उन प्रामाणिक पुरुषों का अनुगमन करना आवश्यक है, जो शिष्य-परम्परा में हों, जैसा अध्याय के आदि में कहा गया है। कृष्णभावनामृत रूपी धर्म का उपदेश सर्वप्रथम सूर्यदेव के प्रति किया गया। सूर्यदेव ने उसी ज्ञानामृत को अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को हृदयङ्गम कराया। इस प्रकार यह व्यवस्था चिरन्तन काल से पृथ्वी पर विद्यमान है। अत: परम्परा में पूर्ववर्ती आचार्यों के चरण-चिह्नों की अनुगति आवश्यक है। अन्यथा चाहे कोई मूर्धन्य मनीषी ही क्यों न हो, उसे भी कृष्णभावनाभावित आदर्श कर्म के विषय में भ्रम हो जायगा। अतएव श्रीभगवान् ने अर्जुन को कृष्णभावनामृत में स्वयं शिक्षित करने का निश्चय किया। अर्जुन को साक्षात् भगवद्-शिक्षा प्राप्त हुई थी, इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि जो कोई भी अनुगमन करेगा, वह कभी मोहित नहीं होगा।

कहा जाता है कि दोषपूर्ण प्रायोगिक ज्ञान से धर्म-पथ का निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुत: धर्म का प्रणयन करने में स्वयं श्रीभगवान् ही समर्थ हैं। 'धर्मं हि साक्षात्भगवत्प्रणीतम्।' दोषमय मनोधर्म के द्वारा कोई धर्म का निर्माण नहीं कर सकता। इसकी अपेक्षा, ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, कुमार, कपिल, प्रह्लाद, भीष्म, शुकदेव गोस्वामी, यमराज जनक, आदि महाजनों का अनुसरण करना कल्याणकारी होगा। मनोधर्म से धर्म अथवा स्वरूप-सिद्धि का तत्त्व-निर्णय नहीं हो सकता। अत

कर उनसे यह रहस्य हृदयङ्गम करे। यह साक्षात् श्रीभगवान् से स्वयं अर्जुन के प्रति कर्म-अकर्म के तत्त्व का विवेचन कर रहे हैं। कृष्ण-भावनाभावित कर्म करने पर ही भव-बन्धन से जीव का उद्धार हो सकता है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मणः=कर्म का प्रकार; **हि**=निःसन्देह; **अपि**=भी; **बोद्धव्यम्**=जानना चाहिए; **बोद्धव्यम्**=जानने योग्य है; **च**=तथा; **विकर्मणः**=निषिद्ध कर्म का स्वरूप; **अकर्मणः**=अकर्म का तत्त्व; **च**=भी; **बोद्धव्यम्**=जानना चाहिए; **गहना**=गहन है; **कर्मणः**=कर्म तत्त्व; **गतिः**=प्रवेश।

अनुवाद

कर्म का तत्त्व अति गहन है। इसलिए कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को भलीभांति जानना चाहिए ॥१७॥

तात्पर्य

भव-वन्धन से मुक्ति के हेतु साधन में गम्भीरता पूर्वक तत्पर हुए मनुष्य के लिए कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को जान लेना आवश्यक है। कर्म, अकर्म एवं विकर्म के सम्बन्ध में गम्भीर स्वाध्याय अपेक्षित है, क्योंकि यह अतिशय गहन तत्त्व है। कृष्णभावनाभावित कर्म और गुणों के अनुसार किये जाने वाले कर्म भेद को जानने के लिए श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को जानना होगा। भाव यह है कि जो पूर्ण विद्या से युक्त है, वह जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का नित्यदास है और इस कारण कृष्णभावनाभावित कर्म करना जीवमात्र का कर्त्तव्य है। सम्पूर्ण भगवद्गीता का यही लक्ष्य है। इस भावना का विरोध करने वाले अन्य सब निष्कर्ष एवं परिणाम 'विकर्म' हैं। इस सम्पूर्ण तत्त्व को जानने के लिए कृष्णभावना के प्रामाणिक आचार्यों का सत्संग

सत्संग कर उनसे यह रहस्य हृदयङ्गम करे यह साक्षात् श्रीभगवान् से शिक्षा ग्रहण करने के समान कल्याणकारी सिद्ध होता है। महाभागवत के आश्रय के विना वड़े से वड़ा वुद्धिमान् भी मोहित हो जायगा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्मणि=कर्म में; अकर्म=अकर्म; यः=जो; पश्येत्=देखता है, अकर्मणि=अकर्म में; च=भी; कर्म=सकाम कर्म; यः=जो; सः=वह; बुद्धिमान्=बुद्धिमान् है; मनुष्येषु=मनुष्यों में; सः=वह; युक्तः=युक्त है; कृत्स्नकर्मकृत्=सव प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी।

अनुवाद

जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सव प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी मुक्त है ॥१८॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला स्वभावत सम्पूर्ण कर्मवन्धनों से मुक्त रहता है। उसके सम्पूर्ण कार्य श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए हैं। इसलिए वह किसी भी प्रकार का कर्म-जन्य सुख-दुःख नही भोगता, श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही सव कर्म करने के कारण वह मनुष्यों में वुद्धिमान् है। 'अकर्म' का अर्थ है कर्मफल से रहित। निर्विशेषवादी इस भयवश सकाम कर्म से निवृत्त हो जाता है कि कही कर्मफल से मुक्ति-पथ में व्यवधान उपस्थित न हो जाय। परन्तु भक्त को तो नित्य भगवद् दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, जिससे वह कृष्ण-भावनाभावित क्रियाओं में नित्य तत्पर रहता है। सभी कुछ श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए किया जाता है, इससे वह उस सेवा में केवल चिन्मय आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है। इस पद्धति में निष्ठ हुए भक्त निजेन्द्रिय-तृप्ति की वाञ्छा से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

'मैं श्रीकृष्ण का नित्य दास हूं' यह भाव सब कर्मफलों से मुक्त कर देता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

यस्य=जिसके; **सर्वे**=सब; **समारम्भाः**=उद्यम; **काम**=इन्द्रिय तृप्ति की कामना से; **संकल्प**=निश्चय (से); **वर्जितः**=शून्य हैं; **ज्ञान**=पूर्ण ज्ञान की; **अग्नि**=अग्नि द्वारा; **दग्ध**=भस्म हुए; **कर्माणम्**=कर्म वाले; **तम्**=उस पुरुष को; **आहुः**=कहते हैं; **पण्डितम्**=विद्वान्; **बुधाः**=ज्ञानी।

अनुवाद

जिसके सब कर्म इन्द्रिय-तृप्ति की कामना से रहित हैं, उसको पूर्ण ज्ञानी समझा जाता है। उस पुरुष के कर्म-फल ज्ञान रूप अग्नि में भस्म हो जाते हैं, ऐसा ऋषियों का कहना है ॥१९॥

तात्पर्य

पूर्ण ज्ञानी ही कृष्णभावनाभावित पुरुष की क्रियाओं को समझ सकता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष में इन्द्रिय-तृप्ति की प्रवृत्ति का अत्यन्त अभाव रहता है, इससे यह समझा जाता है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा उसने सम्पूर्ण कर्मफल को भस्म कर दिया है। इस ज्ञानमयी कृतकृत्यता को प्राप्त हुआ मनुष्य ही यथार्थ में विद्वान् है। 'मैं भगवान् का नित्य दास हूं' यह ज्ञान अग्नि की सी गरिमा रखता है। एकदा प्रदीप्त हुई यह ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्म-बन्धन को अविलम्ब भस्मसात कर देती है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

त्यक्त्वा=त्याग कर; कर्मफल-आसंगम्=कर्मफल की आसक्ति को; नित्य=सदा; तृप्तः=तृप्त; निराश्रयः=आश्रय रहित; कर्मणि=कर्म में; अभिप्रवृत्तः=पूर्ण तत्पर होने पर; अपि=भी; न=नहीं; एव=निःसन्देह; किंचित्=कुछ भी; करोति=करता है; सः=वह।

अनुवाद

कर्मफल की आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर नित्य तृप्त और स्वतन्त्र रहने वाला पुरुष सब कर्म करता हुआ भी कोई सकाम कर्म नहीं करता ॥२०॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित होकर श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करने से ही कर्म-बन्धन से इस प्रकार का मोक्ष प्राप्त हो सकता है। कृष्णभावनाभावित भक्त विशुद्ध भगवत्प्रेम से प्रेरित होकर कर्म करता है। परिणामतः उसके लिए कर्मफल में कुछ भी आकर्षण नहीं रहता। वह पूर्णतया कृष्णाश्रित हो जाता है, इसलिए अपने परिपोषण में भी आसक्त नहीं रहता और न ही उसे योगक्षेम की चिन्ता रहती। पूर्ण सामर्थ्य से स्वधर्म का आचरण करता हुआ भी वह सर्वतोभावेन कृष्ण-चरणाश्रित रहता है। इस कोटि का अनासक्त पुरुष शुभ-अशुभ कर्मफल से नित्य मुक्त है, जैसे वह कभी कुछ करता ही न हो। यह 'अकर्म' अर्थात् निष्काम कर्म का लक्षण है। कृष्णभावना से रहित अन्य सब कर्म बन्धनकारी हैं। और उन्हीं का नाम विकर्म है, जैसा पूर्व में कहा जा चुका है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

निराशीः=फल की भावना से रहित; यत=वश में किए हुए; चित्त-आत्मा=मन तथा बुद्धि से युक्त; त्यक्त=त्याग दिया है; सर्व=सम्पूर्ण; परिग्रहः=सामग्री पर स्वामीपन का भाव; शारीरम्=प्राण

रक्षा का; **केवलम्**=मात्र; **कर्म**=कर्म; **कुर्वन्**=करते हुए भी; **न**=नहीं; **आप्नोति**=प्राप्त होता; **किल्बिषम्**=पाप को।

अनुवाद

ऐसा ज्ञानी पुरुष मन बुद्धि को पूर्ण रूप से वश में करके और अपनी सम्पूर्ण सामग्री में स्वामीपन के भाव को त्यागकर केवल शरीर धारण के लिए कर्म करता है। इस प्रकार कर्म करता हुआ वह पाप को प्राप्त नहीं होता ॥२१॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष को अपने कर्मों से शुभ अथवा अशुभ किसी भी फल की अपेक्षा नहीं रहती। उसके चित्त एवं बुद्धि पूर्णतया वश में रहते हैं। वह जानता है कि वह परमेश्वर का भिन्न-अंश है, इसलिए अंशी के अंश के रूप में उसकी भूमिका का निर्णय श्रीभगवान् ने किया है, उसने स्वयं नहीं। जीव तो भगवत्-इच्छा की पूर्ति में निमित्त-मात्र है; हाथ स्वेच्छापूर्वक नहीं, वरन् सम्पूर्ण देह के प्रयत्न से चेष्टा करता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष भगवद्-इच्छा की पूर्ति में ही नित्य तत्पर रहता है, क्योंकि उसमें निजेन्द्रिय-तृप्ति विषयक कामना की गन्ध भी नहीं रहती। वह ठीक यन्त्रस्थ उपकरण के समान कार्य करता है। जिस प्रकार कार्यशीलता के लिए संयन्त्र के उपकरण को तेल तथा परिमार्जन अपेक्षित है, उसी भांति, कृष्णभावनाभावित मनुष्य कर्म के द्वारा अपना पालन करता है, जिससे वह दिव्य भगवत्सेवा करने के लिए स्वस्थ रह सके। इसलिए वह कर्मफल से सर्वथा असंग रहता है। पशु की भांति उसका तो अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं होता। क्रूर स्वामी कभी-कभी पशु को मार भी डालता है, परन्तु पशु विरोध नहीं करता, क्योंकि उसमें यथार्थ स्वतन्त्रता का अभाव है। आत्मतत्त्व में पूर्णतया तत्पर हुए कृष्णभावनाभावित पुरुष के पास इतना समय नहीं होता कि वह विषयों में स्वामीपन का मिथ्या अभिमान करे, प्राण-धारण करने के हेतु धन-उपार्जन की किसी असद्-वृत्ति से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं होता। अतएव

वह इस प्रकार के पापकर्मों से कलुषित नहीं होता, वरन् अपने कर्मों के बन्धन से नित्य मुक्त रहता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

यदृच्छा-लाभ=अपने आप जो कुछ प्राप्त हो (उसी में); **सन्तुष्टः** सन्तोष करने वाला; **द्वन्द्व**=द्वन्द्वों से; **अतीतः**=मुक्त; **विमत्सरः**=ईर्ष्या रहित; **समः**=स्थिर बुद्धि; **सिद्धौ**=सिद्धि मे; **असिद्धौ**=असिद्धि में; **च**=भी; **कृत्वा**=कर्म करने पर; **अपि**=भी; **न**=नही; **निबध्यते**= बंधता है।

अनुवाद

अपने आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष करने वाला, द्वन्द्वों और ईर्ष्या-दोष से मुक्त तथा सिद्धि और असिद्धि को समान समझने वाला पुरुष कर्म करने पर भी नही बंधता ॥२२॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष शरीर धारण के लिए भी विशेष उद्यम नही करता, स्वयं प्राप्त लाभ में ही सन्तुष्ट रहता है। वह याचना अथवा ऋण नहीं लेता, वरन् यथा सामर्थ्य उद्यम करता है और सद्वृत्ति से जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में परितृप्त रहता है। इस प्रकार अपनी जीविका के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र है, इसलिए किसी अन्य की सेवा को अपने कृष्णभावनाभावित सेवा-कार्य में व्यवधान उपस्थित नही करने देता। दूसरी ओर, भगवत्सेवा के लिए वह संसार के द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना किसी भी कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। सासारिक द्वन्द्वों का अनुभव शीत-ग्रीष्म, सुख-दुखादि के रूप में होता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष द्वन्द्वों से मुक्त रहता है क्योंकि वह श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ कोई भी कर्म करने में संकोच नही करता। इसीलिए दोनों सिद्धि तथा

असिद्धि में उसका समभाव रहता है। पूर्ण ज्ञानी में ये सब लक्षण प्रकट रहते हैं।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

गतसंगस्य=प्राकृतिक गुणों में अनासक्त; **मुक्तस्य**=मुक्त के; **ज्ञानावस्थित**=ज्ञान में स्थित; **चेतसः**=इस मति से; **यज्ञाय**=यज्ञ (श्रीकृष्ण) प्रीत्यर्थ; **आचरतः**=सम्पादित; **कर्म**=कार्य; **समग्रम्**=पूर्णतः; **प्रविलीयते**=(परतत्त्व) में विलीन हो जाता है।

अनुवाद

जो पुरुष गुणों में आसक्त नहीं है और पूर्णज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अप्राकृत तत्त्व में विलीन हो जाते हैं ॥२३॥

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुआ पुरुष सम्पूर्ण द्वन्द्वों से मुक्त होने के कारण प्रकृति के गुणों से भी असंग हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है, क्योंकि यह भलीभांति जानता है कि वह स्वरूप से श्रीकृष्ण का नित्य दास है, अतएव उसके चित्त को कृष्णभावना से विचलित नहीं किया जा सकता। वह जो कुछ भी करता है आदि-विष्णु, श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही करता है। इस प्रकार उसके सम्पूर्ण कर्म यज्ञमय बन जाते हैं, क्योंकि यज्ञ का तात्पर्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना ही है। इस कोटि के यज्ञमय कर्मों का फल निस्सन्देह अप्राकृत तत्त्व में विलीन हो जाता है, इसलिए इनका कोई लौकिक फल नहीं होता।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ॥२४॥

ब्रह्म=परा प्रकृति ; अर्पणम्=अर्पण ; ब्रह्म=परतत्त्व ; हविः=घृत ; ब्रह्म=अप्राकृत ; अग्नौ=परमगति रूपी अग्नि में ; ब्रह्मणा=जीवात्मा द्वारा ; हुतम्=अर्पित ; ब्रह्म=भगवद्धाम ; एव=अवश्यमेव ; तेन=उसके द्वारा ; गन्तव्यम्=प्राप्य है ; ब्रह्म=चिन्मय ; कर्म=कार्य में ; समाधिना=पूर्ण तन्मयता के कारण ।

अनुवाद

जो कृष्णभावना में पूर्णतया तन्मय है उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है; वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं में तत्पर रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है ॥२४॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के द्वारा अन्त मे किस प्रकार भगवद्धाम की प्राप्ति हो जाती है, यह इस श्लोक में कहा गया है। कृष्णभावनाभावित क्रियाएं नाना प्रकार की हैं, जिनका अनुवर्ती श्लोकों में उल्लेख किया जायगा। उससे पूर्व, इस श्लोक में कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त का निरूपण है। प्राकृत विकारों मे युक्त बद्धजीव भव-परिवेश में कर्म किये विना नही रह सकता, यह निश्चित है। साथ ही, भव-मोचन के लिए उसे इस परिधि से मुक्त होना है। कृष्णभावना वह पद्धति, जिसके द्वारा जीव भव-परिवेश से मुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, दुग्ध-पदार्थों के अतिसेवन से हुई अपच एक अन्य दुग्ध-पदार्थ, दही के सेवन से ठीक हो जाती है। ऐसे ही, विषयासक्त बद्धजीव यहाँ गीता में प्रतिपादित कृष्णभावनामृत योग के द्वारा भवरोग से मुक्त हो सकता है। साधारणतया इस पद्धति को यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कहा जाता है। लौकिक कार्यों को जितना अधिक कृष्णभावना से भावित होकर अर्थात् श्रीविष्णु के प्रीत्यर्थ किया जायगा, पूर्ण तन्मयता के फलस्वरूप पर्यावरण उतना ही अधिक चिन्मय कृष्ण-भक्ति रस से परिप्लावित होगा। 'ब्रह्म' शब्द आत्म-तत्त्व का द्योतक है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्दघन है। उनके दिव्य श्रीविग्रह

से निस्सृत किरण-राशि ब्रह्मज्योति कहलाती है। सब कुछ उसी ब्रह्म-ज्योति में स्थित है। मायाच्छन्न हो जाने पर उसे प्राकृत (भौतिक) कहा जाता है। इस प्राकृत आवरण को कृष्णभावनामृत से तत्काल अनावृत किया जा सकता है। अतएव कृष्णभावना के लिए अर्पित हवि, ग्रहण-कर्ता, अर्पण-क्रिया, अर्पणकर्ता और यज्ञफल—ये सभी समवेत रूप में ब्रह्मतत्त्व है। मायाच्छन्न ब्रह्म ही जड़ प्रकृति कहलाता है और परब्रह्म की सेवा में नियोजित प्रकृति पुनः दिव्यता को प्राप्त हो जाती है। अतएव कृष्णभावना के अनुशीलन से मायाच्छादित चेतना अपने ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। जब चित्त कृष्णभावना में पूर्णरूप से तन्मय हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं। इस भगवन्निष्ठ-मति (बुद्धियोग) से युक्त होकर किया गया प्रत्येक कर्म 'यज्ञ-स्वरूप' है। ऐसे भगवद्भाव में अर्पणकर्ता, अर्पित हवि, अर्पण-क्रिया, होता और यज्ञ-फल अर्थात् अन्तिम लाभ—सभी कुछ परमब्रह्म में एकत्व को प्राप्त हो जाता है। यही कृष्ण-भावना की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दैवम्=देव यजन में; **एव**=इस प्रकार; **अपरे**=अन्य; **यज्ञम्**=यज्ञ; **योगिनः**=योगी; **पर्युपासते**=पूर्णतः उपासना करते हैं; **ब्रह्म**=परतत्त्व; **अग्नौ**=अग्नि में; **अपरे**=अन्य; **यज्ञम्**=यज्ञ; **यज्ञेन**=यज्ञ से; **एव**=इस प्रकार; **उपजुह्वति**=अर्पित करते हैं।

अनुवाद

दूसरे योगी विविध यज्ञों से देवगण की भलीभाँति उपासना करते हैं, जबकि अन्य ज्ञानीजन परमब्रह्मरूपी अग्नि में आहुति देते हैं ॥२५॥

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, कृष्णभावना से युक्त होकर कर्त्तव्य का पालन करने वाला परमयोगी कहलाता है। परन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो

देवोपासना के लिए यजन करते हैं और परमेश्वर श्रीकृष्ण के निराकार तत्त्व के निमित्त यज्ञ करने वाले भी हैं। अत: विविध श्रेणियों के अनुसार विभिन्न यज्ञ किये जाते हैं। कर्ता-भेद से कल्पित विविध यज्ञ-श्रेणियां केवल वाह्यरूप से यज्ञों का वर्गीकरण करती हैं। यथार्थ यज्ञ का तात्पर्य है 'यज्ञ' नाम से ख्यात परमेश्वर श्रीविष्णु का परितोषण करना। सब प्रकार के यज्ञों के मुख्य रूप से दो वर्ग हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। कृष्णभावनाभावित महापुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए सर्वस्व-परित्याग कर देते हैं, जबकि क्षणिक प्राकृत सुख के अभिकांक्षी अन्य मनुष्य इन्द्र, सूर्यादि को प्रसन्न करने के लिए अपनी लौकिक सम्पत्ति का यजन करते हैं। इनके अतिरिक्त, निर्विशेषवादी तो निराकार ब्रह्म में विलीन होकर स्वरूप का ही यजन देते हैं। देवताओं को ब्रह्माण्डीय तेज, जल,- प्रकाशादि प्राकृत क्रियाओं की व्यवस्था के लिए श्रीभगवान् ने ही नियुक्त किया है। तथापि भोगों के अभिलाषी वैदिक कर्मकाण्डमय यज्ञों के द्वारा देवोपासना करने में रत हैं। इस कोटि के मनुष्य 'बहवीश्वर-वादी' कहलाते हैं। दूसरी ओर, निर्विशेषवादी देव-वपुओं को अनित्य मानते हुए ब्रह्माग्नि में अपने पृथक स्वरूप का यजन कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ये निर्विशेषवादी ब्रह्मतत्त्व के चिन्मय स्वरूप को जानने के लिए दार्शनिक मनोधर्म के परायण रहते हैं। इस प्रकार, सकाम कर्मी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए लौकिक स्वत्व का यजन करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी ब्रह्म में विलय के हेतु अपनी प्राकृत उपाधियों का यजन करता है। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परमब्रह्म है एवं ब्रह्माग्नि में स्वरूप विलय ही यज्ञार्पण है। परन्तु अर्जुन की श्रेणी का कृष्णभावनाभावित भक्त श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ सर्वस्व का अर्पण कर देते हैं। इस प्रकार आत्म-स्वरूप सहित भक्त का सर्वस्व श्रीकृष्ण की प्रीति-सम्पादन में समर्पित हो जाता है। अतएव भक्त परम योगी हैं, परन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

श्रोत्र-आदीनि=श्रोत्र आदि ; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को ; **अन्ये**=दूसरे ; **संयम**=संयम रूप ; **अग्निषु**=अग्नि में ; **जुह्वति**=अर्पित करते हैं ; **शब्दादीन्**=शब्द आदि ; **विषयान्**=इन्द्रिय-तृप्ति के विषयों का ; **अन्ये**=दूसरे ; **इन्द्रिय**=इन्द्रियों की ; **अग्निषु**=अग्नि में ; **जुह्वति**=यजन करते हैं ।

अनुवाद

उनमें से कुछ श्रवणादि क्रियाओं और इन्द्रियों का चित्त-संयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं और दूसरे शब्दादि इन्द्रिय विषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं ।।२६।।

तात्पर्य

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—मानव जीवन के इन चारों आश्रमों का प्रयोजन पूर्ण योगी बनने में मनुष्य की सहायता करना है । मनुष्य-योनि पशुओं के समान इन्द्रिय-तृप्ति करने के लिए नहीं है । अतएव मानव जीवन के ये चारों आश्रम इस प्रकार व्यवस्थित हैं जिससे मनुष्य भगवत्परायण जीवन की कृतार्थता को प्राप्त हो जाय । ब्रह्मचारी-गण सद्गुरु के आश्रय में स्थित रहते हुए इन्द्रिय-तृप्ति का परिहार कर मन को वश में करते हैं । इस श्लोक के अनुसार वे श्रवण आदि क्रियाओं और इन्द्रियों का चित्त-संयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं । ब्रह्मचारी के लिए कृष्णभावना सम्बन्धी शब्द ही श्रवणीय हैं । श्रवण ज्ञान की कुञ्जी है । इसलिए शुद्ध ब्रह्मचारी 'हरेर्नामानुकीर्तनम्' अर्थात् भगवद्-कीर्तन-श्रवण में पूर्णतया तन्मय रहता है । वह लौकिक वार्ता का श्रवण नहीं करता, जिससे उसकी श्रवणेन्द्रिय 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' के श्रवण में ही तत्पर रहती है । इन्द्रिय भोग करने की सीमित छूट होते हुए भी गृहस्थ अत्यन्त मर्यादित विषय भोग में ही प्रवृत्त होते हैं । मैथुन-परायणता, मादक पदार्थ सेवन और मांसाहार मानव समाज की सामान्य वृत्तियां हैं । परन्तु संयमी गृहस्थ मैथुन आदि विषय भोगों में अनियन्त्रित रूप से प्रवृत्त नहीं होता । इसी उद्देश्य से प्रत्येक सभ्य मानव समाज में धर्म-विवाह का प्रचलन है । यह संयमित, आसक्ति रहित काम भी एक

प्रकार का यज्ञ है, क्योंकि इसके माध्यम से संयमी गृहस्थ अपनी विषय भोगोन्मुखी सामान्य प्रवृत्ति का परमार्थ के लिए यजन करता है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सर्वाणि=सब ; इन्द्रिय=इन्द्रियों की ; कर्माणि=क्रियाओं का ; प्राण-कर्माणि=प्राण-क्रियाओं का; च=भी ; अपरे=दूसरे ; आत्मसंयम=मनो-निग्रह ; योग=प्राप्ति-पथ ; अग्नौ=अग्नि में ; जुह्वति=अर्पण करते हैं ; ज्ञानदीपिते=आत्मा-तत्त्व की जिज्ञासा से युक्त।

अनुवाद

दूसरे, जो मन और इन्द्रियों का संयम कर आत्म-तत्त्व को प्राप्त करना चाहते हैं, वे सम्पूर्ण इन्द्रिय और प्राण क्रियाओं का चित्त-संयम रूपी अग्नि में यजन करते हैं ॥२७॥

तात्पर्य

इस श्लोक में पतंजलि-प्रणीत योग पद्धति का निर्देश है। पतंजलि के 'योग सूत्र' में आत्मा को 'प्रत्यगात्मा' एवं 'परगात्मा' कहा गया है। जब तक जीवात्मा विषयासक्त रहता है, तब तक उसे 'परगात्मा' कहा जाता है। जीव-मात्र के अन्तर में दस प्राण सक्रिय रहते हैं, जो श्वास प्रक्रिया द्वारा अनुभवगम्य हैं। पातंजल-योग-दर्शन देह में स्थित प्राण की सम्पूर्ण क्रियाओं को वश में करने की विधि सिखाता है, जिससे ये सब प्राण-क्रियाएं विषयासक्ति से जीवात्मा के शुद्धिकरण में सहायक हो जायं। इस योग-पद्धति के अनुसार, प्रत्यगात्मा ही परम लक्ष्य है। यह प्रत्यगात्मा प्राकृतिक क्रियाओं का प्रत्याहार है। इन्द्रियां इन्द्रिय-विषयों के साथ अन्तक्रिया करती हैं, जैसे श्रवण के लिए श्रोत्र, दर्शन के लिए नेत्र, गन्ध के लिए घ्राण, स्वाद के लिए जिह्वा, स्पर्श के लिए त्वचा। इस प्रकार वे सभी आत्म-स्वरूप के बाहर क्रियाशील हैं। ये सब प्राण-

वायु के कार्य हैं। अपान वायु अधोगामी है, व्यान वायु प्रसरण-संकुचन करती है, समान वायु समता बनाये रखती है और उदान वायु ऊर्ध्व-गामिनी है। प्रबुद्ध मनुष्य इन सबको आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा में नियुक्त करता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्ययज्ञाः=अपनी सम्पत्ति का यजन; **तपोयज्ञाः**=तप द्वारा यजन; **योगयज्ञाः**=अष्टांग योग द्वारा यज्ञ; **तथा**=इस प्रकार; **अपरे**=दूसरे; **स्वाध्याय**=वेदाध्ययन रूपी यज्ञ; **ज्ञानयज्ञाः**=भगवद् ज्ञान का अनुशीलन रूप यज्ञ; **च**=भी; **यतयः**=प्रबुद्ध; **संशितव्रताः**=दृढ़ व्रतधारी।

अनुवाद

अन्य मनुष्य कठोर तप में अपनी सम्पत्ति का त्याग करने से प्रबुद्ध हुए दृढ़ व्रत धारण कर अष्टांग योग का अभ्यास करते हैं। दूसरे ज्ञान प्राप्ति के लिए वेद का स्वाध्याय करते हैं।।२८।।

तात्पर्य

यहां कहे गये यज्ञों के नाना आवान्तर भेद किये जा सकते हैं। अनेक मनुष्य विविध दानों के रूप में अपनी सम्पत्ति का यजन करते हैं। धनाढ्य व्यापारी वर्ग अथवा राजवंश द्वारा धर्मशाला, अन्नक्षेत्र, अतिथि-शाला, अनाथालय, विद्यापीठ, आदि दातव्य संस्थाओं की स्थापना की जाती है। अन्य देशों में भी प्रचुर संख्या में चिकित्सालय, वृद्ध-गृह एवं अन्यान्य दातव्य संस्थान हैं, जिनका उद्देश्य दरिद्रों में अन्न, शिक्षा, ओष-धियों का निःशुल्क वितरण करना है। ये सब दान-कर्म द्रव्यमय यज्ञ हैं। अन्य व्यक्ति संसार में पदोन्नति अथवा स्वर्गारोहरण के निमित्त से चन्द्रायण तथा चातुर्मास्य आदि स्वेच्छामय तपों का पुरश्चरण करते हैं। इन पद्धतियों के अन्तर्गत जीवन भर कुछ नियमों के पालन का दृढ़ व्रत

धारण करना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप, चातुर्मास्य का व्रती चार मास तक क्षौर नहीं करता, निषिद्ध पदार्थ नहीं खाता, दिन में दो बार भोजन नहीं करता और गृह में ही निवास करता है। सांसारिक सुखों का इस विधि से परित्याग करना 'तपोयज्ञ' है। इसके अतिरिक्त दूसरे मनुष्य (ब्रह्मैक्य के लिए) पातंजल योग, हठयोग और (अभीष्ट-सिद्धि के हेतु) अष्टांग योग आदि में प्रवृत्त रहते हैं। कुछ सम्पूर्ण पवित्र तीर्थों की यात्रा करते हैं। ये सब क्रियाएं 'योगयज्ञ' हैं। ऐसे भी मनुष्य हैं, जो विविध वैदिक शास्त्रों, विशेष रूप से उपनिषद्, वेदान्तसूत्र अथवा सांख्यदर्शन का अध्ययन करते हैं। ये कर्म 'स्वाध्याय यज्ञ' हैं। विविध यज्ञों में श्रद्धापूर्वक तत्पर हुए ये सभी योगी उदात्त जीवन के अभिलाषी हैं; परन्तु कृष्णभावनामृत इन सबसे विलक्षण है, क्योंकि वह साक्षात् परम रसमयी भगवत्सेवा है। श्रीभगवान् और यथार्थ भगवद्भक्त की महती अमोघ कृपा से ही कृष्णभावनामृत प्राप्त होता है, उपरोक्त किसी यज्ञ से नहीं। इसलिए कृष्णभावनामृत का पथ सर्वथा दिव्य (लोकोत्तर) है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥२९॥

अपाने=अपानवायु में; जुह्वति=हवन करते हैं; प्राणम्=प्राण को; प्राणे=प्राण में; अपानम्=अपानवायु को; तथा=ऐसे ही; अपरे=अन्य; प्राण=प्राण; अपान=अपान की; गती=गति को; रुद्ध्वा=वश में करके; प्राणायाम्=प्राण-निरोध से हुई समाधि में; परायणाः=प्रवृत्त; अपरे=अन्य; नियत=सयमित; आहाराः=भोजन; प्राणान्=प्राण को; प्राणेषु=प्राण में ही; जुह्वति=हवन करते हैं।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य समाधि के लिए प्राणायाम के परायण होते हैं। वे अपान में प्राण का और प्राण में अपान के अवरोध का अभ्यास करते हैं

और अन्त में प्राणगति को पूर्णरूप से रोककर समाधि में स्थित हो जाते हैं। दूसरे संयमित भोजन करने वाले योगी प्राण का प्राण में ही हवन करते हैं ॥२९॥

तात्पर्य

श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया के निग्रह सम्बन्धी इस योग-पद्धति को 'प्राणायाम' कहते हैं। प्रारम्भ में, हठयोग के विविध आसनों की सहायता से इसका अभ्यास किया जाता है। इन्द्रियों को वश में करने और भगवत्प्राप्ति के पथ में प्रगति के लिए ही इन सब साधन-वीथिओं का विधान किया गया है। इस पद्धति के अन्तर्गत देह में स्थित वायु का निग्रह किया जाता है, जिससे परस्पर विपरीत दिशाओं में एक समय संक्रमण करना सम्भव हो जाय। अपान वायु अधोमुखी है और प्राणवायु ऊर्ध्व-गामिनी है। 'पूरक' इन दोनों वायुओं के तटस्थ हो जाने तक प्राणायाम-परायण योगी विलोक-उच्छ्वास का अभ्यास करता है। इसी भांति, जब प्राण का अपान में यजन किया जाता है, तो उसे 'रेचक' कहते हैं। प्राण-अपान, दोनों के पूर्ण अवरोध को 'कुम्भक' योग कहा जाता है। कुम्भक योग के अभ्यास से योगियों की आयु में अनेक वर्षों की अभिवृद्धि हो जाती है। परन्तु भक्तियोग से नित्य युक्त रहने वाला कृष्णभावना-भावित पुरुष स्वयमेव जितेन्द्रिय बन जाता है। श्रीकृष्ण-सेवा में नित्य तत्पर रहने वाली उसकी इन्द्रियों के लिए विषयों में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं रहता। अतएव जीवन-अवधि का अन्त होने पर वह अनायास ही चिन्मय कृष्णलोक में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए वह चिरायु की प्राप्ति के लिए उद्यम नहीं करता; सत्य तो यह है कि कृष्णभावनाभावित होते ही उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है। कृष्णभावनाभावित महात्मा की श्रेणी का प्रारम्भ ही ब्रह्म-भूत स्तर से होता है और उस बुद्धियोग से वह नित्य युक्त रहता है। इसी से उसका कभी पतन नहीं हो सकता। अन्त में उसे अतिशीघ्र भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है। केवल श्रीकृष्ण-प्रसाद को ग्रहण करने से अल्पाहार का अभ्यास स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। अल्पाहार इन्द्रिय-निग्रह में बड़ा सहायक है तथा इन्द्रियों को वश में किए बिना प्रापञ्चिक बन्धन से विमोक्ष नहीं हो सकता।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥

सर्वे=सब ; अपि=बाह्य दृष्टि से भिन्न प्रतीत होने पर भी ; एते=ये ; यज्ञविदः=यज्ञ के प्रयोजन को जानने वाले ; यज्ञ=यज्ञ द्वारा ; क्षपित=शुद्ध हुए ; कल्मषाः=पाप से ; यज्ञशिष्ट अमृतभुजः=जो यज्ञों के प्रसाद रूप अमृत का आस्वादन कर चुके हैं ; यान्ति=प्राप्त करते हैं ; ब्रह्म=परब्रह्म ; सनातनम्=नित्य धाम को ।

अनुवाद

ये सभी यज्ञ करने वाले, जो यज्ञों का तात्पर्य जानते हैं, पाप कर्मों से मुक्त हो जाते हैं और इन यज्ञों के प्रसाद रूप अमृत का आस्वादन कर शाश्वत परम धाम को प्राप्त करते हैं ॥३०॥

तात्पर्य

द्रव्य-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, योग-यज्ञ आदि विविध यज्ञों के पूर्वोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि इन सभी का उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करना है । भव रोग का मूल कारण इन्द्रिय-तृप्ति-परायणता है, अतएव इन्द्रिय तृप्ति से ऊपर उठे बिना सच्चिदानन्द-तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । यह स्तर है शाश्वत् ब्रह्म-परिवेश । पूर्वोक्त यज्ञ प्रापञ्चिक जीवन में बनने वाले अपकर्म से कर्ता का परिशोधन करते हैं । इस आत्मोन्नति के द्वारा केवल इस जीवन में ही सुख-वैभव की प्राप्ति नहीं होती, वरन् अन्त में निर्विशेष ब्रह्मैक्य अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य में भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

न=नहीं ; अयम्=यह ; लोकः=संसार ; अस्ति=है ; अयज्ञस्य=

यज्ञ न करने वाले मूर्ख का ; कुतः = कैसे होगा ; अन्यः = दूसरे (परलोक); कुरुसत्तम = हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक अथवा यह जीवन भी सुखदायक नहीं, फिर परलोक कैसे होगा ? ।।३१।।

तात्पर्य

जीव भावसागर की किसी भी योनि में क्यों न हो, अपना यथार्थ स्वरूप उसे अज्ञात ही रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पिछले पापमय जीवनों के फलस्वरूप ही हमें संसार-बन्धन की प्राप्ति हुई है। पापमय जीवन का कारण अज्ञान है और जब तक जीवन पाप पूर्ण रहता है, तब तक भव रोग निरन्तर बना रहता है। इस बन्धन चक्र से मुक्ति का एकमात्र द्वार मानव-शरीर है। अतएव धर्म, अर्थ, मर्यादित काम और अन्त में इस दुःखालय से पूर्ण मुक्ति का पथ प्रशस्त कर वेद हमें मोक्ष-प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। धर्म-पथ अथवा उपरोक्त नाना यज्ञों द्वारा आर्थिक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाता है। जन-संख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ करने से अन्न, दुग्धादि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहते हैं। शरीर के पोषण के बाद स्वभावतः इन्द्रिय-तृप्ति का स्थान आता है। इसलिए वेदों में संयमित इन्द्रिय-तृप्ति के लिए धर्म सम्मत विवाह का विधान है। इससे मनुष्य शनैः शनैः भव-बन्धन से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की परम सिद्धि श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने में है। पूर्व कथन के अनुसार, यज्ञ से कृतकृत्यता हो जाती है। इस पर भी यदि कोई वेद के अनुसार यज्ञ नहीं करे तो वह सुखी जीवन की आशा किस प्रकार कर सकता है ? विभिन्न स्वर्गीय लोकों में प्राकृत सुख के अलग-अलग स्तर हैं। अतः सभी दृष्टियों से यज्ञ करने वाले को प्रचुर सुख की उपलब्धि होती है। परन्तु मानव को प्राप्त होने वाला सर्वोच्च सुख कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा भगवद्धाम को प्राप्त कर लेना है। अतएव जीवन के कृष्णभावनाभावित हो जाने से भवसागर के सम्पूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

एवम्=इस प्रकार ; बहुविधाः=नाना प्रकार के ; यज्ञाः=यज्ञ ; वितताः=विस्तृत हुए ; ब्रह्मणः=वेदों के ; मुखे=मुख में ; कर्मजान्=कर्मजन्य ; विद्धि=जान ; तान्=उन ; सर्वान्=सभी को ; एवम्=इस प्रकार ; ज्ञात्वा=जानकर ; विमोक्ष्यसे=मुक्त हो जाएगा ।

अनुवाद

वेदों में वर्णित इन सभी यज्ञों को कर्म द्वारा उत्पन्न हुआ जान । इस प्रकार यज्ञ-तत्त्व को जान कर तू संसार से मुक्त हो जायगा ॥३२॥

तात्पर्य

पूर्व कथन के अनुसार, कर्त्ता-भेद से वेदों में भिन्न-भिन्न यज्ञों का विधान है । अधिकांश मनुष्य प्रायः देहात्मबुद्धि मे तन्मय हो रहे हैं । अतएव यज्ञों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार देह, मन अथवा बुद्धिके द्वारा उनका अनुष्ठान कर सकें । परन्तु इन सब का अन्तिम लक्ष्य देह से मुक्ति कराना है । यहा भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीमुख-वचन से यह प्रमाणित किया है ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

श्रेयान्=श्रेष्ठ है ; द्रव्यमयात् यज्ञात्=द्रव्यमय यज्ञ से ; ज्ञानयज्ञः=ज्ञानयज्ञ ; परंतप=हे शत्रु विजयी अर्जुन ; सर्वम्=समूचे ; कर्म=कर्म ; अखिलम्=पूर्णतया ; पार्थ=हे कुन्ती पुत्र ; ज्ञाने=ज्ञान में ; परिसमाप्यते=पर्यवसान को प्राप्त होते हैं ।

अनुवाद

हे परंतप ! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है, क्योंकि हे पार्थ ! सब कर्मों का पर्यवसान ज्ञान ही है ॥३३॥

तात्पर्य

सब यज्ञों का यही प्रयोजन है कि जीव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे वह भवरोग के दुःखों से मुक्त होकर अन्त में भक्तियोग के परायण हो जाय। तथापि, ये विविध यज्ञ क्रियायें रहस्यमयी हैं। यह रहस्य मनुष्य-मात्र के लिए जानने योग्य है। कर्ता की श्रद्धा के अनुपात में कभी-कभी यज्ञ विभिन्न रूप धारण करते हैं। जब यजन-कर्ता की श्रद्धा ज्ञान के स्तर पर पहुंच जाय, तो उसे ज्ञान-रहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ज्ञान-शून्य यज्ञ प्राकृत स्तर पर होते हैं, तथा कल्याण प्राप्ति में सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। यथार्थ ज्ञान का पर्यवसान कृष्णभावना है, जो ब्रह्म-विद्या की पराकाष्ठा है। ज्ञान के बिना यज्ञ लौकिक क्रिया-मात्र रह जाता है। परन्तु ज्ञान से युक्त हो जाने पर ऐसी सब क्रियाएँ दिव्यता प्राप्त कर लेती हैं। मतिभेद के आधार पर यज्ञ-क्रियाओं को कर्मकाण्ड (सकाम कर्म) अथवा ज्ञान काण्ड (सत्य-जिज्ञासा) कहा जाता है। अस्तु, वह यज्ञ श्रेष्ठ है, जिससे अन्त में ज्ञान की प्राप्ति हो जाय।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत्=उस ज्ञान को; विद्धि=जान; प्रणिपातेन=सद्गुरु की शरण में जाकर; परिप्रश्नेन=विनीत आज्ञानुवर्ती जिज्ञासा से; सेवया=सेवा द्वारा; उपदेक्ष्यन्ति=दीक्षित करेंगे; ते=तेरे को; ज्ञानम्=ज्ञान में; ज्ञानिनः=भगवत्प्राप्त; तत्त्वदर्शिनः=तत्त्वदर्शी।

अनुवाद

सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा के द्वारा उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले भगवत्प्राप्त महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥३४॥

तात्पर्य

भगवत्प्राप्ति का मार्ग निःसन्देह कठिन है। अतएव श्रीभगवान् का परामर्श है कि उनसे प्रारम्भ हुई शिष्य-परम्परा के प्रामाणिक आचार्य की शरण ग्रहण करे। शिष्य-परम्परा के इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने वाला यथार्थ गुरु नहीं हो सकता। श्रीभगवान् सबके आदि गुरु हैं, इसलिए उनकी परम्परा के आचार्य अपने शिष्य को यथार्थ भगवत्-तत्त्व का ज्ञान दे सकते हैं। मूर्ख पाखण्डियों की परिपाटी के अनुसार स्वनिर्मित पद्धति का अनुसरण करके कोई भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता। श्रीमद्-भागवत की प्रामाणिक उक्ति है—'धर्म हि साक्षाद्भगवत्प्रणीतम्' धर्म-पथ का निर्णय स्वयं श्रीभगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म अथवा शुष्क तर्क भगवत्प्राप्ति के पथ में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए यथार्थ सद्गुरु की शरण का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे, और मिथ्या अहंकार को त्यागकर भृत्य की भांति उनकी परिचर्या में अहर्निश निष्ठ रहे। भगवत्प्राप्त सद्गुरु का परितोष ही भगवत्प्राप्ति के पथ में द्रुत प्रगति करने की गुप्त-कुञ्जी है। जिज्ञासा तथा आज्ञानुगम, ये दोनों ज्ञान-प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन हैं। आज्ञा-पालन एवं सेवा-भाव के अभाव में विद्वान् सद्गुरु से की गयी तत्त्व-जिज्ञासा प्रभावोत्पादक नहीं होगी। शिष्य के लिए गुरु की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। जब वे देखते हैं कि शिष्य में यथार्थ पारमार्थिक जिज्ञासा का उदय हो गया है, तो कृपापूर्वक उसके हृदय-प्रांगण में यथार्थ ज्ञान का संचार कर देते हैं। इस श्लोक में अन्धानुकरण एवं अनर्गल जिज्ञासा, इन दोनों की निन्दा की गई है। गुरुदेव के शरणागत होकर उनसे श्रवण ही नहीं करे, वरन् आज्ञानुगमन, सेवा और जिज्ञासा के द्वारा उनसे विशद ज्ञान भी प्राप्त करे। यथार्थ सद्गुरु स्निग्ध शिष्य पर स्वभाव से ही अतिशय कृपा का

परिवर्षण करते हैं। अतएव जब शिष्य विनीत आज्ञानुवर्ती सेवा में अहो-रात्र तत्पर रहता है, तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यत्=जिसे; **ज्ञात्वा**=जानकर; **न**=कभी नहीं; **पुनः**=फिर; **मोहम्**=मोह को; **एवम्**=इस प्रकार; **यास्यसि**=प्राप्त होगा; **पाण्डव**=हे पाण्डुपुत्र; **येन**=जिससे; **भूतानि**=जीवों को; **अशेषाणि**=सम्पूर्ण; **द्रक्ष्यसि**=तू देखेगा; **आत्मनि**=परमात्मा में; **अथो**=अर्थात्; **मयि**=मुझ में।

अनुवाद

हे अर्जुन! उस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर तू फिर इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा और यह भी जान जायगा कि सब जीव मेरे भिन्न-अंश हैं और मेरे होने से मुझ में ही स्थित हैं ॥३५॥

तात्पर्य

यथार्थ तत्त्वज्ञानी से ज्ञान-प्राप्ति के परिणाम में इस प्रबोध की उद्भावना होती है कि सब जीव भगवान् श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। श्रीकृष्ण से सम्बन्धहीन अस्तित्व की धारणा को 'माया' कहते हैं (मा=नहीं, या=यह)। कतिपय मनुष्यों की धारणा में श्रीकृष्ण से हमें कोई प्रयोजन नहीं, श्रीकृष्ण ऐतिहासिक महापुरुष मात्र हैं तथा परतत्त्व निर्विशेष ब्रह्म है। भगवद्गीता के मत में यह निर्विशेष ब्रह्म यथार्थतः भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का प्रकाश-मात्र है। भगवान् श्रीकृष्ण सब कारणों के भी परम कारण हैं। ब्रह्म-संहिता में श्रीकृष्ण को स्पष्ट रूप में स्वयं भगवान् और समस्त कारणों का परम कारण कहा गया है। समस्त कोटि-कोटि अवतार भी उनके अंश-कला मात्र हैं। इसी भांति, जीवात्मा भी

समझना चाहिए कि ये मुक्ति-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। जैसा श्रीमद् भागवत में कथन है : 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' 'मुक्ति का अर्थ श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपने स्वरूप (कृष्ण भावनामृत) में स्थित हो जाना है।'

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

अपि चेत्=यदि ; असि=तू है ; पापेभ्यः=पापियों से ; सर्वेभ्यः= समस्त ; पापकृत्तमः=सर्वाधिक पापी ; सर्वम्=सम्पूर्ण ; ज्ञान प्लवेन= ज्ञान की तरणी से ; एव=निःसन्देह ; वृजिनम्=(पापकर्म रूप) दुः सागर से , संतरिष्यसि=पूर्णतया तर जायगा ।

अनुवाद

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञा रूपी तरणी द्वारा इस दुखसागर से अच्छी प्रकार तर जायगा ॥३६॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान इतना उत्तम है कि अविद्या-सागर में नित्य चल रहे जीवन-संघर्ष से मनुष्य का अविलम्ब उद्धार कर सकता है। इस संसार को अविद्या-सागर अथवा जलते हुए वन की उपमा दी जाती है। तैराक कितना भी दक्ष क्यों न हो, किन्तु सागर में जीवन के लिए घोर संघर्ष करना ही पड़ता है। जो साहसपूर्वक आगे बढ़कर सागर में डूबते हुए प्राणी का उन्मज्जन करे, वह परम त्राता (उद्धारक) है। श्रीभगवान् से प्राप्त पूर्ण ज्ञान साक्षात् मुक्ति-पथ है। कृष्णभावनारूपी भव सागर की तरणी अति सुगम है और साथ ही परम प्रभविष्णु (उदात्त) भी।

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥**

यथा=जैसे ; एधांसि=ईंधन को ; समिद्धः=प्रज्वलित ; अग्निः =अग्नि ; भस्मसात्=भस्म ; कुरुते=कर देती है ; अर्जुन=हे अर्जुन ; ज्ञानाग्निः=ज्ञान रूपी अग्नि ; सर्वकर्माणि=प्राकृत कर्मों के सब बन्धनों को ; भस्मसात्=भस्म ; कुरुते=करती है ; तथा=वैसे ही ।

अनुवाद

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भांति हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनों को भस्म करती है ॥३७॥

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मा, परमात्मा और उनके सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान को अग्नि की उपमा दी गई है । यह अग्नि अशुभ कर्मफल का ही दहन नहीं करती, वरन् शुभ कर्म-फलों को भी भस्मसात् कर देती है । कर्म के अनेक फल हैं, किन्तु जीव के स्वरूप का ज्ञान इन सभी को भस्मसात् कर देता है । पूर्ण ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्म-बन्धन भस्म हो जाते हैं । वेदों में कहा है—'उभे उभेवैषते तरत्यमृतः साधवसघूनी' अर्थात्, 'शुभ तथा अशुभ—दोनों ही प्रकार के कर्म-बन्धनों से ज्ञानी की मुक्ति हो जाती है ।'

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥**

न=नहीं ; हि=निस्सन्देह ; ज्ञानेन=ज्ञान के ; सदृशम्=समान ; पवित्रम्=पावन ; इह=इस संसार में ; विद्यते=है ; तत्=उसका ; स्वयं=अपने आप ; योग=भक्ति के ; संसिद्धः=सिद्ध होने पर ; कालेन =यथा समय ; आत्मनि=अन्तर में ; विन्दति=आस्वादन करता है :

अनुवाद

इस संसार में ज्ञान के समान उदात्त (प्रभविष्णु) और पवित्र कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान सम्पूर्ण योग का परिपक्व फल है। इसे प्राप्त हुआ मनुष्य यथासमय अपने आत्म-स्वरूप का आस्वादन करता है ॥३८॥

तात्पर्य

ज्ञान का तात्पर्य पारमार्थिक बोध से है। अतः ज्ञान के सदृश उदात्त एवं पावन कुछ भी नहीं है। हमारे भवबन्धन का कारण अज्ञान है, जबकि ज्ञान मोक्ष का हेतु है। यह ज्ञान भक्तियोग का परिपक्व फल है। अतएव ज्ञानवान् को शान्ति का अन्वेषण अन्यत्र नहीं करना पड़ता, क्योंकि उसे अपने में ही शान्ति का आस्वादन सुलभ हो जाता है। अभिप्राय यह है कि इस [illegible] एवं शान्ति का पर्यवसान कृष्णभावना है। यही भगवद्गीता के [illegible] य है।

कृष्णभावनाभावित कर्म करने से ही वह परम सिद्धि को प्राप्त हो जायगा। श्रद्धा की उद्भावना भक्ति-योग एवं 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'—इस महामन्त्र के कीर्तन से होती है, जो सम्पूर्ण विषय-वासना से चित्त परिमार्जन कर देता है। इसके अतिरिक्त, इन्द्रिय-निग्रह भी अनिवार्य है। श्रीकृष्ण में श्रद्धा रखने वाला जितेन्द्रिय व्यक्ति अविलम्ब कृष्णभावना-ज्ञान की कृतार्थता को प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४०।।

अज्ञः=शास्त्रों के ज्ञान से शून्य मूर्ख ; च=तथा ; अश्रद्दधानः= शास्त्र में श्रद्धाशून्य ; च=भी ; संशयात्मा=शंकाग्रस्त मनुष्य ; विनश्यति फिर गिर जाता है ; न=न ; अयम्=यह ; लोकः=ससार ; अस्ति= है ; न=न ; परः=भावी जीवन ; न=न ; सुखम्=सुख ; संशय= संशयी ; आत्मनः=मनुष्य के लिए।

अनुवाद

परन्तु सद्शास्त्रों के प्रति संशय युक्त अज्ञानी और अश्रद्धालु मनुष्यों को भगवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती। सशयात्मा के लिए तो यह लोक अथवा परलोक, दोनों ही सुखदायक नही हैं ।।४०।।

तात्पर्य

विविध प्रामाणिक एवं मान्य शास्त्रों में भगवद्गीता सर्वोत्तम है। दुर्भाग्यवश, नर-पशुओं में शास्त्रों के ज्ञान अथवा उनके प्रति श्रद्धा भाव का अभाव रहता है, यहां तक कि बहुत से शास्त्रवेत्ता अथवा शास्त्रोद्धरण करने में समर्थ मनुष्य भी वस्तुतः इनमें विश्वास नही रखते। यद्यपि कुछ अन्य व्यक्ति भगवद्गीता आदि शास्त्रों मे विश्वास रखते हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण मे विश्वास का उनमें भी अभाव रहता है और न ही

वे उनकी उपासना करते। ऐसे व्यक्तियों की कृष्णभावनामृत में कोई परिनिष्ठा नहीं हो सकती। वरन्, उनका अध:पतन ही होता है। इन सब में, श्रद्धाशून्य संशयात्मा तो कुछ भी पारमार्थिक प्रगति नहीं करते। श्रीभगवान् और उनके वचनामृत में श्रद्धा न रखने वालों का इस लोक अथवा परलोक में कभी कल्याण नहीं होता। उनके लिए कुछ भी सुख नहीं है। अतएव श्रद्धाभाव से शास्त्र-सिद्धान्तों का अनुगमन करता हुआ ज्ञान प्राप्त करे। पारमार्थिक वोध रूप शुद्ध सत्त्व के स्तर पर आरूढ़ होने में एकमात्र यह ज्ञान ही सहायक सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि संशयात्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। अतएव मनुष्य मात्र को चाहिये कि शिष्य परम्परा के महान् आचार्यवृन्द के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर अपने जीवन को कृतार्थ एवं सार्थक करे।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

योग=कर्मयोगमय भक्ति द्वारा ; संन्यस्त=त्यागकर ; कर्माणम्=कर्मों को ; ज्ञान=तत्त्ववोध द्वारा ; संछिन्न=नष्ट हो गये हैं ; संशयम्=संशय ; आत्मवन्तम्=आत्म परायण ; न=नहीं ; कर्माणि=कर्म ; निवघ्नन्ति=वांधते ; धनंजय=हे ऐश्वर्य-विजयी अर्जुन।

अनुवाद

इसलिए हे धनंजय ! जिसने कर्मफल का त्याग (श्रीभगवान् को अर्पण कर दिया है और विवेक द्वारा सब संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे आत्म-परायण पुरुष को कर्म नहीं बांधते ॥४१॥

तात्पर्य

जो मनुष्य भगवद्गीता की शिक्षा का उसी रूप में अनुसरण करता है, जैसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका प्रवचन किया, वह ज्ञान की कृपा से समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनाभावित होने

के कारण उसे श्रीभगवान्के भिन्न-अंश के रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव वह निस्सन्देह कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात्=अतएव; अज्ञानसंभूतम्=अज्ञान से उत्पन्न हुए; हृत्स्थम्=हृदय में स्थित; ज्ञान=तत्त्वबोध रूप; असिना=शस्त्र से; आत्मनः=अपने; छित्त्वा=काट कर; एनम्=इस; संशयम्=संशय को; योगम्=योग में; आतिष्ठ=स्थित हुआ; उत्तिष्ठ=युद्ध के लिए खड़ा हो; भारत=हे भरतवंशी अर्जुन।

अनुवाद

अतएव हे भरतवंशी अर्जुन! अपने हृदय के अज्ञान से उत्पन्न हुए संशयों का ज्ञान रूप शस्त्र से छेदन कर डाल और योग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा ॥४२॥

तात्पर्य

इस अध्याय में उपदिष्ट योग मार्ग को 'सनातन योग' अर्थात् जीवात्मा की नित्य क्रिया कहा जाता है। इस योग में दो प्रकार के यज्ञमय कर्म किए जाते हैं—स्वत्व त्यागमय द्रव्य यज्ञ एवं शुद्ध आत्मज्ञान-यज्ञ। यदि द्रव्ययज्ञ को भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से नही किया जाय तो वह प्राकृत यज्ञ बन जायगा। परन्तु इन्ही यज्ञो को आध्यात्मिक लक्ष्य से अथवा भक्तिभाव से किया जाता है तो ये सर्वाङ्गीण पूर्ण हो जाते हैं। आध्यात्मिक क्रियाओं की भी दो कोटियां हैं—स्वरूप-बोध एवं भगवत्-तत्त्व प्रबोध। गीता के यथार्थ पथ का अनुगामी ज्ञान के इन दोनों वर्गों को बड़ी सुगमता से आत्मसात् कर लेता है। जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है—इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होती। यह ज्ञान परम कल्याणकारी है, क्योंकि इसके ज्ञाता को श्री

भगवान् की दिव्य लीला के तत्त्व का सहज ही बोध हो जाता है। अध्याय के आदि में, श्रीभगवान् ने अपनी अलौकिक अतिमानवीय लीला का वर्णन किया है। जो गीतोपदेश को नहीं समझ सकता, वह अश्रद्धालु है और श्रीभगवान् से प्राप्त आंशिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहा है। जो मनुष्य इस शिक्षा की प्राप्ति के बाद भी श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय यथार्थ स्वरूप को हृदयङ्गम नहीं कर सकता, वह निस्सन्देह प्रथम श्रेणी का मूढ है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को शनैः-शनै स्वीकार करने से ही अज्ञान का अन्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्ययज्ञ, गृहस्थ पालन रूप यज्ञ, इन्द्रिय-निग्रह यज्ञ, योगाभ्यास यज्ञ, तपयज्ञ, द्रव्य-यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म के पालन आदि के द्वारा उद्भावित होती हैं। 'यज्ञ' कहलाने वाली ये सभी क्रियाएं नियत कर्मों पर आधारित हैं। परन्तु इन सब का सार आत्मतत्त्व है। तत्सम्बन्धी इच्छा रखने वाला ही भगवद्गीता का यथार्थ शिष्य है, किन्तु श्रीकृष्ण के प्रामाण्य में संशय करने वाले का अवश्य पतन हो जाता है। अतः भगवद्गीता अथवा अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययन यथार्थ सद्गुरु के आश्रय में सेवामय प्रपन्नभाव से ही करना योग्य है। चिरन्तनकाल से चली आ रही शिष्य परम्परा के पद पर आसीन गुरु ही प्रामाणिक हैं। वे श्रीभगवान् की उस शिक्षा से किञ्चिन्मात्र भी च्युत नहीं होते, जिसका प्रवचन उन्होंने करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्यदेव के प्रति किया था। सूर्य से ही 'गीतोपदेश' इस धराधाम पर अवतरित हुआ। अतएव स्वयं भगवद्गीता में व्यक्त हुए भगवद्गीता के पथ का अनुसरण करते हुए उन स्वार्थ-परायण व्यक्तियों से नित्य सजग रहे जो दूसरों को सत्मार्ग से भ्रष्ट करते हैं। श्रीभगवान् निश्चित रूप से परम पुरुषोत्तम हैं तथा उनका लीला-विलास अप्राकृत है, जो इस सत्य को हृदयङ्गम कर लेता है, वह गीताध्ययन के उपक्रम से ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पंचमोऽध्यायः



कर्मसंन्यासयोग

(कृष्णभावनाभावित कर्म)

अर्जुन उवाच ।
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा ; संन्यासम्=संन्यास को ; कर्मणाम्=सम्पूर्ण कर्मों के; कृष्ण=हे श्रीकृष्ण , पुनः=फिर , योगम्=भक्तियोग (की); च=भी ; शंससि=आप स्तुति कर रहे हैं ; यत्=जो ; श्रेयः=कल्याणकारी हो ; एतयोः=इन दोनों में ; एकम्=एक ; तत्=वह , मे=मेरे लिए ; ब्रूहि=कहिये ; सुनिश्चितम्=निश्चित ।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास की और फिर भक्ति-भावित कर्म की प्रशंसा करते हैं । इसलिये अब कृपापूर्वक इन दोनों में से जो एक निश्चित किया हुआ कल्याणकारी साधन हो, वह मेरे लिये कहिये ॥१॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने भगवद्गीता के इस पंचम अध्याय में भक्तिभावित कर्म को शुष्क (स्वारस्यशून्य) मनोधर्म से उत्तम कहा है । भक्ति-पथ अधिक सुगम है, क्योंकि दिव्य स्वरूपा होने के कारण वह साधक को कर्म-बन्धन से मुक्त कर देती है । द्वितीय अध्याय में जीवात्मा एवं उसके प्राकृत-देह-बन्धन के प्राथमिक ज्ञान का वर्णन किया गया । 'बुद्धियोग' अर्थात् 'भक्तियोग' द्वारा इस भवबन्धन से मुक्त होने की पद्धति का भी वहां निरूपण है । तृतीय अध्याय में कहा है कि ज्ञानी के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता । चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि ज्ञान सम्पूर्ण यज्ञों का पर्यवसान है । तथापि अध्याय के अन्त में श्रीभगवान् ने अर्जुन को आज्ञा दी कि वह सचेत हो जाय और पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर युद्ध करे । इस प्रकार भक्तिभावित कर्म तथा ज्ञान-युक्त अकर्म की महत्ता पर एक साथ बल देकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को द्विविधा में डाल कर उसके संकल्प को सम्भ्रमित कर दिया । अर्जुन समझता है कि ज्ञानमय संन्यासका अर्थ इन्द्रिय क्रिया के रूप में किए जाने वाले सब कर्मों का परित्याग है । परन्तु यदि भक्तियोग में कर्म करना है तो कर्म त्याग कैसे होगा? भाव यह है कि अर्जुन के विचार से संन्यास कर्म-सम्पादन से सर्वथा मुक्त होना चाहिये, क्योंकि उसे कर्म तथा ज्ञान असंगत प्रतीत होते हैं । अर्जुन की इस जिज्ञासा से स्पष्ट है कि वह इस तथ्य को हृदयङ्गम करने में असफल रहा है कि पूर्ण ज्ञान से युक्त किया गया कर्म बन्धनकारी न होने से अकर्म के तुल्य ही है । अतएव उसकी जिज्ञासा है कि आत्म-कल्याण के लिए वह पूर्णतया कर्म-त्याग कर दे अथवा पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर कर्म करे ।

श्रीभगवानुवाच ।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; संन्यासः=कर्मों का संन्यास; कर्मयोगः=भक्तिभावित कर्म; च=और; निःश्रेयस्करौ= कल्याणकारी हैं; =उभौ=दोनों ही; तयोः=उन दोनों में; तु=किन्तु; कर्मसंन्यासात्=सकाम कर्म को त्यागने की तुलना में; कर्मयोगः=भक्ति-भावित कर्म; विशिष्यते=अधिक उत्तम है ।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, कर्मों का-संन्यास और भक्तिभावित कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं । परन्तु इन दोनों में भी भक्तिभावित कर्म-योग कर्म-संन्यास से श्रेष्ठ है ।।२।।

तात्पर्य

इन्द्रिय-तृप्ति के लिए की जाने वाली समस्त सकाम क्रियायें भव-बन्धन की हेतु हैं । जब तक जीव शारीरिक सुख का अभिवर्धन करने के उद्देश्य से क्रियाओं में प्रवृत्त है, तब तक विविध योनियों में उसका देहान्तर मिट नहीं सकता । इस प्रकार भव बन्धन सदा बना रहेगा । यह श्रीमद्-भागवत से भी प्रमाणित है :—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म: यदिन्द्रिय-प्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥
पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीर-बन्धः ॥
एवं मन. कर्मवशं प्रयुङ्क्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥

'साधारण लोग इन्द्रिय तृप्ति के लिये उन्मत्त हो रहे हैं । वे नहीं जानते कि यह क्लेशमयी देह उनके पूर्वकृत सकाम कर्मों का ही फल

नश्वर होने के साथ ही यह नित्य विविध प्रकार से कष्ट देती है। अतः इन्द्रिय तृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नहीं है। सकाम कर्म-तत्त्व की जिज्ञासा न करने वाले को जीवन में परास्त समझा जाता है,क्योंकि जब तक जीव इन्द्रिय-तृप्ति में आसक्त रहता है, तब तक उसे पुनःपुनः देहान्तर की प्राप्ति होती ही रहती है। मनके सकाम कर्मों में आसक्त और अज्ञान होने पर भी श्रीवासुदेव की भक्ति में प्रीति-भाव का वर्धन करता ही रहे, तभी शरीर बन्धन से मुक्ति सुलभ होगी।" (श्रीमद्भागवत ५. ५. ४-६)

अतः केवल ज्ञान (देह से अतीत आत्मतत्व का बोध) मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। जीवात्मा के स्वरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा भव-बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सकाम कर्म के समान नहीं होता। ज्ञानमय कर्म तो वस्तुतः यथार्थ ज्ञान में प्रगति को बलिष्ठ करता है। कृष्णभावना के अभाव में केवल सकाम कर्मों का संन्यास बद्ध-जीव के हृदय को यथार्थ रूप में परिमार्जित कर पाता और जब तक हृदयमार्जन नहीं हो जाता, तब तक सकाम कर्म बनते ही रहते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म साधक को कर्म-बन्धन से स्वतः मुक्त कर देता है जिससे उसे प्राकृत स्तर पर फिर नहीं उतरना पड़ता। अतएव कृष्णभावनाभावित कर्म संन्यास से सदा उत्तम है, क्योंकि संन्यास में पतन का भय नित्य बना रहता है। कृष्णभावना-शून्य वैराग्य अपूर्ण है, जैसा श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'भक्ति-रसामृतसिन्धु' में प्रमाणित किया है :—

प्रापंचिकतया बुद्धया हरि-सम्बन्धि-वस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

मुमुक्षुओं द्वारा श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को प्रापञ्चिक समझकर त्याग देना अपूर्ण वैराग्य कहा जाता है।' वैराग्य पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब वह इस ज्ञान से युक्त हो कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु श्री भगवान् की ही है, अतः किसी को किसी भी वस्तु पर आधि-पत्य का भाव नहीं रखना चाहिये। यह वस्तुतः समझ ले कि अपना कुछ भी नहीं है। इस निष्किञ्चन अवस्था में वैराग्य का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? जो यह जानता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, वह नित्य

वैराग्यवान् है। सब कुछ श्रीकृष्ण का है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को श्रीकृष्ण-सेवा में ही लगाना चाहिए। यह शुद्ध कृष्णभावनाभावित कर्म मायावादी संन्यासियों के उत्कट से उत्कट कृत्रिम वैराग्य से कहीं अधिक उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञेयः=जानना चाहिए; सः=उसे; नित्य=सदा; संन्यासी=संन्यासी; यः=जो; न=नहीं; द्वेष्टि=द्वेष करता; न=नहीं; कांक्षति=इच्छा करता; निर्द्वन्द्वः=द्वन्द्वों से मुक्त; हि=निस्सन्देह; महाबाहो=हे महाबाहो; सुखम्=सुखपूर्वक; बन्धात्=बन्धन से; प्रमुच्यते=मुक्त हो जाता है।

अनुवाद

जो पुरुष न तो कर्मफल से द्वेष करता और न कर्मफल की इच्छा करता, उसे नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए, क्योंकि हे महाबाहो! ऐसा निर्द्वन्द्व मनुष्य सुखपूर्वक भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥३॥

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है, क्योंकि उसमें फल के प्रति द्वेष अथवा कामना का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अलौकिक भक्तियोग में तत्पर हुए ऐसे संन्यासी को पूर्ण ज्ञानी जानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित अपने स्वरूप को जानता है। वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण अंशी हैं और वह उनका भिन्नांश है। यह ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि इसमें यह सत्य स्पष्ट झलकता है कि चिद्-गुणों में श्रीकृष्ण और जीवों में अभेद है और परिमाण में भेद है। श्रीकृष्ण से जीव के ऐक्य की धारणा भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि अंश-अंशी के समकक्ष कभी नहीं हो सकता। जीव चिद्गुणों में श्रीभगवान् से अभिन्न है, किन्तु परिमाण में भिन्न है, इस यथार्थ ज्ञान के द्वारा आकांक्षा और

शोक से मुक्त आत्म-तुष्टि की प्राप्ति होती है। ऐसे ज्ञानी के चित्त में द्वन्द्वों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, क्योंकि वह जो कुछ भी करता है, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही करता है। द्वन्द्वातीत होने से इस प्राकृत संसार में रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त है।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४॥

सांख्य=प्राकृत संसार का तत्त्वज्ञान; **योगौ**=भक्तिभावित कर्म को; **पृथक्**=भिन्न; **बालाः**=अल्पज्ञ; **प्रवदन्ति**=कहते हैं; **न**=नहीं; **पण्डिताः**=विद्वान्; **एकम्**=एक में; **अपि**=भी; **आस्थितः**=व्यवस्थित हुआ; **सम्यक्**=भलीभांति; **उभयोः**=दोनों का; **विन्दते**=प्राप्त होता है; **फलम्**=फल।

अनुवाद

अज्ञानी ही भक्ति और भक्तिभावित कर्मयोग को सांख्य योग से भिन्न कहते हैं। यथार्थ विद्वानों का कहना है कि इनमें से एक मार्ग का भी भलीभांति अनुसरण करने वाला दोनों का फल प्राप्त कर लेता है ।।४।।

तात्पर्य

सांख्य का उद्देश्य जीवन की आत्मा को प्राप्त करना है। परमात्मा विष्णु ही प्राकृत संसार के आत्मा हैं। भक्तियोग का अर्थ उन परमात्मा की सेवा करना ही है। परमार्थ की एक पद्धति यह है कि वृक्ष के मूल का अन्वेषण कर जल से उसका अभिसिञ्चन करे। सांख्य दर्शन का यथार्थ विद्यार्थी जगत् के मूल—श्रीविष्णु को जानकर पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर उनकी सेवा में प्रवृत्त हो जाता है। सारांश में, दोनों पद्धतियों में सर्वथा अभेद है, क्योंकि दोनों ही के आराध्य श्रीविष्णु हैं। अतएव परम लक्ष्य को न जानने वाले मनुष्य ही सांख्य तथा कर्मयोग के प्रयोजन

में भेद करते हैं। यथार्थ पण्डितजन इन पृथक्-पृथक् पद्धतियों के समीकृत लक्ष्य को जानते हैं।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

यत्=जो; सांख्यैः=सांख्य दर्शन द्वारा; प्राप्यते=प्राप्त होता है; स्थानम्=स्थान; तत्=वह; योगैः=भक्ति योग से; अपि=भी; गम्यते=प्राप्त होता है; एकम्=एक; सांख्यम्=सांख्य; च=तथा; योगम्=भक्तिभावित कर्म; च=तथा; यः=जो; पश्यति=देखता है; सः=वह; पश्यति=यथार्थ में देखता है।

अनुवाद

जो यह जानता है कि संन्यास से प्राप्त होने वाला स्थान भक्ति-भावित कर्म से भी प्राप्य है और इस कारण जो कर्मयोग तथा संन्यास पथ को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥५॥

तात्पर्य

दार्शनिक गवेषणा का यथार्थ प्रयोजन जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति करना है। जीवन का परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही होने से दोनों पद्धतियों से एक ही तत्त्व की उपलब्धि होती है। सांख्य दर्शन से यह निर्णय होता है कि जीवात्मा प्राकृत जगत् का नहीं, वरन् अंशी श्रीभगवान् का भिन्नांश है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का प्राकृत जगत् से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, उसके कर्म श्रीभगवान् से ही सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, तो अपने इसी स्वरूप में रहता है। सांख्यरूपी साधन में प्रकृति से अनासक्त होना होता है और भक्ति-योग की पद्धति में श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ कर्मों में आसक्ति का अनुशीलन करना है। वस्तुतः, दोनों पद्धतियां एक ही हैं, यद्यपि बाह्य दृष्टि से एक पद्धति में अनासक्ति का अभ्यास सन्निहित प्रतीत होता है तथा दूसरी में

आसक्ति का। प्रकृति से अनासक्ति तथा श्रीकृष्ण में आसक्ति एक ही तत्त्व है। जो इस दृष्टि से युक्त है, वही यथार्थ तत्त्वदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

संन्यासः=संन्यास; तु=परन्तु; महाबाहो=हे महाबाहो; दुःखम्=दुःखदायक हैं; आप्तुम्=प्राप्त होना; अयोगतः=भक्तियोग के अभाव में; योगयुक्तः=भक्त; मुनिः=चिन्तक; ब्रह्म=परतत्त्व को; न=विना; चिरेण=विलम्ब; अधिगच्छति=प्राप्त हो जाता है।

अनुवाद

भक्तियोग के विना केवल कर्म-संन्यास द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु भक्तिभावित कर्म से शुद्ध हुए ऋषिजन श्रीभगवान् को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥६॥

तात्पर्य

संन्यासी दो प्रकार के होते हैं, मायावादी तथा वैष्णव। मायावादी सांख्य दर्शन के स्वाध्याय में प्रवृत्त रहते हैं तथा वैष्णव संन्यासी वेदान्त सूत्र के यथार्थ भाष्य—श्रीमद्भागवत-दर्शन का अध्ययन करते हैं। मायावादी संन्यासी वेदान्त-सूत्र का भी अध्ययन करते हैं, परन्तु वे शंकराचार्य द्वारा रचित अपने सम्प्रदाय के शारीरिक भाष्य का ही उपयोग करते हैं। दूसरी ओर, भागवत धर्म के अनुयायी पांचरात्रि की विधि के अनुसार भगवद्भक्ति में संलग्न रहते हैं। अतः वैष्णव संन्यासी चिन्मय भगवद्भक्ति में अनेक प्रकार से तत्पर रहते हैं। वैष्णव संन्यासियों को सांसारिक क्रियाओं से किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं, तथापि भगवद्भक्ति के सम्पादनार्थ वे विविध क्रियाएं करते हैं; किन्तु सांख्य और वेदान्त के स्वाध्याय एवं मनोधर्म के परायण मायावादी संन्यासी भगवद्भक्ति का आस्वादन नहीं कर पाते। उनका अध्ययन अत्यन्त श्रमावह हो जाता है, इसलिए कभी-कभी ब्रह्म विषयक मनोधर्मी से श्रान्त, भ्रान्त

एवं क्लान्त होकर समुचित बोध के विना ही वे श्रीमद्भागवत का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। इस कारण उनके लिए श्रीमद्भागवत का अध्ययन भी क्लेशप्रद है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क मनोधर्म तथा वाग्चातुर्य उनके लिए सर्वथा निरर्थक सिद्ध होता है। दूसरी ओर, भगवद्भक्ति-परायण वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्त्तव्यों के पालन में सुखानुभूति करते हैं और यह भी निश्चित रहता है कि अन्त में उन्हें भगवद्धाम की प्राप्ति हो जायगी। मायावादी संन्यासी यदा-कदा आत्मतत्त्व के मार्ग से भ्रष्ट होकर समाज सेवा, परोपकार आदि प्राकृत क्रियाओं में ही पुनः प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः सारांश यह है कि कृष्णभावनाभावितभक्त केवल ब्रह्मपरक मनोधर्म करने वाले संन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि इन्हें भी अनेक जन्मान्तरों के पश्चात् कृष्णभावनामृत की प्राप्ति हो जाती है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

योगयुक्तः=भक्तियोग में तत्पर; विशुद्धात्मा=शुद्ध अन्त.करण वाला; विजितात्मा=आत्म-संयमी; जितेन्द्रियः=इन्द्रिय-विजयी; सर्वभूत-आत्मभूत-आत्मा=सब जीवों के प्रति दयामय; कुर्वन् अपि=कर्म करता हुआ भी; न=नहीं; लिप्यते=बंधता।

अनुवाद

जो शुद्ध अन्त.करण वाला, आत्मसंयमी तथा जितेन्द्रिय पुरुष भक्तिभाव से कर्म करता है, वह सब प्राणियों को प्रिय होता है उसे भी सब प्राणी प्रिय होते हैं। नित्य कर्म करते हुए भी वह नहीं बंधता ॥७॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित के साधन से मुक्ति-पथ का यात्री प्राणी मात्र का अतिशय प्रेम-पात्र है और उसे भी प्राणी-मात्र प्राणाधिक प्रिय होता

है। इसमें हेतु है उसकी कृष्णभावना। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्राणी को श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रहित नहीं समझ सकता, उसी भांति जैसे वृक्ष के पल्लव शाखा आदि उससे पृथक् नहीं होते। वह भलीभांति जानता है कि तरु-मूल को जल द्वारा सींचने से जल सम्पूर्ण पल्लवों और शाखाओं में वितरित हो जायगा अथवा भोजन द्वारा उदर-पूर्ति करने से सम्पूर्ण शरीर में शक्ति का संचार स्वयमेव हो जायगा। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला प्राणी-मात्र की सेवा में निष्ठ रहता है, इसलिए सर्वप्रिय हो जाता है। वह शुद्ध-मति भी है, क्योंकि उसके कार्य से सभी का परितोषण होता है। शुद्ध-मति के प्रभाव से उसका चित्त पूर्णतया संयमित रहता है, जिसके परिणामतः उसकी इन्द्रियां भी निगृहीत हो जाती हैं। उसका चित्त सदा श्रीकृष्ण पर ही केन्द्रित रहता है। अतः उसके लिए श्रीकृष्ण से विचलित होने की कोई सम्भावना नहीं और न ही उसकी इन्द्रियां भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य विषय में प्रवृत्त हो सकतीं। श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रहित विषयों का श्रवण उसे अप्रिय होता है; वह ऐसा कोई पदार्थ भी खाना नहीं चाहता, जो श्रीकृष्ण को अर्पित न किया गया हो, श्रीकृष्ण के सम्बन्ध बिना वह कहीं जाना भी नहीं चाहता। इस प्रकार उसकी इन्द्रियां वश में रहती हैं। ऐसा जितेन्द्रिय पुरुष किसी का अपराध नहीं कर सकता। इस पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तब अर्जुन ने (युद्ध में) शत्रु पर प्रत्याघात क्यों किया? क्या वह कृष्णभावनाभावित नहीं था? वस्तुतः अर्जुन तो केवल बाह्यरूप से आक्रमण कर रहा था, क्योंकि जैसा द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है, आत्मा की अवध्यता के कारण युद्ध-स्थल में इकट्ठे हुए सब योद्धाओं का पृथक् स्वरूप बना रहेगा। अतएव आत्मा की दृष्टि से, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में, किसी की भी मृत्यु नहीं हुई। श्रीकृष्ण के (जो वहां स्वयं विराजमान थे) आज्ञानुसार, केवल उनके देहरूपी परिधान को बदला गया। कुरुक्षेत्र में युद्ध करते हुए भी अर्जुन वस्तुतः युद्ध नहीं कर रहा था। उसने तो बस कृष्णभावना से पूर्णतया भावित होकर श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन मात्र किया। ऐसे पुरुष को कभी कर्म-बन्धन नहीं होता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

न=नहीं; एव=निःसन्देह; किंचित्=कुछ भी; करोमि=मैं करता हूं; इति=इस प्रकार; युक्तः=बुद्धि योग से युक्त; मन्येत= मानता है; तत्त्ववित्=तत्त्ववेत्ता; पश्यन्=देखता हुआ; शृण्वन्= सुनता हुआ; स्पृशन्=स्पर्श करता हुआ; जिघ्रन्=सूंघता हुआ; अश्नन् =खाता हुआ; गच्छन्=गमन करता हुआ; स्वपन्=स्वप्न देखता हुआ; श्वसन्=श्वास लेता हुआ; प्रलपन्=वार्त्ता करता हुआ; विसृजन् =त्यागता हुआ; गृह्णन्=ग्रहण करता हुआ; उन्मिषन्=खोलता हुआ; निमिषन्=बन्द करता हुआ; अपि=भी; इन्द्रियाणि=इन्द्रियां; इन्द्रियार्थेषु=इन्द्रिय-तृप्ति में; वर्तन्ते=प्रवृत्त हैं; इति=इस प्रकार; धारयन्=समझाता हुआ।

अनुवाद

बुद्धि योग से युक्त हुआ पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, जाते, सोते तथा श्वास लेने में प्रवृत्त होते हुये भी अपने अन्तर में यही मानता है कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता, क्योंकि बोलते, विसर्जन तथा ग्रहण करते, और नेत्रों को खोलते-मीचते हुए भी वह सदा जानता है कि इन्द्रियां ही अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं और वह उनसे पृथक् है ॥८-९॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महापुरुष का जीवन पवित्र होता है। इसलिए कर्त्ता, कर्म, अधिष्ठान, चेष्टा तथा दैव—इन पांच प्रकार के निमित्त-उपादान कारणों पर आधारित किसी भी कर्म से उसका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। इसका कारण यह है कि वह श्रीकृष्ण के दिव्य भक्तियोग में तत्पर है। यद्यपि वह देह तथा इन्द्रियों से कर्म करता प्रतीत होता है,

परन्तु उसे अपने यथार्थ स्वरूप—'भगवद्भक्ति-परायणता' का सदा बोध रहता है। मोहावस्था में इन्द्रियां इन्द्रिय-तृप्ति में ही तत्पर रहती हैं, जबकि कृष्णभावनामृत में वे श्रीकृष्ण की तुष्टि में ही प्रवृत्त रहती हैं। अतः इन्द्रिय-विषय में संलग्न प्रतीत होने पर भी कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्यमुक्त है। अवलोकन, श्रवण, वार्ता, परित्याग आदि कर्मों के लिए इन्द्रिय-क्रियाएं की जाती हैं। कृष्णभावनाभावित पुरुष इन्द्रिय-क्रियाओं से कदापि प्रभावित नहीं होता। वह भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि यह जानता है कि वह श्रीभगवान् का नित्य दास है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि=भगवान् श्रीकृष्ण में; **आधाय**=समर्पित कर; **कर्माणि**=सम्पूर्ण कर्म; **संगम्**=आसक्ति को; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **करोति**=करता है; **यः**=जो; **लिप्यते**=लिपायमान होता; **न**=नहीं; **सः**=वह; **पापेन**=पाप से; **पद्म पत्रम्**=कमल के पत्ते के; **इव**=समान; **अम्भसा**=जल से।

अनुवाद

श्रीभगवान् में कर्म फल का समर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर स्वधर्म का आचरण करने वाला पाप से लिपायमान नहीं होता, उसी भांति जैसे जल में रहने पर भी कमल-पत्र जल का स्पर्श नहीं करता ॥१०॥

तात्पर्य

यहाँ 'ब्रह्मणि' का अर्थ कृष्णभावनामृत है। प्राकृत जगत् प्रकृति के त्रिविध गुणों अर्थात् 'प्रधान' की अभिव्यक्ति है। वेद-मन्त्र 'सर्वमेतद् ब्रह्म तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' तथा भगवद्गीता के वचन 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' से अभिव्यञ्जित होता है कि प्राकृत जगत् की प्रत्येक

वस्तु ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और यद्यपि कार्यों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होती है, किन्तु वे कारणों से अभिन्न हैं। 'ईशोपनिषद्' में कथन है कि सब कुछ परमब्रह्म श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है; उन्हीं का है। जो यह भली भांति जान जाता है कि सब श्रीकृष्ण का है, वे सर्व पदार्थों के अधिपति है और इस कारण प्रत्येक वस्तु भगवत्-सेवा में ही नियोजित है, उसका स्वाभाविक रूप से शुभ-अशुभ कर्म-फलो से कोई प्रयोजन नही रहता। श्रीभगवान् द्वारा प्रदान किया गया प्राकृत शरीर को भी किसी विशेष सेवा कार्य के लिए कृष्णभावनाभृत में संलग्न किया जा सकता है। ऐसा करने वाला पापपंक से अतीत हो जाता है, ठीक उसी भांति जैसे जल मे स्थित होने पर भी कमल-पत्र जल से लिपायमान नही होता। गीता में ही श्रीभगवान् ने कहा है—"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य:" 'सम्पूर्ण कर्मों को मेरे प्रति समर्पण कर।' साराश यह है कि कृष्णभावना शून्य व्यक्ति प्राकृत देह और इन्द्रियों को अपना स्वरूप समझ कर कर्म करता है, जबकि कृष्णभावनाभावित इस ज्ञान से युक्त होकर कर्म करता है कि यह देह श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, अतः इसे श्रीकृष्ण-सेवा के ही परायण होना चाहिए।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन=शरीर से ; मनसा=मन द्वारा ; बुद्ध्या=बुद्धि से ; केवलैः =शुद्ध ; इन्द्रियैः=इन्द्रियों से ; अपि=भी ; योगिनः=कृष्णभावना-भावित भक्त ; कर्म=कर्म ; कुर्वन्ति=करते हैं ; संगम्=आसक्ति को ; त्यक्त्वा=त्यागकर ; आत्म=अन्त.करण को ; शुद्धये=शुद्धि के लिए।

अनुवाद

योगीजन आसक्ति को त्यागकर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मशुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं ॥११॥

तात्पर्य

कृष्ण-इन्द्रिय-तृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा किया गया कृष्णभावनाभावित कर्म प्राकृत विकारों से मुक्त होता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष की क्रियाओं का कोई लौकिक फल नहीं होता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने पर सदाचरण सुगमता से सम्पन्न हो जाता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनाभावित कर्म (श्रीकृष्ण-सेवा) करने वाला महात्मा प्राकृत क्रियाओं में संलग्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में इस प्राकृत जगत् में ही जीवन्मुक्त है। उसमें मिथ्या अहंकार नहीं रहता। इस प्राकृत देह में अहंता-ममता भी वह नहीं रखता। वह जानता है कि स्वरूप से वह इस देह से भिन्न है और यह देह भी उसकी नहीं है। उसके तथा उसकी देह के श्रीकृष्ण ही एकमात्र स्वामी हैं। देह, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन, धन, आदि सम्पूर्ण स्वत्व को श्रीकृष्ण-सेवा में समर्पित करने पर वह तत्क्षण श्रीकृष्ण से युक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण में तन्मय हुआ पुरुष देहात्मत्वकारी मिथ्या अहंकार से मुक्त रहता है। यही कृष्णभावना की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः=भक्तियोगी; **कर्मफलम्**=सम्पूर्ण कर्मफल को; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **शान्तिम्**=पूर्ण शान्ति को; **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **नैष्ठिकीम्**=अचल; **अयुक्तः**=कृष्णभावनामृतशून्य; **कामकारेण**=कर्मफल भोगने के लिए; **फले**=फल में; **सक्तः**=आसक्त होने से; **निबध्यते**=बंधता है।

अनुवाद

निश्चल भक्त मेरे प्रति सम्पूर्ण कर्मफल समर्पित कर अचल शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जब कि जो मेरे से युक्त नहीं है, वह कर्मफल की कामना से बंधता है ॥१२॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष और देह को अपना स्वरूप समझने वाले व्यक्ति में भेद यही है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण में आसक्त रहता है, जबकि शरीर बन्धन ग्रस्त मुख्य कर्मफल में। जो मनुष्य श्रीकृष्ण में आसक्त है और श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ ही कर्म करता है, वह अवश्यमेव जीवन्मुक्त है क्योंकि वह कर्मफल की वाञ्छा नहीं करता। श्रीमद्भागवत में परतत्त्व के ज्ञान से रहित अथवा द्वैत धारणा से युक्त कर्म करने को कर्मफल के लिए उद्वेग का कारण कहा गया है। श्रीकृष्ण परम अद्वय तत्त्व भगवान् हैं। अतएव कृष्णभावना द्वैत से मुक्त है। जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ कृष्ण शक्ति का कार्य है तथा श्रीकृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अतः कृष्णभावनाभावित क्रियाएं ब्रह्ममय है; दिव्य होने के कारण उनसे बन्धन नहीं होता। इस कारण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर जीव शान्ति से आपूरित हो जाता है। परन्तु इन्द्रिय-तृप्ति के लिए फल का अभिलाषी उस शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य है—श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रहित कुछ भी सत्ता नहीं है, इस अनुभूति से परम शान्ति और अभय-पद की प्राप्ति होती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सर्वे=सम्पूर्ण; कर्माणि=कर्म; मनसा=मन से, संन्यस्य=त्याग कर; आस्ते=रहता है; सुखम्=सुखपूर्वक; वशी=आत्मसंयमी; नवद्वारे=नौ द्वार वाले; पुरे=नगर में; देही=देहबद्ध जीवात्मा;

न=नहीं; एव=निस्सन्देह; कुर्वन्=करता हुआ; न=नहीं; **कारयन्**=कराता हुआ।

अनुवाद

जब शरीर-बद्ध जीवात्मा अपनी प्रकृति का निग्रह कर मन से सब कर्मों का परित्याग कर देता है, तब वह नौ द्वार वाले नगर (प्राकृत देह) में सुख से रहता हुआ कुछ भी करता अथवा करवाता नहीं ॥१३॥

तात्पर्य

देह-बद्ध जीवात्मा नौ द्वार वाली पुरी में निवास करता है। देहरूपी नगरी के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वयमेव होते रहते हैं। स्वयं देह की परिस्थितियों के आधीन हुआ जीव इच्छा होने पर इनसे मुक्त भी हो सकता है। अपने दिव्य स्वरूप की विस्मृतिवश ही वह अपने को प्राकृत देह मान बैठता है और परिणाम में दुःख भोगता है। कृष्ण-भावनामृत से यथार्थ स्वरूप को पुनः प्राप्त करके वह देह बन्धन-मुक्त हो सकता है। अतः कृष्णभावना धारण करते ही जीव तत्क्षण सब शारीरिक क्रियाओं से सर्वथा असंग हो जाता है। इस प्रकार के मर्यादित जीवन के प्रभाव से उसके चिन्तन में भी परिवर्तन हो जाता है और वह नौ द्वार वाली पुरी में सुखपूर्वक निवास करता है। नौ द्वार ये हैं—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

'जीवात्मा की देह में निवास करने वाले श्रीभगवान् ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों के स्वामी हैं। देह के नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो नासाछिद्र, दो कर्ण, एक मुख, गुदा तथा उपस्थ। बद्धावस्था में जीव अपने को देह समझता है, किन्तु जब उसे अन्तर्यामी भगवान् और अपने में सादृश्य का बोध होता है, तो देहस्थ होने पर भी वह श्रीभगवान् के समान ही मुक्त हो जाता है।' (श्वेत० ३।१८)

अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष बाह्य आंतरिक, दोनों ही प्रकार की शारीरिक क्रियाओं से मुक्त रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न=न; कर्तृत्वम्=कर्तापन को; न=न; कर्माणि=कर्म को; लोकस्य=लोगों के; सृजति=रचता है; प्रभुः=देहरूपी नगर का स्वामी; न=नहीं; कर्मफल=कर्मफल के; संयोगम्=संयोग को; स्वभावः=प्राकृतिक गुण; तु=किन्तु; प्रवर्तते=कार्य करते हैं।

अनुवाद

देहरूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न ही किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों का ही कार्य है ॥१४॥

तात्पर्य

सातवें अध्याय के अनुसार, जीव की प्रकृति श्रीभगवान् के समान 'परा' है। यह चिच्छक्ति श्रीभगवान् की ही एक अन्य 'अपरा' नामक प्रकृति से भिन्न है। येन केन प्रकारेण परा प्रकृति का अंश जीवात्मा अनादिकाल से अपरा प्रकृति के संसर्ग में है। उसे प्राप्त हुआ नाशवान् देह-रूपी निवास विविध कर्म तथा कर्मफलों का परिणाम है। ऐसी बद्धावस्था में जीव अपने को अज्ञानवश देह मान बैठता है और इस कारण अपार दुःख भोगता है। शारीरिक दुःख क्लेश का हेतु अनादिकाल से उपार्जित अज्ञान ही है। शारीरिक क्रियाओं से विरत होते ही जीवात्मा कर्मफल बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। जब तक वह देहरूपी पुरी में है, तब तक उसका स्वामी प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः वह उसके कर्म अथवा कर्मफलों का स्वामी अथवा ईश्वर नहीं है। वह तो बस भवसागर में डूबता हुआ जीवन के लिए भीषण संघर्ष कर रहा है। सागर की तरंगें उसका उत्क्षेप कर रही हैं, किन्तु उन पर उसका कुछ भी नियन्त्रण नहीं है। उसके उद्धार का सर्वोत्तम साधन यही है कि वह

चिन्मय कृष्णभावनामृत रूपी तरणी द्वारा इस भव सागर से तर जाय। इसी के द्वारा सम्पूर्ण विप्लव से उसकी रक्षा हो सकती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न=नहीं ; **आदत्ते**=ग्रहण करते ; **कस्यचित्**=किसी के ; **पापम्**=पाप को ; **न**=नहीं ; **च**=भी ; **एव**=निःसन्देह ; **सुकृतम्**=पुण्य को ; **विभुः**=परमेश्वर ; **अज्ञानेन**=अज्ञान से ; **आवृतम्**=आच्छन्न है ; **ज्ञानम्**=ज्ञान ; **तेन**=उससे ; **मुह्यन्ति**=मोहित होते हैं ; **जन्तवः**=जीव।

अनुवाद

श्रीभगवान् किसी के भी पाप अथवा पुण्य को ग्रहण नहीं करते किन्तु जीवों के ज्ञान को अज्ञान ने आवृत कर रखा है, जिससे वह मोह को प्राप्त हो रहे हैं ॥१५॥

तात्पर्य

संस्कृत शब्द 'विभु' का अर्थ है परमेश्वर श्रीकृष्ण जो अनन्त ज्ञान, श्री, वीर्य, यश, रूप तथा त्याग से युक्त हैं। वे सदा आत्म-तृप्त रहते हैं,। पाप-पुण्य से उद्वेलित नहीं होते। वे किसी के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति का सृजन नहीं करते। अज्ञान से विमोहित जीवात्मा ही जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों की कामना करता है, जिससे कर्म तथा कर्मफल की शृङ्खला का प्रारम्भ होता है। परा-प्रकृति का अंश होने से जीव वास्तव में ज्ञानमय है। तथापि, अल्प सामर्थ्य वश वह अज्ञान-मग्न हो जाता है। श्रीभगवान् सर्व-समर्थ हैं, परन्तु जीव नहीं। श्रीभगवान् विभु हैं, जबकि जीव अणु है। जीवात्मा को इच्छा करने की स्वतन्त्रता तो प्राप्त है, परन्तु उसकी पूर्ति केवल सर्वसमर्थ श्रीभगवान् ही कर सकते हैं। अतः जब अपनी इच्छाओं के कारण जीव विमोहित हो जाता है, तो श्रीभगवान् उसे अपनी इच्छा पूर्ति करने देते हैं, किन्तु किसी भी

अभिलाषित परिस्थिति के कर्म और कर्मफल के लिए वे उत्तरदाता नहीं। इस प्रकार मोह के वशीभूत हुआ बद्धजीव प्रासङ्गिक प्राकृत देह को अपना स्वरूप समझ कर जीवन के क्षणिक दुख-सुख भोगता है। परमात्मा के रूप श्रीभगवान् जीव के नित्य सहचर हैं। वे जीवात्मा की इच्छा जान सकते हैं, उसी भांति जैसे समीपवर्ती पुष्प की सुरभि को आघ्राण किया जा सकता है। वासना जीवात्मा की बद्धता का सूक्ष्म रूप है। श्रीभगवान् उसकी वाञ्छा की यथायोग्य पूर्ति करते हैं। अतएव अपनी इच्छा को पूर्ण करने की शक्ति का जीव में अभाव है। परन्तु श्रीभगवान् सर्वसमर्थ वाञ्छाकल्पतरु हैं और प्राणीमात्र में समभाव के कारण वे अणु स्वतन्त्रता वाले जीवों की इच्छाओं में हस्तक्षेप नहीं करते। विशेष रूप से जब कोई स्वयं श्रीकृष्ण की इच्छा करता है तो वे विशेष ध्यान देते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि वह उन्हें प्राप्त कर शाश्वत् सुख का आस्वादन कर सके। वैदिक मन्त्रों का उद्घोष है :

एष उह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते।
एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वर-प्रेरित गच्छेत स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च ॥

'जीव के उत्थान के लिए श्रीभगवान् उसे सत्कर्म में प्रवृत्त करते हैं और असत्कर्म में इसलिए प्रवृत्त करते हैं, जिससे वह नरकगामी हो। जीवात्मा अपने सुख-दुःख में पूर्णतया परतन्त्र है। वायु प्रेरित मेघ की भांति भगवत्-इच्छा से ही वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।'

अस्तु, कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादिकालीन प्रवृत्ति के कारण बद्ध जीव अपने बन्धन का स्वयं कारण बनता है। परिणामस्वरूप, स्वभावतः सच्चिदानन्दमय होते हुए भी अपनी बद्ध बन्ध सत्ता के कारण वह यह भूल जाता है कि स्वरूप से वह भगवान् का दास है और मायाबद्ध हो जाता है। अज्ञान-आवरण के वश हुआ मंद ही ऐसा कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए श्रीभगवान् उत्तरदायी हैं। वेदान्त सूत्र से भी यह समर्थित है :

'वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।'

'प्रभु किसी के प्रति घृणा अथवा आसक्ति-भाव नहीं रखते, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है ।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

ज्ञानेन=ज्ञान द्वारा ; तु=किन्तु ; तत्=वह ; अज्ञानम्=अज्ञान ; येषाम्=जिनका ;नाशितम्=नष्ट हो गया है ; आत्मनः=जीवात्मा का ; तेषाम्=उनका ; आदित्यवत्=उदित हुए सूर्य के समान ; ज्ञानम्=ज्ञान ; प्रकाशयति=प्रकाशित करता है ; तत्परम्=कृष्णभावनामृत में ।

अनुवाद

परन्तु जब जीव अज्ञान का नाश करने वाले ज्ञान से प्रवुद्ध हो जाता है, तो उसका वह ज्ञान सम्पूर्ण तत्त्व को प्रकट कर देता है, जैसे दिन में सूर्य सब कुछ प्रकाशित करता है ॥१६॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण को भूल वैठने वाले अवश्य मोहित हो जाते हैं। इसके विपरीत, कृष्णभावनाभावित कभी मोहित नहीं हो सकते । भगवद्गीता (चतुर्थ अध्याय) में ही उल्लेख है : **'सर्वं ज्ञानप्लवेन'**, **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि'** तथा **'न हि ज्ञानेन सदृशं ।'** ज्ञान सदा परम सम्मान्य है । उस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? पूर्ण ज्ञान श्रीकृष्ण के चरण-युगल की शरण ग्रहण करने से ही प्राप्त होता है, जैसा सातवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कहा है : **'वहूनां जन्मनां अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।'** अनेक-अनेक जन्मान्तरों के उपरान्त जब पूर्ण ज्ञानी श्रीकृष्ण के शरणागत होता है, अथवा कृष्ण-भावनाभावित वन जाता है तो उसके प्रति समग्र तत्त्व प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार जैसे दिन में सूर्य सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित करता है । जीवात्मा कितने ही प्रकार से मोहित हो जाता है । उदाहरणस्वरूप,

जब वह धृष्टतापूर्वक अपने को भगवान् मान बैठता है तो माया के गर्व से भीषण पाश में बंध जाता है। यदि जीव ईश्वर है तो वह माया-मोहित कैसे हो सकता है? यदि ऐसा सम्भव है तो माया श्रीभगवान् से गुरुतर सिद्ध होती है। यथार्थ ज्ञान कृष्णभावनाभावित महापुरुष से ही प्राप्य है। अतएव ऐसे यथार्थ सद्गुरु के शरणागत होकर कृष्णभावनामृत की शिक्षा को हृदयङ्गम करे। जिस प्रकार भुवनभास्कर सूर्य अंधकार का निवारण करता है, उसी भांति सद्गुरु सम्पूर्ण अज्ञान को दूर करने में पूर्ण समर्थ है। देह से अतीत आत्मतत्त्व को पूर्ण रूप से जानने वाला भी आत्मा तथा परमात्मा में भेद न कर सके, यह सम्भव है। किन्तु भगवत्प्राप्त कृष्णभावनाभावित सद्गुरु की शरणागति से वह पूर्ण तत्त्वज्ञ हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि के सान्निध्य में ही श्रीभगवान् का और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि का उनके समान आदर किया जाता है, क्योंकि वे भगवत्-तत्त्व को जानते हैं, परन्तु वे अपने को भगवान् कभी घोषित नहीं करते। श्रीभगवान् और जीव में भेद का ज्ञान आवश्यक है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय (२.१२) में कहा है कि प्रत्येक जीव और श्रीभगवान् का पृथक्-पृथक् स्वरूप है। पूर्वकाल में भी उनका पृथक् स्वरूप था, वर्तमान में भी है और भविष्य में मुक्ति के अनन्तर भी रहेगा। रात्रि के अंधकार में सब कुछ एकरूप भासता है, किन्तु उषाकाल में सूर्योदय होते ही प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर हो जाती है। जीव और भगवान् में अनित्य भेद-अभेद का ज्ञान ही यथार्थ पारमार्थिक ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तद्-बुद्धयः=नित्य भगवत् परायण मति वाला; तद्-आत्मनः=नित्य भगवान् में चित्त वाला; तत् निष्ठाः=नित्य श्रीभगवान् में निष्ठ मन वाला; तत्परायणाः=जो पूर्णतया भगवान् के शरणागत हो गये हैं;

गच्छन्ति=जाते हैं; अपुनरावृत्तिम्=मुक्ति को; ज्ञान=ज्ञान द्वारा; निर्धूत=शुद्ध हुए; कल्मषाः=पाप।

अनुवाद

जब जीव की बुद्धि, चित्त और निष्ठा श्रीभगवान् में केन्द्रित हो जाते हैं और वह उन्हीं के परायण हो जाता है, तब पूर्ण ज्ञान द्वारा पाप और संशयों से शुद्ध होकर वह तत्काल मुक्ति-पथ पर आरूढ़ हो जाता है ॥१७॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण परात्पर सच्चिदानन्द तत्त्व हैं। सम्पूर्ण भगवद्-गीता श्रीकृष्ण की भगवत्ता के उद्घोष पर ही आश्रित है। यह सकल वैदिक शास्त्रों का मत है। तत्त्ववेत्ता परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् के रूप में जानते हैं। किन्तु श्रीभगवान् ही इस परतत्त्व की अवधि हैं। उनसे अधिक कुछ भी नहीं है। स्वयं श्रीभगवान् का वचन है: **'मत्तः परतरं नान्यत् किंचित् अस्ति धनंजय।'** निर्विशेष ब्रह्म के आधार भी श्रीकृष्ण हैं: **'ब्रह्मणो प्रतिष्ठाहम्।'** अतः सब प्रकार से श्री कृष्ण ही परात्पर हैं। जिस व्यक्ति के मन, बुद्धि, निष्ठा और आश्रयता श्रीकृष्ण में ही नित्य केन्द्रित हैं, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है, वह पुरुष निःसन्देह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर परम सत्य के पूर्णज्ञान में परिनिष्ठित हो जाता है। कृष्णभावनाभावित श्रीकृष्ण के अचिन्त्य-भेद-अभेद तत्त्व को भलीभांति जानता है। इस दिव्य ज्ञान से युक्त होकर वह मुक्ति-पथ में उत्तरोत्तर सुस्थिर प्रगति कर सकता है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्या=शिक्षा; विनय=नम्रता से; सम्पन्ने=युक्त; ब्राह्मणे=ब्राह्मण में; गवि=गाय में; हस्तिनि=गजराज में; शुनि=कुत्ते में; च=तथा; एव=निःसन्देह; श्वपाके=चाण्डाल में; च=भी; पण्डिताः=ज्ञानी; समदर्शिनः=समान दृष्टि से देखते हैं।

अनुवाद

यथार्थ ज्ञानी विद्या विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में सम-दृष्टि रखते हैं ॥१८॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महानुभाव जाति-वर्णादि का कोई भेद नहीं मानता। ब्राह्मण और चाण्डाल में सामाजिक दृष्टि से भेद हो सकता है अथवा श्वान, गौ तथा गजराज में जाति भेद है, किन्तु विद्वान् योगी की दृष्टि में ये शारीरिक भेद निरर्थक हैं। इसका कारण यह है कि परम तत्त्व से उन सभी का सम्बन्ध है, क्योंकि परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने अंश स्वरूप परमात्मा के रूप में प्राणीमात्र के हृदय में विराजमान हैं। परम सत्य का ऐसा ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। जहाँ तक जीवन के विभिन्न वर्ण तथा जातियों की देहों का सम्बन्ध है, श्रीभगवान् सब पर समान रूप से अपनी कृपा करते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक जीव को अपना सखा मानते हैं और जीवों की परिस्थितियों की उपेक्षा करते हुए सर्वत्र परमात्मा-रूप से विद्यमान रहते हैं। यद्यपि ब्राह्मण और चाण्डाल की देह में भेद है, तथापि परमात्मा दोनों ही में समान रूप से विद्यमान है। जीव-शरीर विविध प्राकृतिक गुणों के कार्य हैं, परन्तु देह में स्थित जीवात्मा और परमात्मा के चिद्गुण समान हैं। चिद्गुणों के समान होने पर भी जीवात्मा तथा परमात्मा परिमाण में भिन्न हैं, क्योंकि जीवात्मा किसी एक देह में ही स्थित रहता है, जबकि परमात्मा प्रत्येक देह में विद्यमान है। कृष्णभावनाभावित पुरुष को इसका पूर्ण ज्ञान रहता है। अतएव वही यथार्थ में पण्डित तथा समदर्शी है। जीवात्मा तथा परमात्मा के सजातीय गुण ये हैं कि वे दोनों ही सच्चिदानन्दमय हैं। दोनों में भेद यह है कि जीवात्मा व्यष्टि-चैतन्य है जबकि परमात्मा समष्टि-चैतन्य है, अर्थात् जीवात्मा की चेतना अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, जबकि परमात्मा को देहों का बोध रहता है। परमात्मा बिना किसी भेद के सब देहों में विद्यमान है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इह=इस जीवन में ; एव=ही ; तैः=उनके द्वारा ; जितः=जीत लिया गया ; सर्गः=जन्म-मृत्यु ; येषाम्=जिनका ; साम्ये=समता में ; स्थितम्=स्थित है ; मनः= चित्त ; निर्दोषम्=दोषरहित; हि=निःसन्देह ; समम्=सम है ; ब्रह्म=परतत्त्व ; तस्मात्=इसलिए ; ब्रह्मणि=पर तत्त्वमें ; ते=वे ; स्थिताः=परिनिष्ठित हैं ।

अनुवाद

जिनका चित्त समता में स्थित है, उन्होंनें इसी जीवन में जन्म-मृत्यु आदि वन्धनों पर विजय प्राप्त कर ली है । ब्रह्म के समान निर्दोष होने के कारण वे सदा ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं ॥१९॥

तात्पर्य

उपरोक्त कथन के अनुसार, मन की समता आत्मतत्त्व की अनुभूति का लक्षण है । वास्तव में ऐसी स्थिति प्राप्त करने वाले के सम्बन्ध में यह समझना चाहिये कि वह जन्म-मृत्यु आदि प्राकृत वन्धनों पर विजय प्राप्त कर चुका है । जव तक जीव देहात्म बुद्धि से ग्रस्त है (देह को अपना स्वरूप मानता है) तव तक उसे वद्ध समझा जाता है, किन्तु आत्मानुभूति द्वारा समता के स्तर पर आरूढ़ होते ही वह बद्ध (औपाधिक)जीवन से मुक्त हो जाता है । दूसरे शब्दों में, उसका प्राकृत जगत् में पुनरागमन नहीं होता, वरन् देहान्त के पश्चात् भगवद्धाम में प्रविष्ट हो सकता है । रागद्वेष-शून्य होने से श्रीभगवान् सर्वथा निर्दोष हैं । इसी भाँति, रागद्वेष से छूट जाने पर जीवात्मा भी निर्दोष होकर परलोक में प्रवेश का अधिकारी वन जाता है । ऐसे जीवों को जीवन्मुक्त समझना चाहिये । उनके लक्षणों का वर्णन अधोलिखित है ।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

न प्रहृष्येत्=हर्षित नहीं हो ; प्रियम्=प्रिय को ; प्राप्य=प्राप्त होकर ; न उद्विजेत्=उद्विग्न न हो ; प्राप्य=मिलने पर ; च=भी

अप्रियम्=अप्रिय के ; स्थिरबुद्धिः=आत्मबुद्धि ; असंमूढः=मोहरहित ; ब्रह्मवित्=परतत्त्व का पूर्ण ज्ञान ; ब्रह्मणि=भगवत्तत्त्व में ; स्थितः= स्थित है ।

अनुवाद

जो प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्षित नहीं होता, अप्रिय की प्राप्ति होने पर उद्विग्न नहीं होता और जो मोहरहित स्थिर बुद्धि पुरुष भगवान् के तत्त्व को जानता है; उसे नित्य ब्रह्म तत्त्व में ही स्थित जानना चाहिए ॥२०॥

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मतत्त्व के ज्ञाता महापुरुष के लक्षणों का उल्लेख है। प्रथम लक्षण यह है कि वह मिथ्या देहात्मबुद्धि से मोहित नहीं होता। अपितु, भलीभाँति जानता है कि वह प्राकृत देह नहीं है, वरन् श्रीभगवान् का भिन्नांश है। अतः देह सम्बन्धी किसी भी वस्तु की प्राप्ति में उसे हर्ष नहीं होता और न ही किसी वस्तु की हानि में वह शोकाकुल होता। मन की इस समता को स्थिरबुद्धि कहते हैं। अतः स्थूल देह को आत्मा समझने का भ्रम उसे कदापि नहीं होता और न ही देह को नित्य मान कर वह आत्मा की उपेक्षा करता है। यही ज्ञान उसे परतत्त्व, ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् के सम्पूर्ण विज्ञान में स्थित कर देता है। इस प्रकार, श्रीभगवान् से सर्वथा एक हो जाने के लिए मिथ्या प्रयत्न से मुक्त होकर वह अपने स्वरूप को पूर्णतया जान जाता है। यही ब्रह्मानुभूति अथवा आत्मानुभूति है। ऐसी स्थिर मति ही कृष्णभावना कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य-स्पर्शेषु=बाह्य इन्द्रिय-सुख में ; असक्तात्मा=अनासक्त ;

विन्दति=आस्वादन करता है; आत्मनि=आत्मा में; यत्=जो; सुखम्=सुख; सः=वह; ब्रह्मयोग=ब्रह्म में एकाग्र; युक्तात्मा=आत्म-संयुक्त; सुखम्=सुख का; अक्षयम्=अनन्त; अश्नुते=आस्वादन करता है।

अनुवाद

ऐसा मुक्त व्यक्ति इन्द्रिय-सुख अथवा बाह्य विषयों में अनासक्त होकर अपने स्वरूप में आनन्द अनुभव करता हुआ नित्य समाधिस्थ रहता है। इस प्रकार श्रीभगवान् में एकाग्र हुआ स्वरूप प्राप्त पुरुष अनन्त सुख का आस्वादन करता है ॥२१॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महाभागवत श्री यामुनाचार्य ने कहा है :

यद्यावधि मम चेतः कृष्णपदारविन्दे
नव नव रसधामनुद्यतरन्तुमासीत्।
तदावधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने
भवति मुखविकारः सुष्टु निष्ठीवनं च ॥

जब से मैं श्रीकृष्ण की दिव्य रागानुगा भक्ति में संलग्न होकर उनके नित्य नव रस का आस्वादन कर रहा हूं, तब से स्त्रीसंगम का विचार आते ही मैं उस पर उद्वमन करने लगता हूं, तथा मेरे ओष्ठ भी अरुचि के कारण संकुचित हो जाते हैं।' ब्रह्मयोगी अथवा कृष्णभावनाभावित भक्त भगवद्भक्ति में इतना अधिक तन्मय रहता है कि इन्द्रिय सुख में उसकी लेश मात्र भी अभिरुचि नहीं रहती। जड़ प्रकृति की दृष्टि से परम सुख काम ही है। सम्पूर्ण विश्व इसी के मोह में क्रियाशील है, विषयी तो इसके बिना कोई कर्म ही नहीं कर सकता। किन्तु कृष्णभावनाभावित भक्त काम-सुख का परिहार कर के भी द्विगुणित उत्साह के साथ कार्य कर सकता है। यह भगवत्प्राप्ति की कसौटी है। भगवत्प्राप्ति तथा काम-सुख का समीकरण नहीं किया जा सकता, दोनों का एक साथ होना सम्भव नहीं। जीवन्मुक्त कृष्णभावनाभावित किसी भी इन्द्रियसुख के प्रति आकृष्ट नहीं होता।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ये=जो; हि=निस्सन्देह; संस्पर्शजा=इन्द्रियों और भोगों के संयोग से उत्पन्न होने वाले; भोगाः=विषय भोग है; दुःख=दुख के; योनय=कारण; एव=ही (हैं); ते=वे; आदि=आदि; अन्तवन्तः=अन्त वाले; कौन्तेय=हे अर्जुन; न=कदापि नहीं; तेषु=उनमें; रमते=रमते; बुधः=बुद्धिमान् (विवेकीजन)।

अनुवाद

बुद्धिमान व्यक्ति इन्द्रियों और विषयों से उत्पन्न होने वाले भोगों से सम्बन्ध नहीं रखते क्योंकि ये दुःख के ही हेतु हैं। हे अर्जुन ! ये भोग आदि-अन्त वाले भी हैं। इसलिए विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ॥२२॥

तात्पर्य

प्राकृत इन्द्रिय सुखों का उदय इन्द्रियों और विषयों के संघात से होता है। ये सभी अनित्य हैं, क्योंकि स्वयं शरीर ही नाशवान् है। जीवन्मुक्त पुरुष की किसी अनित्य पदार्थ में अभिरुचि नहीं रहती। भगवदीय रसानन्द का पूर्ण ज्ञाता जीवन्मुक्त पुरुष मिथ्या सुखोपभोग के उन्मुख कैसे हो सकता है? पद्मपुराण का वचन है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्द-चिदात्मनि ।
इति राम पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

"योगीजन परमतत्त्व में रमण करते हुए अपरिमित चिदानन्द का आस्वादन करते हैं। इसी से उस परम ब्रह्म तत्त्व को 'राम' कहा जाता है।"

श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख है—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥

"हे पुत्रो! इस मानव योनि में इन्द्रिय सुख के लिए अधिक श्रम करना व्यर्थ है। विषय सुख तो मलभक्षी शूकरों को भी सदा प्राप्त रहता है। इसकी अपेक्षा, इस मनुष्य जीवन में तुम्हें तप करना चाहिए, जिससे पवित्र होकर तुम अपरिमित ब्रह्म (भगवद्) सुख का आस्वादन कर सकोगे।" (श्रीमद्भागवत ५.५.१)

अतः यथार्थ योगी इन्द्रिय सुखों के प्रति आकृष्ट नहीं होते, जो नित्य अप्रतिहत भवरोग का कारण है। जीव में जितनी अधिक भोगासक्ति होगी, उतना ही वह प्राकृत दुःखों में अधिक संश्लिष्ट होगा।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

शक्नोति=समर्थ है; **इह एव**=वर्तमान देह में; **यः**=जो; **सोढुम्**=सहन करने में; **प्राक्**=पूर्व; **शरीर**=शरीर; **विमोक्षणात्**=त्यागने से; **काम**=काम; **क्रोध**=क्रोध से; **उद्भवम्**=उत्पन्न; **वेगम्**=वेग को; **सः**=वह; **युक्तः**=योगी है; **सः**=वह; **सुखी**=सुखी; **नरः**=मनुष्य है।

अनुवाद

जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पूर्व ही इन्द्रियों की उत्तेजना और काम-क्रोध के वेगों को सहन करने में समर्थ है, वह मनुष्य इस संसार में योगी है और वही सुखी है ॥२३॥

तात्पर्य

भगवत्-प्राप्ति के पथ पर उत्तरोत्तर सुदृढ़ प्रगति के अभिलाषी को इन्द्रिय-वेगों को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए। ये वेग छः प्रकार के हैं—वाणी-वेग, क्रोध-वेग, मनोवेग, उदर-वेग, उपस्थवेग तथा जिह्वा-वेग। इन विविध इन्द्रियों के वेगों और मन को वश में करने में समर्थ मनुष्य को 'गोस्वामी' अथवा 'स्वामी' कहा जाता है। गोस्वामी

तीक्ष्ण व्रतानुशीलन कर मर्यादित जीवन-यापन करते हुए इन्द्रिय-वेगों को पूर्णतया त्याग देते हैं। अतृप्त विषय कामना से क्रोध उत्पन्न होता है, जिससे चित्त, नेत्र और वक्षस्थल आदि अवयव उत्तेजित हो जाते हैं। अतः इस प्राकृत देह को त्यागने से पूर्व ही इन विकारों का निग्रह करने के लिए यथाशक्ति प्रयास करे। ऐसा करने में समर्थ व्यक्ति भगवत्प्राप्त समझा जाता हैं। इस प्रकार, वह भगवद्भक्ति का सुखास्वादन करता है। काम-क्रोध को वश में करने के लिए प्राण-पण से सतत प्रयत्न करना योगी का परम कर्त्तव्य है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

यः=जो; **अन्तःसुखः**=अन्तर में सुखी; **अन्तः आराम**=अन्तर में क्रियाशील; **तथा**=तथा; **अन्तः ज्योतिः**=आत्म-प्रदीप्त है; **एव**=निःसन्देह; **यः**=जो; **सः**=वह; **योगी**=योगी; **ब्रह्मनिर्वाणम्**=परतत्त्व में मुक्त; **ब्रह्मभूतः**=आत्मतत्त्व को; **अधिगच्छति**=प्राप्त करता है।

अनुवाद

जो आत्मा में सुख का अनुभव करता है, आत्मा में क्रीड़ाशील है और आत्मा में ही दृष्टि वाला है, वही यथार्थ में संसिद्ध योगी है। ऐसा मुक्त योगी अन्त में परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

तात्पर्य

जिसने आत्म-सुख का आस्वादन न किया हो, वह मिथ्या सुख के लिए की जाने वाली बाह्य क्रियाओं से विरत कैसे होगा? जीवन्मुक्त यथार्थ अनुभूति में सुखास्वादन करता है। अतः एक स्थान पर ही शान्ति पूर्वक स्थित रहकर वह आन्तरिक जीवन की क्रीड़ा का समास्वादन कर सकता है। ऐसे जीवन्मुक्त में बाह्य प्राकृत सुख की वाञ्छा शेष नहीं

रहती। 'ब्रह्मभूत' नामक इस स्थिति से युक्त पुरुष के लिए अपने यथार्थ निवास—भगवद्धाम की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

लभन्ते=प्राप्त होते हैं; **ब्रह्म निर्वाणम्**=मुक्ति को; **ऋषयः**=ऋषिगण; **क्षीणकल्मषाः**=सम्पूर्ण पापों से मुक्त हुए; **छिन्न**=निवृत्त हुआ; **द्वैधाः**=द्वैत; **यतात्मनः**=भगवत्प्राप्ति के साधन में तत्पर; **सर्वभूत**=जीवों के; **हिते**=कल्याण में; **रताः**=संलग्न।

अनुवाद

जो द्वैत तथा संशय से मुक्त हो चुका है, जिसका चित्त आत्म-परायण है, जो सम्पूर्ण पापों से रहित है और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण में संलग्न है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥२५॥

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष को ही जीव-मात्र के कल्याण-कार्य में तत्पर कहा जा सकता है। जो मनुष्य यह जानता है कि श्रीकृष्ण सबसे आदि कारण हैं और इसी भावना से भावित होकर कर्म करता है, वही सबका कल्याण-कार्य करता है। मानवता के दुःखों का कारण यह विस्मरण है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता, परम ईश्वर और सबके परम सुहृद हैं। अतः अखिल मानवीय समाज में इस भावना को पुनः जागृत करने के लिए कर्म करना परमोच्च कल्याणकार्य है। एक मुक्त-पुरुष ही उत्तम कल्याण-कार्य कर सकता है। कृष्णभावनाभावित को श्रीकृष्ण की परात्परता में किंचित् भी संशय नहीं रहता। पूर्णतया पाप-मुक्त होने के कारण उसमें संशय का अभाव हो जाता है। यह दिव्य भगवत्प्रेम की अवस्था है।

जो व्यक्ति मानव-समाज का भौतिक कल्याण करने में ही रत है,

वह यथार्थ में किसी की भी सहायता नहीं करता। देह और चित्त को दिया गया क्षणिक सुख सन्तोषकारी नहीं कहा जाता। जीवन-संघर्ष में आने वाली भीषण कठिनाइयों का यथार्थ कारण तो जीव द्वारा श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का विस्मरण ही है। जिस मनुष्य को श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का बोध हो जाता है, वह संसार रूपी अस्थायी सदन में रहता हुआ भी यथार्थतः जीवन्मुक्त है।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

काम=काम; क्रोध=क्रोध से; विमुक्तानाम्=जो मुक्त हैं; यतीनाम्=सन्तों के लिए; यतचेतसाम्=जीते हुए चित्त वाले; अभितः=सब ओर से; ब्रह्म निर्वाणम्=मुक्ति; वर्तते=प्राप्त है; विदितात्मनाम्=जो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हैं।

अनुवाद

जो काम-क्रोध से मुक्त हैं, स्वरूप को जानते हैं, आत्मसंयमी हैं और संसिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्हें अति शीघ्र परमगति की प्राप्ति हो जाती है॥२६॥

तात्पर्य

मुक्ति के निमित्त सतत उद्यमशील सन्तों में [illegible] सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीमद्भागवत में इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार की गई है—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

"सकाम कर्मों की सुदृढ़ वासना को निर्मूल [illegible] विन्द-सेवामृत से प्राप्त हुए चिन्मय आनन्द में निमग्न हुए भक्तों [illegible]

तो महर्षिजन भी इन्द्रिय-वेगों का निग्रह नहीं कर पाते। इसलिए भगवान् वासुदेव का ही भक्तिभाव से भजन करे।"

(श्रीमद्भागवत ४.२२.३९)

मायाबद्ध जीव में सकाम कर्म की इच्छा इतनी सुदृढ़ होती है कि भगीरथ-प्रयत्न करने वाले महर्षियों के लिए भी इनका संयम करना दुष्कर है। किन्तु कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण हुए भक्त की सद्योमुक्ति हो जाती है। आत्मतत्त्व का पूर्ण ज्ञाता होने से वह नित्य समाधिस्थ रहता है।

उदाहरणार्थ :

दर्शन ध्यान संस्पर्शैर्मत्स्यकूर्मविहंगमः ।
स्वान्य पत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज ॥

"मछली, कछुआ और पक्षी क्रमशः दर्शन, ध्यान तथा स्पर्श द्वारा अपनी सन्तति का पालन करते हैं। हे पद्मयोनि (ब्रह्मा)! मैं भी ऐसा ही करता हूं।"

मछली केवल दृष्टिपात द्वारा सन्तति पालन करती है। कूर्म ध्यान से ही अपनी सन्तान का पोषण करता है; उसके अण्डे भूमि पर रहते हैं और वह स्वयं जल में उनका ध्यान करता रहता है। इसी भांति, कृष्ण-भावनाभावित पुरुष भगवद्धाम से अति दूर होने पर भी भगवान् का सतत चिन्तन करने मात्र से, कृष्णभावनामृत में तत्पर रहकर भगवद्धाम प्राप्त कर सकता है। उसे प्राकृत दुःख का अनुभव नहीं होता। जीवन की इस स्थिति को 'ब्रह्म निर्वाण' कहते हैं, जिसका अर्थ है भगवत्-तत्त्व में तन्मयता के फलस्वरूप प्राकृत दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

स्पर्शान्=शब्दादि इन्द्रिय विषयों को; कृत्वा=करके; बहिः=बाहर; बाह्यान्=अप्रयोजनीय; चक्षुः=नेत्र; च=भी; एव=निःसन्देह; अन्तरे=मध्य में; भ्रवोः=भृकुटी के; प्राण-अपानौ=प्राण-अपान; समौ=सम; कृत्वा=करके; नासा-अभ्यन्तर=नासा के भीतर; चारिणौ=चलने वाले; यत=संयमित; इन्द्रिय=इन्द्रिय; मनः=मन; बुद्धिः=बुद्धि; मुनिः=योगी मुनि; मोक्ष परायणः=मोक्ष परायण; विगत=रहित; इच्छा=कामना; भय=भय; क्रोधः=क्रोध से; यः=जो; सदा=नित्य; मुक्तः एव=मुक्त ही है; सः=वह।

अनुवाद

सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों को बाहर ही त्याग कर, दृष्टि को भृकुटी के मध्य में केन्द्रित रखते हुए नासिका में विचरने वाले प्राणापान को रोक कर चित्त, इन्द्रियों तथा बुद्धि का निग्रह करने वाला योगी इच्छा, भय और क्रोध से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में नित्य स्थित रहने वाला जीवन्मुक्त है ॥२७-२८॥

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत में तत्पर होते ही अपने आत्म-स्वरूप का बोध हो जाता है। फिर भक्तियोग के द्वारा परमेश्वर श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान होता है। भक्तियोग से भलीभांति युक्त होने के कारण शुद्ध सत्त्व में स्थित हुआ साधक अपनी क्रियाओं की परिधि में श्रीभगवान् की सन्निधि का अनुभव करने के योग्य हो जाता है। यही विशिष्ट स्थिति सामान्यत. 'मुक्ति' कहलाती है।

मुक्ति के सम्बन्ध में उपरोक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके श्री भगवान् अर्जुन को अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि) के अभ्यास द्वारा उस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का उपदेश कर रहे हैं। छठे अध्याय में योग-तत्त्व का स्पष्ट वर्णन है, जबकि पांचवें के अन्त में उसकी केवल अवतारणा हुई है। योग की प्रत्याहार-पद्धति के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा

गंध—इन इन्द्रिय-विषयों को त्यागकर तथा चक्षु-दृष्टि को भृकुटी के मध्य में स्थिर करके अर्धमीलित नेत्रों से नासाग्र पर ध्यान लगाना चाहिए। नेत्रों को पूरा बन्द नहीं करे, क्योंकि ऐसा करने पर निद्राग्रस्त हो जाना सम्भव है। नेत्रों को पूरा खुला भी नहीं रखे। इससे इन्द्रिय विषयों की ओर आकृष्ट हो जाने का भय बना रहेगा। नासिका के भीतर प्राण-अपान को समान कर श्वास-प्रक्रिया को रोका जाता है। इस योग के अभ्यास से इन्द्रियों को वश में करने और इन्द्रिय-विषयों को त्यागने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इससे साधक मुक्ति के योग्य हो जाता है।

यह योग-पद्धति सब प्रकार के भय, क्रोधादि से मुक्त कर शुद्ध सत्त्वमय स्थिति में परमात्मा की अनुभूति करने में सहायक सिद्ध होती है। भाव यह है कि योग की सबसे सुगम पद्धति कृष्णभावनामृत ही है। अनुवर्ती अध्याय में इसका पूर्णरूपेण प्रतिपादन किया जायगा। कृष्ण-भावनाभावित पुरुष भक्तियोग में ही नित्य संलग्न रहता है, जिससे उसकी इन्द्रियों के लिए अन्यथा प्रवृत्त होना सम्भव नहीं रहता। अतएव अष्टांगयोग की अपेक्षा यह इन्द्रियों को वश में करने का अधिक उत्तम मार्ग है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

भोक्तारम्=भोगने वाला; **यज्ञ**=यज्ञ; **तपसाम्**=तप त्याग का; **सर्वलोक**=सम्पूर्ण लोकों और उनमें स्थित देवों का; **महेश्वरम्**=पर-मेश्वर; **सुहृदम्**=स्वार्थ रहित प्रेमी; **सर्व**=सब; **भूतानाम्**=प्राणियों; **ज्ञात्वा**=इस प्रकार जानकर; **माम्**=मुझ (श्रीकृष्ण) को; **शान्तिम्**=प्राकृत यन्त्रणा से मुक्ति को; **ऋच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

मुझे सम्पूर्ण यज्ञ-तपों का परम प्रयोजन (भोक्ता), सम्पूर्ण लोकों

और देवताओं का परमेश्वर तथा प्राणिमात्र का सुहृद जानकर ऋषिगण संसार के दुःखों से शान्ति-लाभ करते हैं ॥२९॥

तात्पर्य

माया के आधीन सभी बद्ध-जीव प्राकृत जगत् में शान्ति के लिए आतुर हैं, परन्तु भगवद्गीता के इस श्लोक में कही गयी शान्ति-लाभ की यथार्थ-विधि को नहीं जानते। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं के भोक्ता हैं—यह ज्ञान परम शान्ति का सरल मार्ग है। इसके अतिरिक्त वे ही सम्पूर्ण लोकों तथा उनमें स्थित देवताओं के परमेश्वर हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि अपना सर्वस्व उन्हीं की चिन्मयी सेवा में समर्पित कर दें। उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं। वे देवाधिदेव शिव ब्रह्मा आदि से भी महान् हैं। वेदों में परमेश्वर श्रीकृष्ण का यह वर्णन प्राप्त होता है : **"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं।"** माया-मोहवश जीव सर्वत्र आधिपत्य करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में वे भगवान् की माया के आधीन हैं। भगवान् श्रीकृष्ण माया के स्वामी हैं, जबकि जीव माया के कठोर नियमों के परवश हैं। इस नितान्त सत्य को जाने बिना, व्यक्तिगत अथवा संयुक्त रूप में भी संसार में शान्ति की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। कृष्णभावनामृत का भाव यह है : भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, और देवगण सहित अखिल जीव उनके अनुचर हैं। कृष्णभावनामृत से पूर्णतया युक्त हो जाने पर ही शान्ति की प्राप्ति होगी।

पांचवें अध्याय में कृष्णभावनामृत का व्यावहारिक निरुपण है, जिसे सामान्यतः कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग मुक्तिकारक कैसे हो सकता है? इस मनोधर्म-प्रेरित प्रश्न का उत्तर यहां दिया गया है। कृष्णभावनाभावित कर्म करने का अर्थ इस पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर कर्म करना है कि श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं। ऐसे कर्म और ज्ञान में भेद नहीं। कृष्णभावनामृत साक्षात् भक्तियोग है, जबकि ज्ञानयोग भक्तियोग की प्राप्ति कराने वाला एक पथ मात्र है। कृष्णभावनामृत का अर्थ परतत्त्व से अपने सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर कर्म करना है और इस भावना की

संसिद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण ज्ञान में है। शुद्ध आत्मा भगवान् के भिन्न-अंश के रूप में उनका नित्य दास है। माया को भोगने की इच्छा के कारण ही वह माया के संसर्ग में आता है। यही उसके प्राप्त होने वाले विविध दुःखों का हेतु भी है। जब तक वह प्रकृति के संसर्ग में रहता है, तब तक प्राकृत आवश्यकतानुसार कर्म करने के लिए बाध्य है। किन्तु कृष्णभावनामृत की यह विशेषता है कि वह प्रकृति की परिधि में स्थित होने पर भी उसे दिव्य-जीवन प्रदान करती है, क्योंकि प्राकृत जगत् में भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुनः उद्भावित हो जाता है। भक्ति में उत्तरोत्तर प्रगति करने के अनुपात में प्रकृति-बन्धन से मुक्ति होती जाती है। श्रीभगवान् किसी जीव के प्रति पक्षपात नहीं करते। सब कुछ इन्द्रिय-निग्रह और काम-क्रोध का दमन करने के लिए किए गए व्यावहारिक कर्त्तव्य-पालन पर निर्भर करता है। इन विकारों को निगृहीत कर कृष्णभावनामृत को प्राप्त हो जाने वाला वास्तव में शुद्ध सत्त्व, ब्रह्म निर्वाण में परिनिष्ठित हो जाता है। अष्टांग योग का अन्तिम लक्ष्य कृष्णभावना को प्राप्त करना ही है। अतएव साक्षात् कृष्णभावनामृत में अष्टांग योग का अभ्यास अपने आप हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति होती है। परन्तु भक्तियोग के प्रारम्भ में ही इन सब की सिद्धि हो जाती है। एकमात्र भक्तियोग ही मानव को शान्ति प्रदान करने में समर्थ है। भक्तियोग ही जीवन की परमोच्च संसिद्धि है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः



ध्यानयोग

(अभ्यास)

श्रीभगवानुवाच ।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा ; अनाश्रितः=न चाहता ; कर्मफलम्=कर्मफल ; कार्यम्=कर्त्तव्य ; कर्म=कर्म ; करोति=करता है ; यः=जो ; सः=वह ; संन्यासी=संन्यासी है ; च=और ; योगी=योगी ; च=भी ; न=नहीं ; निरग्निः=अग्नि को त्यागने वाला ; न=नहीं ; च=तथा ; अक्रियः=क्रियाहीन ।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष कर्मफल में अनासक्त रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वही यथार्थ संन्यासी और योगी है, अग्नि को त्यागने वाला अथवा कर्म को त्यागने वाला नहीं ॥१॥

तात्पर्य

इस अध्याय में श्रीभगवान् ने अष्टांग-योग का मन-इन्द्रियों को वश में करने के साधन के रूप में वर्णन किया है। परन्तु सामान्य जनता के लिए, विशेषतः कलियुग में, यह बड़ा कठिन है। अष्टांग-योग की पद्धति का इस अध्याय में वर्णन करते हुए भी श्रीभगवान् ने इस सत्य पर बल दिया है कि कृष्णभावनाभावित कर्म अर्थात् 'कर्म योग' इससे श्रेष्ठ है। इसे संसार में मनुष्य-मात्र अपने परिवार सामग्री आदि के पालनार्थ कर्म करता है। किसी का भी कर्म स्वार्थ अथवा तृप्ति की वाञ्छा से सर्वथा मुक्त नहीं है, चाहे वह स्वकेन्द्रित हो अथवा अधिक व्यापक। संसिद्धि की कसौटी कृष्णभावनाभावित कर्म करना है, फलोपभोग की इच्छा से प्रेरित कर्म करना नहीं। कृष्णभावनाभावित कर्म करना सब जीवों का परम कर्तव्य है, क्योंकि स्वरूप से सभी श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। शरीर के विविध अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण शरीर के पोषण के लिए कार्य करते हैं, स्वार्थ के लिए नहीं। इसी भांति, जो पुरुष स्वार्थ के स्थान पर परब्रह्म की तृप्ति के लिए कर्म करता है, वह पूर्ण संन्यासी और पूर्ण योगी है।

कुछ संन्यासी मिथ्या रूप से अपने को सम्पूर्ण प्राकृत कर्तव्यों से मुक्त हुआ मानकर अग्निहोत्र का त्याग कर देते हैं। परन्तु वास्तव में वे स्वार्थी ही हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त करना है। प्राकृत वाञ्छाओं से ऊपर होने पर भी यह इच्छा स्वार्थ-प्रेरित ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओं का परित्याग कर अर्धमीलित नेत्रों से योगाभ्यास करने वाला भी स्वार्थ-तृप्ति से प्रेरित है। कृष्णभावनाभावित भक्त ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो परमेश्वर की प्रीति के लिए निस्वार्थ भाव से कर्म करता है। अतएव उसमें स्वार्थ-वाञ्छा की गन्ध

भी नहीं रहती। श्रीकृष्ण के परितोषण में ही वह अपनी सफलता मानता है। इसलिए वही पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी है। संन्यास के परम आदर्श श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की प्रार्थना है :

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

'हे सर्वसमर्थ प्रभो ! मुझे धन-सञ्चय की कोई कामना नहीं है और न ही मैं सुन्दर स्त्री अथवा अनुयायियों का इच्छुक हूं। जन्म-जन्मान्तर आपकी कृपामयी अहैतुकी भक्ति की ही मुझे अभिलाषा है।'

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

यम्=जिसको; संन्यासम्=संन्यास; इति=इस प्रकार; प्राहुः=कहते हैं; योगम्=योग (श्रीभगवान् से युक्त होना); तम्=उसे; विद्धि=जान; पाण्डव=हे पाण्डु पुत्र; न=कभी नहीं; हि=निःसन्देह; असंन्यस्त=त्यागे बिना; संकल्पः=स्वार्थ-तृप्ति को; योगी=योगी; भवति=होता; कश्चन=कोई।

अनुवाद

जिसे संन्यास कहते हैं, वही योग अर्थात् श्रीभगवान् से युक्त होना है,' क्योंकि इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छा को त्यागे बिना कोई भी योगी नहीं हो सकता ॥२॥

तात्पर्य

यथार्थ 'संन्यास योग' अथवा 'भक्तियोग' का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अपने स्वरूप को जानकर उसके अनुसार कर्म करे। जीवात्मा का अपना कोई स्वतन्त्र एवं पृथक अस्तित्व नहीं है। वह भगवान् की तटस्थता शक्ति है। मायामोहित होने पर वह उपाधिग्रस्त (बद्ध) हो जाता है, जबकि कृष्णभावनाभावित होने पर, अर्थात् अपनी पराप्रकृति

के ज्ञान से युक्त होने पर यथार्थ और स्वाभाविक जीवन को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञान से युक्त हुआ जीव प्राकृत इन्द्रिय-तृप्ति के भाव को सम्पूर्ण रूप से त्याग देता है अर्थात्, इन्द्रिय-तृप्ति-कारक क्रियाओं का पूर्ण रूप से संन्यास कर देता है। इसका अभ्यास विषया-सक्ति से इन्द्रियों का संयम करने वाले योगी करते हैं। किन्तु कृष्णभावना-भावित पुरुष को तो किसी ऐसे कार्य में इन्द्रियों को प्रवृत्त करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता, जिसका सीधा सम्बन्ध श्रीकृष्ण से न हो। इसलिए वह संन्यासी होने के साथ ही योगी भी है। ज्ञान और इन्द्रिय निग्रह विषयक योग का प्रयोजन कृष्णभावना में अपने आप पूर्ण हो जाता है। स्वार्थ-प्रेरित क्रियाओं को त्यागने में असमर्थ मनुष्य के लिए ज्ञान अथवा योग व्यर्थ है। जीवात्मा का यथार्थ लक्ष्य स्वार्थ-तृप्ति का सर्वथा त्याग कर भगवद्-प्रीति-विधान में तत्पर हो जाना है। कृष्ण-भावनाभावित पुरुष में स्वार्थ की कुछ भी अभिलाषा शेष नहीं रहती। वह तो नित्य भगवद्-प्रीति-सम्पादन में ही निमग्न रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिसे भगवान् का ज्ञान नहीं है, वह मनुष्य अवश्य स्वार्थ-तृप्ति में ही लगा रहेगा, क्योंकि कुछ न कुछ कर्म किए विना कोई नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत के अभ्यास से उपरोक्त सब प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

आरुरुक्षोः=योग का प्रारम्भ करने वाले; **मुनेः**=मुनि का; **योगम्**=अष्टांग योग; **कर्म**=कर्म; **कारणम्**=कारण; **उच्यते**=कहा जाता है; **योग**=अष्टांग योग में; **आरूढस्य**=आरुढ़ हुए; **तस्य**=उसका; **एव**=निःसन्देह; **शमः**=सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओं का त्याग; **कारणम्**=हेतु; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

अष्टांग योग का प्रारम्भ करने वाले के लिए कर्म साधन कहा जाता

है और योगारूढ़ साधक के लिए प्राकृत क्रियाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग करना हेतु कहा जाता है ॥३॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् से युक्त होने की पद्धति का नाम 'योग' है। यह उस निःश्रेणी (सीढ़ी) के समान है, जिससे परमोच्च तत्त्व की अनुभूति होती है। जीव की अधमतम अवस्था से प्रारम्भ होकर यह निःश्रेणी शुद्ध परमार्थ में पूर्ण भगवत्प्राप्ति तक जाती है। विविध स्तरों के अनुसार इसके सोपानों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस सम्पूर्ण योग-निःश्रेणी के तीन भाग हैं—ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग। निःश्रेणी के प्रथम और परमोच्च सोपान को क्रमशः 'योगारुरुक्ष' और 'योगारूढ़' अवस्था कहा जाता है।

अष्टांग योग की प्राथमिक अवस्था में मर्यादित जीवन तथा आसनाभ्यास द्वारा ध्यान लगाने के लिए किए जाने वाले प्रयत्न सकाम कर्म माने जाते हैं। इन क्रियाओं से क्रमशः इन्द्रिय-विजय करनेके लिए पूर्ण मानसिक समता की प्राप्ति होती है। ध्यानाभ्यास की सिद्धि होने पर उद्वेगकारी मानसिक क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है।

परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण का नित्य स्मरण करता हुआ प्रारम्भ से ही ध्यानमग्न रहता है। नित्य भक्ति में ही निष्ठ होने के कारण उसे सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओं का त्यागी समझा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४॥

यदा=जिस समय; हि=निःसन्देह; न=नहीं; इन्द्रिय-अर्थेषु=इन्द्रिय तृप्ति में; न=नहीं; कर्मसु=सकाम कर्म में; अनुषज्जते=प्रवृत्त होता; सर्व-संकल्प=सर्व विषय वासना का; संन्यासी=संन्यासी; योगारूढः=योगस्थ; तदा=उस समय; उच्यते=कहा जाता है।

अनुवाद

विषय-वासना को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर इन्द्रिय-तृप्ति अथवा सकाम कर्म में प्रवृत्त न होने वाले को योगारूढ़ कहते हैं ।।४।।

तात्पर्य

भक्तियोग में पूर्ण रूप से तत्पर हुआ मनुष्य आत्मतृप्त हो जाता है, अतएव इन्द्रिय-तृप्ति अथवा सकाम कर्म को त्याग देता है। भक्ति-योग के अभाव में, वह इन्द्रिय-तृप्ति में अवश्य प्रवृत्त हो जायगा, क्योंकि कोई भी कर्म किए विना नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत के विना स्वकेन्द्रित-विस्तारित स्वार्थ क्रियाओं की इच्छा वनी रहती है। कृष्ण-भावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सव कुछ करता है और इस प्रकार इन्द्रिय-तृप्ति की ओर से पूर्णतया अनासक्त रहता है। दूसरी ओर जिसे यह अनुभूति नहीं हुई है, उसको योग-निःश्रेणी के चरम सोपान पर आरूढ़ होने से पूर्व विषय-वासना से मुक्त होने के लिए यन्त्र-वत् प्रयत्न करना होगा।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

उद्धरेत्=उद्धार करे; **आत्मनः**=चित्त द्वारा; **आत्मानम्**=अपने आत्मा का; **न**=कदापि नहीं; **आत्मानम्**=अपने को; **अवसादयेत्**=पतन में पहुंचाए; **आत्मा**=चित्त; **एव**=निःसन्देह; **हि**=ही; **आत्मनः**=वद्ध जीव का; **बन्धुः**=मित्र है; **आत्मा**=चित्त; **एव**=निःसन्देह; **रिपुः**=शत्रु है; **आत्मनः**=वद्ध जीव का।

अनुवाद

मनुष्य अपने मन के द्वारा ही अपना उद्धार करे, अपने को अधोगति

में नहीं पहुंचाए। मन ही बद्ध जीव का मित्र है और मन ही शत्रु है ॥५॥

तात्पर्य

सन्दर्भ के अनुसार, 'आत्मा' शब्द का प्रयोग शरीर, मन और आत्मा के अर्थ में होता है। योग पद्धति में मन का विशेष महत्त्व है। यहां 'आत्मा' शब्द से मन कहा है, क्योंकि मन ही योगाभ्यास का केन्द्र है। योग का प्रयोजन मन को वश में करके इन्द्रिय विषयों से अनासक्त करना है। यहां इस बात पर बल दिया गया है कि मन को इस प्रकार साधना चाहिए जिससे वह अज्ञान सागर से बद्ध जीव का उद्धार करने में समर्थ हो जाय। भवरोग से पीड़ित प्राणी मन इन्द्रियों के आधीन रहता है। वास्तव में प्रकृति को भोगने के मन के मिथ्या अहंकार के कारण ही शुद्ध जीव प्राकृत संसार में बंधता है। अतः मन का इस प्रकार शिक्षण करे कि वह माया की मिथ्या चमक-दमक की ओर आकृष्ट न हो, और बद्धजीव का उद्धार हो सके। इन्द्रिय विषयों में आसक्ति से अपना अधःपतन नहीं करना चाहिए। विषयों के प्रति जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही भवरोग अधिक बन्धनकारी होगा। मोक्ष का सर्वोत्तम पथ यह है—कृष्णभावनामृत में नित्य तत्पर रहे। 'हि' पद का प्रयोग इसी पर बल देने के लिए किया गया है, अर्थात् ऐसा अवश्य-अवश्य करना चाहिए।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धनमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गो मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

'मन ही मनुष्य के बन्धन अथवा मोक्ष का कारण है। इन्द्रिय विषयों में मन की तन्मयता बन्धनकारी है और विषयों से अनासक्त हुआ मन ही मुक्ति का हेतु है।' अतः कृष्णभावनामृत में नित्य तन्मय रहने वाला मन परम मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

बन्धुः=मित्र है; **आत्मा**=मन; **आत्मनः**=जीवात्मा का; **तस्य**=उसका; **येन**=जिसके द्वारा; **आत्मा**=मन; **एव**=निःसन्देह; **आत्मना**=जीवात्मा द्वारा; **जितः**=वश में है; **अनात्मनः**=जिसके द्वारा मन को वश में नहीं किया है, उसका; **तु**=किन्तु; **शत्रुत्वे**=शत्रुता में; **वर्तेत**=रहता है; **आत्मा एव**=वही मन; **शत्रुवत्**=शत्रु की भांति।

अनुवाद

मन को आधीन करने वाले के लिए मन ही सर्वश्रेष्ठ बन्धु है, और जिसने मन को वश में नहीं किया है, उसका मन ही परम शत्रु है ॥६॥

तात्पर्य

अष्टांग योग के अभ्यास का प्रयोजन मन को वश में करना है, जिससे मानव-योनि की प्रयोजन-सिद्धि में वह बन्धु का कार्य करे। मनोनिग्रह किए बिना योगाभ्यास करना समय का अपव्यय मात्र है। मन को वश में करने में असमर्थ व्यक्ति सदा अपने परम शत्रु के साथ रहता है। इस प्रकार उसका जीवन और लक्ष्य, दोनों नष्ट हो जाते हैं। जीव का स्वरूप स्वामी की आज्ञा का पालन करना है। जब तक चित्त न जीता हुआ शत्रु रहता है, तब तक उसे काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि आज्ञा का पालन करना पड़ता है। परन्तु मन के संयमित हो जाने पर, परमात्मा रूप से प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान श्रीभगवान् की आज्ञा-पालन में वह अपने आप प्रवृत्त हो जाता है। हृदय में परमात्मा से संयोग कर उनकी आज्ञा पालन करना ही यथार्थ योगाभ्यास का तात्पर्य है। जो साक्षात् कृष्णभावनामृत के आश्रित हो जाता है, उसकी भगवत्-आज्ञा के प्रति पूर्ण शरणागति स्वतः सिद्ध हो जाती है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जित आत्मनः=जीते हुए मन वाले; प्रशान्तस्य=शान्त पुरुष के लिए; परमात्मा=परमात्मा; समाहितः=पूर्णतया प्राप्त है; शीत=सर्दी; उष्ण=गर्मी; सुख=सुख; दुःखेषु=दुख में; तथा=और; मान=सम्मान; अपमानयोः=अपमान में।

अनुवाद

जीते हुए मन वाले को परमात्मा प्राप्त रहते हैं, क्योंकि वह शान्ति लाभ कर चुका है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दुःख, शीत-ताप, मान-अपमान आदि एक समान होते हैं ॥७॥

तात्पर्य

परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में विराजित श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना ही जीव-मात्र का यथार्थ लक्ष्य है। जब बहिरङ्गा माया शक्ति द्वारा मन मोहित हो जाता है, तब जीव विषय परायण क्रियाओं के बन्धन में पड़ जाता है। अतः जैसे ही किसी एक योग पद्धति के द्वारा मन वश में आता है, वैसे ही उसे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा जानना चाहिए। जीव के लिए भगवत्-आज्ञा का पालन अनिवार्य है। परा प्रकृति पर मन के एकाग्रित हो जाने पर तो भगवत्-आज्ञा को शिरोधार्य कर कार्यान्वित करने के अतिरिक्त जीव के लिए कोई विकल्प ही नहीं रहता। परमात्मा के आदेश का स्वतः पालन करना मनोनिग्रह का लक्षण है। कृष्णभावनाभावित भक्त को यह स्थिति बिना विलम्ब प्राप्त हो जाती है। इसी से वह सुख-दुःख, शीत-ताप आदि सांसारिक द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता। यह अवस्था व्यावहारिक समाधि अथवा भगवद्-तन्मयता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८॥

ज्ञान=प्राप्त ज्ञान; विज्ञान=अनुभूत ज्ञान; तृप्त=परितुष्ट; आत्मा=जीवात्मा; कूटस्थः=भगवत्-तत्त्व में अवस्थित; विजितेन्द्रिय

=जितेन्द्रिय ; **युक्तः**=भगवत्प्राप्ति के योग्य ; **इति**=इस प्रकार ; **उच्यते** =कहा जाता है ; **योगी**=योगी ; **सम**=सम दृष्टि वाला ; **लोष्ट**= कंकड़ ; **अश्म**=पत्थर ; **काञ्चनः**=स्वर्ण में ।

अनुवाद

ज्ञान-विज्ञान से परितृप्त हुए पुरुष को भगवत्प्राप्त योगी कहा जाता है । भगवत्-तत्त्व में स्थित हुआ ऐसा जितेन्द्रिय व्यक्ति मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि पदार्थों में समभाव रखता है ॥८॥

तात्पर्य

परम तत्त्व की अनुभूति से शून्य पुस्तकीय ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं । शास्त्र में उल्लेख है·

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

'सांसारिक विकारमयी कुंठित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के दिव्य स्वरूप को नहीं जाना जा सकता । परन्तु भगवत्सेवा द्वारा श्रीभगवान् में तन्मय हो जाने पर श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीला के चिन्मय स्वरूप की स्वतः अनुभूति हो जाती है ।' (पद्मपुराण)

यह श्रीमद्भगवद्गीता कृष्णभावनामृत का अनुपम विज्ञान है । केवल लौकिक विद्वत्ता से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति नहीं होती । इसके लिए शुद्ध हृदय भक्त का सत्संग आवश्यक है । श्रीकृष्ण-कृपा से कृष्णभावना-भावित महात्मा को विज्ञान की प्राप्ति सुलभ हो जाती है, क्योंकि वह शुद्ध भक्तियोग से परितृप्त रहता है । विज्ञान से कृतार्थता होती है तथा दिव्य ज्ञानसे दृढ़ निष्ठा प्राप्त होती है, जब कि केवल पुस्तकीय ज्ञान से युक्त होने पर भासने वाले विरोधाभासों द्वारा मोहित तथा भ्रमित हो जाना बड़ा सरल है । श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ तत्त्वानुभवी जीव ही यथार्थतः आत्म-संयमी होता है । वह मायातीत हो जाता है, लौकिक विद्वत्ता से

उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। औरों के लिए लौकिक विद्वत्ता और मनोधर्मी स्वर्णवत् उत्तम हो सकता है; परन्तु कृष्णभक्त के लिए इनका मूल्य कंकड़-पत्थर से अधिक नहीं होता।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृत्=स्वार्थ रहित हितैषी; मित्र=स्नेहमय हितकारी; अरि=शत्रु; उदासीन=शत्रुओं में तटस्थ; मध्यस्थ=शत्रुओं में पंच; द्वेष्य=ईर्ष्यालु; बन्धुषु=सम्बन्धियों में; साधुषु=साधुओं मे; अपि=भी; च=तथा; पापेषु=पापात्माओं में; समबुद्धिः=समान बुद्धि वाला; विशिष्यते=विशेष रूप से विकसित है।

अनुवाद

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, पुण्यात्मा और पापात्मा में भी समान बुद्धि वाले को अधिक उत्तम जानना चाहिए ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी=योगी; युञ्जीत=कृष्णभावनामृत में एकाग्र रखे; सततम्=निरन्तर; आत्मानम्=अपने को (देह, चित्त और आत्मा द्वारा); रहसी=निर्जन स्थान में, स्थितः=रहे; एकाकी=अकेला; यत चित्तात्मा=सदा सचेत; निराशीः=किसी अन्य वस्तु के प्रति आकृष्ट हुए विना; अपरिग्रहः=संग्रह-भाव से मुक्त।

अनुवाद

योगी अपना चित्त परमात्मा विष्णु पर ही एकाग्र करने का निरन्तर

=जितेन्द्रिय ; **युक्तः**=भगवत्प्राप्ति के योग्य ; **इति**=इस प्रकार ; **उच्यते** =कहा जाता है ; **योगी**=योगी ; **सम**=सम दृष्टि वाला ; **लोष्ट**= कंकड़ ; **अश्म**=पत्थर ; **काञ्चनः**=स्वर्ग में ।

अनुवाद

ज्ञान-विज्ञान से परितृप्त हुए पुरुष को भगवत्प्राप्त योगी कहा जाता है । भगवत्-तत्त्व में स्थित हुआ ऐसा जितेन्द्रिय व्यक्ति मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि पदार्थों में समभाव रखता है ॥८॥

तात्पर्य

परम तत्त्व की अनुभूति से शून्य पुस्तकीय ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं । शास्त्र में उल्लेख है

> **अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः ।**
> **सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥**

'सांसारिक विकारमयी कुंठित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के दिव्य स्वरूप को नहीं जाना जा सकता । परन्तु भगवत्सेवा द्वारा श्रीभगवान् में तन्मय हो जाने पर श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीला के चिन्मय स्वरूप की स्वतः अनुभूति हो जाती है ।'

(पद्मपुराण)

यह श्रीमद्भगवद्गीता कृष्णभावनामृत का अनुपम विज्ञान है । केवल लौकिक विद्वत्ता से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति नहीं होती । इसके लिए शुद्ध हृदय भक्त का सत्संग आवश्यक है । श्रीकृष्ण-कृपा से कृष्णभावना-भावित महात्मा को विज्ञान की प्राप्ति सुलभ हो जाती है, क्योंकि वह शुद्ध भक्तियोग से परितृप्त रहता है । विज्ञान से कृतार्थता होती है तथा दिव्य ज्ञानसे दृढ़ निष्ठा प्राप्त होती है, जब कि केवल पुस्तकीय ज्ञान से युक्त होने पर भासने वाले विरोधाभासों द्वारा मोहित तथा भ्रमित हो जाना बड़ा सरल है । श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ तत्त्वानुभवी जीव ही यथार्थतः आत्म-संयमी होता है । वह मायातीत हो जाता है, लौकिक विद्वत्ता से

उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। औरों के लिए लौकिक विद्वत्ता और मनोधर्मी स्वर्णवत् उत्तम हो सकता है; परन्तु कृष्णभक्त के लिए इनका मूल्य कंकड़-पत्थर से अधिक नही होता।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृत्=स्वार्थ रहित हितैषी; मित्र=स्नेहमय हितकारी; अरि=शत्रु; उदासीन=शत्रुओं में तटस्थ; मध्यस्थ=शत्रुओं में पंच; द्वेष्य=ईर्ष्यालु; बन्धुषु=सम्बन्धियों में; साधुषु=साधुओं में; अपि=भी; च=तथा; पापेषु=पापात्माओं में; समबुद्धिः=समान बुद्धि वाला; विशिष्यते=विशेष रूप से विकसित है।

अनुवाद

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, पुण्यात्मा और पापात्मा में भी समान बुद्धि वाले को अधिक उत्तम जानना चाहिए॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी=योगी; युञ्जीत=कृष्णभावनामृत मे एकाग्र रखे; सततम्=निरन्तर; आत्मानम्=अपने को (देह, चित्त और आत्मा द्वारा); रहसी=निर्जन स्थान में, स्थितः=रहे; एकाकी=अकेला; यत चित्तात्मा=सदा सचेत; निराशीः=किसी अन्य वस्तु के प्रति आकृष्ट हुए विना; अपरिग्रहः=संग्रह-भाव से मुक्त।

अनुवाद

योगी अपना चित्त परमात्मा विष्णु पर ही एकाग्र करने का निरन्तर

प्रयत्न करे; वह एकान्त में रहकर सावधानी पूर्वक मन को वश में करे। इस प्रकार कामनाओं और परिग्रह-भाव से मुक्त हो जाय ।।१०।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की अनुभूति ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्, इन तीन रूपों में उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में होती है। कृष्णभावनामृत का सार भगवत्सेवा में तत्पर होना है। निर्विशेष ब्रह्म एवं एकदेशीय परमात्मा में आसक्त साधक भी एक अंश में कृष्णभावनाभावित हैं, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म श्रीकृष्ण की चिन्मय अंग-कांति है, जबकि परमात्मा श्रीकृष्ण के ही सर्वव्यापक अंश हैं। अतएव निर्विशेषवादी और ध्यान योगी भी परोक्ष रूप में कृष्णभावनाभावित हैं। तथापि सीधे-सीधे कृष्णभावनाभावित हुआ भक्त ही परम योगी है, क्योंकि वही ब्रह्म और परमात्मा के तत्त्व को यथार्थ रूप में जानता है। भक्त परतत्त्व के परिपूर्ण ज्ञान से युक्त होता है, जबकि निर्विशेषवादी अथवा ध्यान योगी पूर्णतया कृष्णभावनाभावित नहीं होता।

तथापि इन सभी को अपने-अपने कार्यकलापों में निरन्तर लगे रहने की अनुमति दी गई है, जिससे वे यथासमय परम-संसिद्धि-लाभ कर सकें। योगी का प्रथम कर्तव्य चित्त को सदा श्रीकृष्ण में एकाग्र रखना है। श्रीकृष्ण का चिन्तन नित्य बना रहे, क्षणमात्र के लिए भी उनका विस्मरण कभी नहीं हो। भगवान् श्रीकृष्ण में मनोयोग का नाम ही 'समाधि' है। मनोयोग के निमित्त नित्य एकान्त सेवन करता हुआ बाह्य विषय रूपी उपद्रवों से दूर रहे। योगी को चाहिए कि वह यथाशक्ति पूर्ण प्रयास के साथ भगवत्प्राप्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियों को ग्रहण करे और प्रतिकूलताओं को त्याग दे। उसे पूर्ण निश्चयपूर्वक अनावश्यक भोगों के लिए लालायित नहीं होना चाहिए, जो परिग्रह-भाव के रूप में बन्धनकारी सिद्ध होते हैं।

इन सब साधनों और सतर्कताओं का पूर्ण पालन वही कर सकता है, जो साक्षात् कृष्णभावना से युक्त हो, क्योंकि कृष्णभावनामृत का अर्थ

आत्मोत्सर्ग है। ऐसे त्याग में परिग्रह की सम्भावना नहीं रहती। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने कृष्णभावनामृत की व्याख्या इस प्रकार की है :

> अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः
> निर्बन्धः कृष्णसंबन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते।
> प्रापञ्चिकतया बुद्धया हरि-सम्बन्धि-वस्तुनः
> मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥
> (भक्तिरसामृतसिन्धु, २. २५५-२५६)

'पादर्थासक्ति से सर्वथा मुक्त होने पर भी जो पुरुष श्रीकृष्ण से सम्बन्धित (अर्थात् श्रीकृष्ण की सेवा के लिए) प्रत्येक वस्तु को स्वीकार कर लेता है, वही यथार्थ में वैराग्यवान् है। दूसरी ओर, श्रीकृष्ण से [illegible] सम्बन्ध जाने बिना प्रत्येक पदार्थ को त्याग देने वाला पूर्ण वैराग्य [illegible] नही है।'

कृष्णभावनाभावित भक्त भलीभांति जानता है कि [illegible] कृष्ण की सम्पत्ति हैं। इस कारण, वह स्वामीपन भाव [illegible] रहता है। अपने लिए उसे किसी भी पदार्थ की लाल[illegible] कृष्णभावनामृत के अनुकूल वस्तुओं को ग्रहण कर[illegible] वस्तुओं को त्यागने की परिपाटी में वह कुशल होता है [illegible] से विषय भोगों के प्रति सदा उदासीन रहता है और [illegible] व्यक्तियों से प्रयोजन न होने से नित्य एकान्त वा[illegible] स्पष्ट है कि कृष्णभावनाभावित भक्त परम [illegible] है

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमा[illegible]
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैला[illegible]
> तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत[illegible]
> उपविश्यासने युञ्ज्याद्यो[illegible]

शुचौ=पवित्र; देशे=[illegible]
स्थिरम्=दृढ़; आसनम्=[illegible]

अति=अधिक ; **उच्छ्रितम्**=ऊंचा ; **न**=न ; **अति**=अति ; **नीचम्**=नीचा ; **चैलाजिन**=मृदु वस्त्र एवं मृग छाल ; **कुशोत्तरम्**=कुशा ; **तत्र**=उस पर ; **एकाग्रम्**=एकाग्र ; **मनः**=मन को ; **कृत्वा**=करके ; **यत-चित्तेन्द्रियक्रियः**=चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में करके ; **उपविश्य**=बैठकर ; **आसने**=आसन पर ; **युञ्ज्यात्**=अभ्यास करे ; **योगम्**=योग का ; **आत्म**=हृदय की ; **विशुद्धये**=शुद्धि के लिए ।

अनुवाद

योगाभ्यास के लिए एकान्त में जाकर भूमि पर क्रमशः कुशा, मृगछाल तथा मृदु वस्त्र विछावे । ऐसा आसन न तो अधिक ऊंचा हो और न अति नीचा तथा पवित्र स्थान में स्थित हो । इसके वाद उस पर दृढ़तापूर्वक वैठकर योगी मन-इन्द्रियों को वश में करके हृदय की शुद्धि के लिए मनोयोग सहित योग का अभ्यास करे ॥११-१२॥

तात्पर्य

'पवित्र देश', शब्द तीर्थ स्थान का वाचक है । प्रायः सव योगी और भक्त गृहत्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश एवं हरिद्वार प्रभृति तीर्थों में निवास करते हुए गंगा-यमुना आदि नदियों के एकान्त तट पर योगाभ्यास करते हैं । किन्तु वहुधा, विशेषतः पाश्चात्यवासियों के लिए, यह साध्य नहीं होता । महानगरों के तथाकथित योगसंघ भोग-प्राप्ति में तो सफल हो सकते हैं, परन्तु यथार्थ योग साधना के लिए तो वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं । उद्विग्न चित्त वाला असंयमी ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकता । अतः वर्तमान कलिकाल में, जवकि लोग अल्पायु हैं, भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मन्द हैं और नित्य विविध उपद्रवों से ग्रस्त रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन हरे कृष्ण महामन्त्र का सङ्कीर्त्तन करना ही है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

'कलह और दम्भाचरण के इस युग में मुक्ति का एकमात्र साधन

हरे कृष्ण महामन्त्र का सङ्कीर्त्तन करना ही है। कलिकाल में अन्य गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

> **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।**
> **संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥**
> **प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**
> **मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥**

समम्=सीधा; कायशिरः=देह, सिर; ग्रीवम्=ग्रीवा को; धारयन्=धारण करते हुए; अचलम्=अविचलित; स्थिरः=सुस्थिर; संप्रेक्ष्य=देखते हुए; नासिका=नासिका के; अग्रम्=अग्र भाग में; स्वम्=अपनी; दिशः=सब दिशाओं (को); च=तथा; अनवलोकयन् =न देखते हुए; प्रशान्त=शान्त; आत्मा=मन वाला; विगतभीः= भय-मुक्त; ब्रह्मचारीव्रते=ब्रह्मचर्य-व्रत में; स्थित=स्थित; मनः= चित्त को; संयम्य=पूर्णतया संयमित कर; मत्=मेरे प्रति; चित्त= एकाग्र; युक्त=यथार्थ योगी; आसीत्=स्थित होवे; मत्=मेरे; परः =परायण।

अनुवाद

शरीर, ग्रीवा और सिर को सीधा धारण कर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को एकाग्र करना चाहिए। इस प्रकार, मैथुन से पूर्णतया मुक्त होकर, शांत, संयमित और भयशून्य मन द्वारा हृदय मे मेरा ध्यान करते हुए मेरे परायण हो जाय, अर्थात् मुझे ही जीवन का परम लक्ष्य बना ले॥१३-१४॥

तात्पर्य

जीवन का लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है, जो चतुर्भुज विष्णु रूप से प्राणीमात्र के हृदय में अभिराजित हैं। योग-पद्धति का अभ्यास इस एकदेशीय विष्णु रूप की प्राप्ति के लिए किया जाता है, किसी अन्य

प्रयोजन से नहीं। जीव-हृदय में स्थित विष्णु श्रीकृष्ण के अंश हैं। इस विष्णु मूर्ति की प्राप्ति के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से कपट-योग के परायण हुआ व्यक्ति निस्सन्देह अपने समय का अपव्यय कर रहा है। श्रीकृष्ण जीवन के परमोच्च लक्ष्य हैं और योगाभ्यास का लक्ष्य हृदय में स्थित विष्णु-मूर्ति है। हृदय में विष्णु-मूर्ति की उपलब्धि के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य है, जिसके लिए योगी के लिए गृहत्याग कर पूर्वोक्त विधि से एकान्त में निवास करना उपयुक्त है। घर में अथवा बाहर भी नित्य मैथुन-परायण रहते हुए तथाकथित योग-कक्षा में जाने मात्र से योगी नहीं बना जा सकता। यह आवश्यक है कि मन को वश में करके मैथुनादि विषय भोगों को त्याग दिया जाय। ब्रह्मचर्य व्रत के सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य का मन्तव्य इस प्रकार है :

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

'सदा-सर्वदा, सब परिस्थितियों में सर्वत्र मन, वचन और कर्म से मैथुन का पूर्ण त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।' मैथुन में तत्पर व्यक्ति यथार्थ योगाभ्यास की साधना नहीं कर सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य की शिक्षा बाल्य-काल से ही दी जाती है, जब मैथुन का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वैदिक संस्कृति में पांच वर्ष की आयु में बालकों को गुरुकुल भेजा जाता है, जहां गुरुदेव उन्हें ब्रह्मचर्य के दृढ़ संयम में शिक्षित करते हैं। ऐसे अभ्यास के अभाव में ध्यान, ज्ञान अथवा भक्ति आदि किसी भी योग पद्धति में प्रगति नहीं हो सकती। वैवाहिक जीवन के विधि-विधान के अनुसार केवल अपनी स्त्री के साथ मर्यादित संभोग करने वाला भी ब्रह्मचारी है। ऐसे संयमी गृहस्थ को भक्ति सम्प्रदाय अङ्गीकार कर लेता है, किन्तु ज्ञान तथा ध्यान वर्ग ऐसे गृहस्थ को भी स्थान नहीं देते। उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। भक्ति-सम्प्रदाय में गृहस्थ के लिए मर्यादित मैथुन अनुमत है, क्योंकि भक्तियोग की पद्धति इतनी बलवती है कि दिव्य भगवत्सेवा में लगे भक्त का मैथुन के प्रति आकर्षण स्वतः निवृत्त हो जाता है। भगवद्गीता में कहा है :

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

जहां अभक्त को विवश होकर विषय भोग से आत्म-संयम करना पड़ता है, वहां दिव्य भगवद्रसास्वादन करने से भगवद्भक्त इन्द्रिय-तृप्ति से स्वतः विरत हो जाते हैं। भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी को भी उस अनुत्तम रस का आस्वादन सुलभ नहीं है।

'विगतभीः' पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना अकुतोभयता नहीं होती। बद्धजीव अपनी विकृत स्मृति—श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण ही भयभीत रहता है। श्रीमद्भागवत का कथन है : **'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः'** कृष्णभावनामृत ही भय-मुक्ति का एकमात्र अवलम्ब है। अतः कृष्ण-भावनाभावित भक्त योग का पूर्ण अभ्यास कर सकता है। योग का परम लक्ष्य अन्तर्यामी श्रीकृष्ण का दर्शन करना है। इसलिए निस्सन्देह, कृष्ण-भावनाभावित भक्त सर्वोत्तम योगी है। ध्यान रहे, यहां प्रतिपादित योग के सिद्धान्त लोकप्रिय तथाकथित योग-संघों की पद्धति से भिन्न हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

युञ्जन्=अभ्यास करता हुआ; **एवम्**=इस प्रकार; **सदा**=निरन्तर; **आत्मानम्**=शरीर, मन एवं आत्मा को; **योगी**=योगाभ्यासी; **नियत मानसः**=जीते हुए मन वाला; **शान्तिम्**=शान्ति को; **निर्वाण परमाम्**=भवरोग की समाप्ति रूप; **मत्संस्थाम्**=परव्योम में स्थित भगवद्धाम में; **अधिगच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

इस भांति देह, मन और क्रियाओं का संयम करने से योगी का भव रोग शान्त हो जाता है और वह भगवद्धाम को प्राप्त होता है ॥१५॥

तात्पर्य

यहां योग के अन्तिम लक्ष्य का स्पष्ट वर्णन है। योगाभ्यास का

प्रयोजन किसी भोग-सुविधा की उपलब्धि कराना नहीं है, वरन् भवरोग की निवृत्ति ही उसका लक्ष्य है। योगाभ्यास द्वारा स्वास्थ्य-सुधार अथवा लौकिक सिद्धि का अभिलाषी भगवद्गीता के मत में योगी नहीं है। साथ ही, भवरोग के प्रशमन का तात्पर्य कपोलकल्पित शून्य में प्रविष्ट होना नहीं। भगवान् की सृष्टि में शून्य नाम की वस्तु कहीं नहीं है। भव रोग की निवृत्ति से तो परव्योम में स्थित भगवद्धाम में प्रवेश प्राप्त होता है। भगवद्धाम का भगवद्गीता में विशद वर्णन है: उस वैकुण्ठ धाम में सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि की कोई आवश्यकता नहीं है। वहां के सब वैकुण्ठ नामक लोक प्राकृत आकाश के सूर्य के समान ही स्वयं प्रकाश हैं। भगवद्धाम सर्वव्यापक है, किन्तु व्योम और उसमें स्थित वैकुण्ठ लोकों को ही परमधाम कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व का मर्मज्ञ पूर्णयोगी, जिसे स्वयं श्रीभगवान् ने यहां 'मच्चित्त', 'मत्पर' तथा 'मत्स्थानम्' कहा है, यथार्थ शान्ति-लाभ कर अन्त में कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन नामक उनके परम धाम में प्रवेश के योग्य हो जाता है। ब्रह्म संहिता में स्पष्ट कहा है: **'गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः'**, अर्थात् गोलोक में नित्य विहार करते हुए भी श्रीभगवान् अपनी पराशक्ति के प्रताप से सर्वव्यापक ब्रह्म तथा एकदेशीय परमात्मा के रूप में भी लीलायमान हैं। श्रीकृष्ण और उनके अंश विष्णु के पूर्णज्ञान के बिना परव्योम अथवा नित्य भगवद्धाम वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन में किसी का भी प्रवेश नहीं हो सकता। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला पूर्ण योगी है, क्योंकि उसका चित्त अनुक्षण कृष्णलीलामृत-कल्लोलिनी में ही निमज्जित रहता है। **'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः'**। वेदों में भी यही कहा है: **'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति'**: जन्म-मृत्यु के चक्र की निवृत्ति का एकमात्र साधन भगवान् श्रीकृष्ण को जान लेना है। सारांश यह है कि योग-पद्धति की सार्थकता भवरोग से मुक्ति कराने में है, मायावी (अभिचारमय) चातुर्य अथवा शारीरिक व्यायाम-सम्बन्धी प्रवणता द्वारा अबोध जनता को ठगने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

न=न; अति=अधिक; अश्नतः=खाने वाले का; तु=तो; योगः=श्रीभगवान् से योग; अस्ति=होता है; न=नहीं; च=तथा; एकान्तम्=बिल्कुल; अनश्नतः=भोजन न करने वाले का; न=नहीं; च=तथा; अति=अत्यधिक; स्वप्न शीलस्य=सोने वाले का; जाग्रतः=(अथवा) जो रात्रि में अधिक जागता है,उसका; न=नहीं; एव=ही; च=तथा; अर्जुन=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन ! अधिक भोजन करने वाले अथवा बहुत कम खाने वाले, अधिक शयनशील अथवा अत्यधिक जाग्रत रहने वाले के लिए योगी बनना सम्भव नहीं है ॥१६॥

तात्पर्य

इस श्लोक में योगियों के लिए भोजन और निद्रा को नियमित करने का कारण दिखाया गया है। अधिक भोजन का अर्थ है प्राण-धारण की आवश्यकता से अधिक अन्न-ग्रहण। अन्न, शाक, फल और दुग्धादि खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं; अतः मानव के लिए पशु-भक्षण सर्वथा अनावश्यक है। भगवद्गीता में अन्नादि पदार्थों को सत्त्वगुणमय कहा है। मांस तमोगुणी मनुष्यों के ही योग्य है। मांस, मदिरा, धूम्रपान तथा श्रीकृष्ण के प्रति अर्पण (भोग) के अयोग्य पदार्थो का सेवन करने वाले आहार-दोष के फलस्वरूप निस्सन्देह पापकर्म के बन्धन में पड़ जायेंगे। *'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।'* अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए भोजन बनाने वाला अथवा श्री कृष्ण को भोग न लगाने वाला पाप ही खाता है। पापमय भोजन करने वाला अथवा अपने अधिकार से अधिक सामग्री को भोगने वाला कल्याण-कारी योग का अभ्यास करने में असमर्थ हो जाता है। श्रीकृष्ण के प्रसाद

को ही ग्रहण करना सर्वश्रेष्ठ विधि है। कृष्णभावनाभावित भक्त ऐसी कोई वस्तु कभी ग्रहण नहीं करता, जिसका पहले श्रीकृष्ण के अर्पण न किया गया हो। अतः कृष्णभावनाभावित पुरुष ही योगाभ्यास द्वारा संसिद्धि-लाभ कर सकता है। वह मनुष्य भी योग का अभ्यास नहीं कर सकता जो मनमानी विधि से उपवास करता है। कृष्णभावनाभावित भक्त केवल शास्त्र के अनुसार व्रतधारण करता है। वह आवश्यकता से अधिक भोजन अथवा उपवास नहीं करता, इसलिए योगाभ्यास के सर्वथा योग्य है। अति भोजन करने वाले को स्वप्न भी अधिक आते हैं, जिससे वह आवश्यकता से अधिक समय निद्रामग्न रहेगा। दिन में छः घण्टे से अधिक सोने वाला अवश्य तमोगुणी है। तमोगुणी व्यक्ति ही मन्द और अत्यधिक निद्रोन्मुखी होता है। ऐसा मनुष्य योग का अभ्यास नहीं कर सकता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

युक्त=नियमित; **आहार**=भोजन; **विहारस्य**=विहार करने वाले का; **युक्त**=नियमित; **चेष्टस्य**=शरीर-निर्वाह के लिए प्रयत्न करने वाले का; **कर्मसु**=कर्त्तव्य-पूर्ति में; **युक्त**=नियमित; **स्वप्न अवबोधस्य**=सोने और जागने वाले का; **योगः**=योगाभ्यास; **भवति**=होता है; **दुःखहा**=दुखों का नाश करने वाला।

अनुवाद

यथायोग्य आहार शयन, कर्म और विहार करने वाला ही योगाभ्यास द्वारा सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है ॥१७॥

तात्पर्य

भोजन, शयन, रक्षा और मैथुनादि शारीरिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उच्छृङ्खलता योगाभ्यास की प्रगति में व्यवधान सिद्ध हो सकती

है। केवल भगवत्प्रसाद ग्रहण करने से भोजन स्वतः संयमित हो जाता है। भगवद्गीता (९.२६) के अनुसार अन्न, शाक, फल, फूल तथा दुग्ध आदि पदार्थ भगवान् को अर्पण के योग्य हैं। इस प्रकार कृष्णभावनाभावित भक्त को मानव के अयोग्य सत्वगुणेतर भोजन को ग्रहण न करने की शिक्षा स्वतः प्राप्त हो जाती है। जहां तक निद्रा का सम्बन्ध है, कृष्णभावनाभावित भक्त अपने कृष्णभावनामय कर्तव्यों के पालन में सदा सचेत रहता है। अतः निद्रा में आवश्यकता से अधिक समय के व्यय को वह महान् हानि मानता है। वह जीवन का एक क्षण भी भगवत्सेवा के बिना व्यतीत नही कर सकता। इसलिए वह कम से कम सोता है। इस सन्दर्भ में उसके आदर्श श्रील रूप गोस्वामी हैं, जो सदा-सर्वदा कृष्णसेवामृत में तन्मय रहते हुए दो घण्टे से अधिक और कभी-कभी तो इतना भी नहीं सोते थे। क्षण भर के लिए शयन करना तो दूर, नामाचार्य ठाकुर हरिदास तो प्रतिदिन तीन लाख बार भगवन्नाम का जप किये बिना प्रसाद भी ग्रहण नहीं करते थे। जहां तक कर्म का सम्बन्ध है, कृष्णभावनाभावित महात्मा ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जो श्रीकृष्ण के मनोऽनुकूल न हो। इस प्रकार मर्यादित हुए उसके कर्म इन्द्रिय-तृप्ति से कलुषित नहीं होते। इन्द्रिय तृप्ति का विकल्प न होने से कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए किसी भी प्रकार का इन्द्रिय सुख असम्भव हो जाता है। कर्म, वाणी, निद्रा, जागृति तथा अन्य समस्त शारीरिक क्रियाओं में मर्यादित होने से उसे कभी किसी लौकिक दुःख की प्राप्ति नहीं होती।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यदा=जिस काल में; *विनियतम्*=विशेष रूप से वश में हुआ; *चित्तम्*=अपने कार्यों सहित मन; *आत्मनि*=परम तत्त्व में; *एव*=ही; *अवतिष्ठते*=स्थित हो जाता है; *निस्पृहः*=स्पृहा मुक्त; *सर्व*=सब प्रकार की; *कामेभ्यः*=कामनाओं से; *युक्तः*=योग में भलीभांति स्थित; *इति*=इस प्रकार; *उच्यते*=कहा जाता है; *तदा*=उस समय।

अनुवाद

जिस काल में योग के अभ्यास द्वारा चित्त को वश में करके योगी भगवत्-तत्त्व में ही भलीभांति स्थित हो जाता है, तब सम्पूर्ण कामनाओं से मुक्त हुए उस पुरुष को योग-युक्त कहा जाता है ।।१८।।

तात्पर्य

साधारण मनुष्यों की तुलना में योगी की क्रियाओं में यह विशेषता रहती है कि वह सब प्रकार की प्राकृत इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, जिनमें मैथुन (काम) प्रधान है। संसिद्धि योगी की मनःक्रिया इतनी संयमित हो जाती है कि वह किसी भी प्राकृत वासना से उद्विग्न नहीं होता। यह अवस्था कृष्णभावनाभावित भक्तों को अपने आप प्राप्त हो जाती है, जैसा श्रीमद्भागवत (९.४.१८-२०) में उल्लेख है :

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्र स्पर्शेऽङ्गसंगमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ।।
पादौ हरेः क्षेत्र पदानुसर्पणे शिरो हृषीकेश-पदाभिवदने ।
कामं च दास्येन तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ।।

'महाराज अम्बरीष ने सर्वप्रथम अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में एकाग्र किया, तदनन्तर, क्रमशः वाणी को श्रीकृष्ण के गुणानुवाद में लगाया, हरि मन्दिर का मार्जन करने में हाथों को, भगवान् अच्युत की परम पावन लीला-कथा के हृत्कर्ण रसायन श्रवण में कानों को तथा भगवद्मूर्तिदर्शन में नेत्रों को नियुक्त किया। वे त्वचा से भक्तों का स्पर्श करते, नासिका से कृष्ण-पादार्पित पुष्पों की सौरभ-ग्रहण करते, रसना से कृष्णचरणार्पित तुलसी-सेवन, चरणों से कृष्ण मन्दिर की प्रदक्षिणा तथा मस्तक से श्रीकृष्ण की वन्दना करते थे। अपनी समस्त कामनाओं को भी उन्होंने भगवत्सेवा करने में ही लगा दिया था। ये सभी दिव्य कर्म शुद्ध भगवद्भक्त के सर्वथा योग्य हैं।'

निराकारवादियों के लिए इस दिव्य अवस्था का वर्णन करना असम्भव हो सकता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए यह बड़ी सुगम और व्यावहारिक है, जैसा महाराज अम्बरीष के कार्यकलापों के वर्णन से स्पष्ट है। नित्य भगवत्स्मरण द्वारा जब तक चित्त श्रीकृष्ण-चरणारविन्द में एकाग्र नहीं होता, तब तक दिव्य भगवत्सेवा में ऐसी तत्परता सम्भव नहीं। भक्ति-पथ में इन विहित क्रियाओं को 'अर्चना' अर्थात् भगवत्सेवा में सब इन्द्रियों को नियोजित करना कहते हैं। इन्द्रियों तथा मन को कुछ न कुछ कार्य अवश्य चाहिए। इसलिए केवल प्रतिषेध व्यावहारिक नहीं हो सकता। सामान्य जनता के लिए, विशेषतः उनके लिए जो संन्यासाश्रम में नहीं हैं, पूर्ववर्णित विधि से इन्द्रिय और मन को भगवत्सेवा में लगाना भगवत्प्राप्ति का संसिद्धि-पथ है। भगवद्गीता में इसी को 'युक्त' कहा गया है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥१९॥

यथा=जिस प्रकार; दीपः=दीपक; निवातस्थः=वायु शून्य स्थान में स्थित; न=नहीं; इङ्गते=चलायमान नही होता; सा उपमा स्मृतः=वही उपमा कही गयी है; योगिनः=योगी के; यतचित्तस्य=जीते हुए चित्त की; युञ्जतः=निरन्तर तत्पर; योगम्=ध्यान में; आत्मनः=परतत्त्व के।

अनुवाद

जिस प्रकार वायु-रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी भांति संयत चित्त वाला योगी नित्य भगवत्-तत्त्व के ध्यान में एकाग्र रहता है॥१९॥

तात्पर्य

भगवत्तत्त्व में तन्मय हुआ यथार्थ कृष्णभावनाभावित भक्त अपने

आराध्यपद भगवान् श्रीकृष्ण के निरन्तर, अप्रतिहत ध्यान में उसी प्रकार दृढ़ रहता है, जैसे वायुरहित स्थान में दीपक।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥२३॥

यत्र=जिस अवस्था में; **उपरमते**=भगवद्रसानन्द की अनुभूति होती है; **चित्तम्**=मन को; **निरुद्धम्**=विषयों से निवृत्त हुआ; **योग-सेवया**=योग के अभ्यास द्वारा; **यत्र**=जब; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **आत्मना**=शुद्ध चित्त से; **आत्मानम्**=आत्म-स्वरूप को; **पश्यन्**=स्थिति का अनुभव करता हुआ; **आत्मनि**=आत्म-स्वरूप में; **तुष्यति**=संतुष्ट होता है; **सुखम्**=सुख; **आत्यन्तिकम्**=परम; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **बुद्धि**=मनीषा द्वारा; **ग्राह्यम्**=ग्रहणीय; **अतीन्द्रियम्**=इन्द्रियातीत; **वेत्ति**=जानता है; **यत्र**=जिस अवस्था में; **न**=नहीं; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **अयम्**=यह योगी; **स्थितः**=अवस्थित हुआ; **चलति**=विचलित होता; **तत्त्वतः**=तत्त्व से; **यम्**=जिसे; **लब्ध्वा**=प्राप्त होकर; **च**=तथा; **अपरम्**=अन्य कोई; **लाभम्**=लाभ; **मन्यते**=मानता है; **न**=नहीं; **अधिकम्**=अधिक (श्रेष्ठ); **ततः**=उससे; **यस्मिन्**=जिसमें; **स्थितः**=स्थित हुआ; **न**=नहीं; **दुःखेन**=दुख द्वारा; **गुरुणा अपि**=बड़े से बड़े; **विचाल्यते**=चलायमान होता; **तम्**=उसे; **विद्यात्**=जानना चाहिए; **दुःख संयोग**=सांसारिक-संसर्ग जन्य दुख को; **वियोगम्**=दूर करने वाले; **योगसंज्ञितम्**=योगरूप समाधि।

अनुवाद

योग की पूर्ण अवस्था को समाधि कहते हैं, जब योगाभ्यास के

द्वारा चित्त सांसारिक मन: क्रियाओं से सर्वथा संयमित हो जाता है। इस अवस्था में विशुद्ध चित्त के द्वारा आत्म-स्वरूप का दर्शन और आस्वादन सुलभ हो जाता है। उस आनन्दमयी स्थिति में, अपरिमित रसानन्द में स्थित हुआ योगी दिव्य इन्द्रियों के द्वारा आत्म-स्वरूप में रमण करता है। इस प्रकार स्थित हुआ योगी भगवत्-तत्त्व से कभी विचलित नहीं होता और इसकी प्राप्ति होने पर वह इससे अधिक अन्य कुछ भी लाभ नहीं समझता। ऐसी स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हुआ पुरुष बड़े से बड़े दुःखों के मध्य में भी चलायमान नहीं होता। यह अवस्था विषय-सङ्ग से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण दुःखों से यथार्थ मुक्ति है ॥२०-२३॥

तात्पर्य

योगाभ्यास के द्वारा शनैः शनैः विषय-धारणा से अनासक्ति हो जाती है। यह योग का प्रमुख लक्षण है। तदुपरान्त, योगी समाधि में स्थित होता है, जिसका अर्थ है कि वह आत्मा तथा परमात्मा को एक समझने के भ्रम से मुक्त होकर दिव्य इन्द्रियों एवं चित्त द्वारा परमात्मा की अनुभूति करता है। योगमार्ग अधिकांश में पतंजलि की पद्धति पर आधारित है। अप्रामाणिक व्याख्याकार जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद स्थापित करने का असत् प्रयत्न करते हैं और अद्वैतवादियों के मत में द्वैत है—यह अद्वैतवादियों को मान्य नहीं, किन्तु इस श्लोक में चिन्मय नहीं जानते। पातंजल योगदर्शन ह्लादिनी शक्ति को स्वीकार करता है, किन्तु अद्वैतवादी इस ह्लादिनी को नहीं मानते, क्योंकि उन्हें इससे अद्वैत मत में बाधा उपस्थित होने का भय रहता है। ज्ञान और ज्ञाता में द्वैत है—यह अद्वैतवादियों को मान्य नहीं, किन्तु इस श्लोक में चिन्मय इन्द्रियों द्वारा परम आस्वाद्य ह्लादिनी के आस्वादन को स्वीकार किया गया है। योग के महान् प्रतिपादक पतंजलि मुनि ने भी इसकी परिपुष्टि की है। 'योग सूत्र' में महर्षि का उद्घोष है :

'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः। कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तिरिति॥

यह 'चिति' अथवा अन्तरंगा शक्ति दिव्य है। पुरुषार्थ का अर्थ है

धर्म, अर्थ, काम और अन्त में, मोक्ष (परतत्त्व से एक होने का प्रयास) जिसे अद्वैतवादी 'कैवल्य' कहते हैं। परन्तु पतंजलि के मन्तव्य में कैवल्य वह अन्तरंगा अप्राकृत शक्ति-विशेष है जिसके द्वारा जीवात्मा को अपने नित्य स्वरूप का बोध होता है। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव ने अपने वचनामृत में इस दशा को **'चेतो दर्पण मार्जनम्'** कहा है, अर्थात् इस दशा में चित्तरूपी दर्पण का मार्जन हो जाता है। हृदय की ऐसी शुद्धि ही यथार्थ मुक्ति (**'भव महादावाग्नि निर्वापणम्'**) है। प्रारम्भिक निर्वाण-मत भी इस सिद्धान्त के सदृश है। श्रीमद्भागवत में इसी अवस्था को **'स्वरूपेण व्यवस्थिति'** कहा गया है। इस श्लोक में भगवद्गीता भी इस दशा की पुष्टि करती है।

निर्वाण अथवा भवरोग की निवृत्ति हो जाने पर कृष्णभावना नामक भगवत्सेवामय दिव्य क्रिया-कलाप व्यक्त होते हैं। श्रीमद्भागवत की वाणी में **'स्वरूपेण व्यवस्थिति'**—जीवात्मा का यथार्थ जीवन वस्तुतः यही है। स्वरूप का विषय दोष से आवृत होना माया है। इस विषय-दोष से मुक्ति का यह तात्पर्य नहीं है जीव के आद्य नित्य स्वरूप का विनाश हो जाता है। पतञ्जलि ने इस सत्य का समर्थन किया है: **'कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति'** यह चिति-शक्ति ही यथार्थ जीवन है। वेदान्त सूत्र में भी इसका अनुमोदन है: **'आनन्दायोऽभ्यासात्'**। यह 'चिति शक्ति' ही योग का चरम लक्ष्य है और भक्तियोग के आचरण से इसकी प्राप्ति सुगमता से हो जाती है। सातवें अध्याय में इसी भक्तियोग का विशद वर्णन है।

इस अध्याय में प्रतिपादित योग-पद्धति से प्राप्त होने वाली समाधि दो प्रकार की है: **'सम्प्रज्ञात'** और **'असम्प्रज्ञात'**। नाना दार्शनिक अन्वेषणों से शुद्ध सत्त्वमयी स्थिति की उपलब्धि **'सम्प्रज्ञात समाधि'** कहलाती है। **'असम्प्रज्ञात समाधि'** में प्राकृत विषयानन्द के साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि उसमें निष्ठ महानुभाव इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सब सुखों से अतीत हो जाता है। इस चिन्मय स्वरूप-परिनिष्ठा को प्राप्त हुआ योगी इससे कदापि चलायमान नहीं होता। इस अवस्था की प्राप्ति के बिना वह कृतार्थ नहीं हो पाता।

आजका तथाकथित योगाभ्यास विविध इन्द्रिय-सुखों से युक्त होने के कारण अन्तर्विरोधात्मक (असंगत) है। मैथुन एवं मद्यपान में प्रवृत्त होने पर भी अपने को योगी कहने वाला उपहास का ही पात्र होगा। यहां तक कि जिनका चित्त यौगिक सिद्धियों की ओर आकृष्ट है, वे योगी भी संसिद्धि को प्राप्त नही हुए हैं। योग की आनुषंगिक उपलब्धियों में आसक्त हुए ये योगी इस श्लोक में. वर्णित संसिद्धि को प्राप्त नही हो सकते। अतः व्यायामिक प्रवणता के कपट-अभ्यास में अथवा सिद्धि-प्राप्ति में लगे हुए व्यक्तियों को जान लेना चाहिए कि इस प्रकार करने से योग का लक्ष्य सर्वथा नष्ट हो जाता है।

इस युग के लिए सर्वोत्तम योग-पद्धति कृष्णभावना है, क्योंकि इससे कभी निराशा नहीं होती। कृष्णभावनाभावित भक्त अपनी कार्य-स्थिति में इतना अधिक आनन्द-विभोर रहता है कि उसे अन्य किसी सुख की लेशमात्र भी अभिलाषा नही रहती। विशेष रूप से इस कपट प्रधान कलियुग में हठयोग, ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग के अभ्यास में प्रचुर व्यवधान आते हैं, किन्तु कर्मयोग अथवा भक्तियोग का पथ आज भी सर्वथा निरापद है।

यद्यावधि प्राकृत देह विद्यमान है, तब तक भोजन, शयन, संरक्षण एवं मैथुन—इन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी आवश्यक है। परन्तु शुद्ध भक्तियोगी अथवा कृष्णभावनाभावित पुरुष शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी इन्द्रियों को उत्तेजित नही करता। वह जीवन के लिए अनिवार्य पदार्थों को ही स्वीकार करता है और बुरे सौदे से अच्छे से अच्छा लाभ लेता हुआ कृष्णभावनामृत मे दिव्य आनन्द का आस्वादन करता है। दुर्घटना, रोग, अभाव तथा मृत्यु आदि प्रासंगिक घटनाओं के प्रति उपेक्षा-भाव रखता है, किन्तु कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति-योगरूपी स्वधर्म के आचरण मे नित्य सचेत रहता है। बड़े से बड़ा दुःख भी उसे कर्तव्य-पालन से विमुख नही कर सकता। यथा भगवद्गीता में कहा गया है, 'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।' वह इन प्रासंगिक घटनाओं को सहन करता है, क्योंकि ... भांति जानता है कि वे आती जाती रहती हैं और इससे ...

पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वह योग के अभ्यास से परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

सः=उस योग-पद्धति का; **निश्चयेन**=दृढ़ निश्चय पूर्वक; **योक्तव्यः**=अवश्य अभ्यास करे; **योगः**=योग; **अनिर्विण्ण चेतसा**=विचलित हुये बिना; **संकल्प**=विषय वासना से; **प्रभवान्**=उत्पन्न; **कामान्**=इन्द्रिय तृप्ति के; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **अशेषतः**=पूर्ण रूप से; **मनसा**=मन द्वारा; **एव**=निस्सन्देह; **इन्द्रियग्रामम्**=सम्पूर्ण इन्द्रियों को; **विनियम्य**=वश में करके; **समन्ततः**=सब ओर से।

अनुवाद

योग का अभ्यास अचल दृढ़ता और श्रद्धा के साथ करे। योगी को चाहिए कि मिथ्या अहंकार से उत्पन्न हुई विषय कामनाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर मन द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों को सब ओर से वश में कर ले ॥२४॥

तात्पर्य

योगाभ्यासी निश्चय तथा धैर्य से युक्त होकर, विचलित हुये बिना अभ्यास करे। अन्त में लक्ष्य-सिद्धि अवश्य होगी—इस प्रकार पूर्ण आशावान् रहते हुये महान् धैर्य सहित इस पद्धति का अनुसरण करे। कृतार्थता में विलम्ब होने से हतोत्साहित होना उचित नहीं, क्योंकि अशिथिल अभ्यासी अवश्य-अवश्य सफल होता है। भक्ति-योग के सन्दर्भ में श्रील रूपगोस्वामिचरण का वचन है :

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्तत्तत्कर्मप्रवर्तनात्।
संग त्यागात्सतोवृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिध्यति ॥

"हार्दिक उत्साह, धैर्य, निश्चय, भक्तों के संग में भक्ति के अनुकूल क्रियाओं के सम्पादन और केवल सत्त्वगुणमयी क्रियाएँ करने से भक्ति-योग सिद्ध होता है।"

दृढ़ निश्चय के सम्बन्ध में उस गौरैया का अनुसरण करना चाहिये, जिसके अण्डे सागर की तरंगों में नष्ट हो गये थे। एक गौरैया ने सागर तट पर अण्डे दिये, परन्तु महासमुद्र अपने तरंगों पर उन्हें बहा ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त विक्षुब्ध हो गयी और समुद्र से अण्डे लौटाने को कहा। जैसा स्वाभाविक था, सागर ने उसके निवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर गौरैया ने समुद्र को सुखा डालने का निश्चय कर लिया। अपनी नन्ही चोंच से वह उसका जल उलीचने लगी। सभी उसके असम्भव से निश्चय का उपहास कर रहे थे। इतने में उसकी क्रियाओं का समाचार सर्वत्र प्रसारित हो गया। भगवान् विष्णु के दिव्य वाहन पक्षीराज गरुड़जी ने भी उसका श्रवण किया। अपनी नन्ही बहन पर द्रवित होकर वे उसे देखने पधारे। गौरैया के दृढ़ निश्चय से अत्यन्त प्रसन्न होकर गरुड़जी ने सहायता का वचन दिया। उन्होंने तत्काल समुद्र को चेतावनी दी कि वह चिड़िया के अण्डे लौटा दे, अन्यथा वे स्वयं उसका शोषण करने लगेंगे। इससे भयभीत हुए सागर ने अण्डे लौटा दिये। इस प्रकार गरुड़जी के अनुग्रह से गौरैया सुखी हो गई।

ऐसे ही योगाभ्यास, विशेषतः कृष्णभावनाभावित भक्तियोग आपाततः बड़ा कठिन प्रतीत हो सकता है। तथापि, भक्ति-सिद्धान्तों का दृढ़ता से अनुशीलन करने वाले पर श्रीगोविन्द अशेष-विशेष अनुकम्पा का परिवर्षण करते हैं। यह प्रसिद्ध ही है कि अपनी सहायता करने वालों की श्रीभगवान् भी सब प्रकार से सहायता करते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

शनैः=धीरे-धीरे; शनैः=क्रम-क्रम से, उपरमेत्=विषयों से निवृत्त कर; बुद्ध्या=बुद्धि के द्वारा; धृतिगृहीतया=विश्वास पूर्वक;

आत्मसंस्थम्=समाधि में ; मनः=चित्त को ; कृत्वा=करके ; न=नहीं ; किंचित्=अन्य कुछ ; अपि=भी ; चिन्तयेत्=चिन्तन करे ।

अनुवाद

धीरे-धीरे पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि द्वारा समाधि में स्थित हो जाय और मन से आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी चिन्तन न करे । ।।२५।।

तात्पर्य

पर्याप्त विश्वास एवं बुद्धि के माध्यम से धीरे-धीरे इन्द्रिय-क्रियाओं को रोक देना 'प्रत्याहार' कहलाता है । विश्वास, ध्यान एवं इन्द्रियों के निग्रह से संयमित हुए चित्त को समाधि में अवस्थित करे । ऐसा करने पर, देह में आत्मबुद्धि होने का भय नहीं रहता । भाव यह है कि जब तक प्राकृत देह विद्यमान है, तब तक चाहे लौकिक पदार्थों से सम्पर्क बना रहे,परन्तु इन्द्रिय-तृप्ति का चिन्तन करना ठीक नहीं । भगवान् श्रीकृष्ण की तृप्ति के अतिरिक्त किसी अन्य सुख की कल्पना भी न करे । सीधे कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से यह स्थिति अनायास प्राप्त हो जाती है ।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२६।।

यतः यतः=जिस-जिस कारण से ; निश्चलति=विचलित होता है ; मनः=चित्त ; चञ्चलम्=चञ्चल ; अस्थिरम्=चलायमान ; ततः ततः=वहां-वहां से ; नियम्य=वश में कर ; एतत्=इसे ; आत्मनि=आत्मा में ; एव=ही ; वशम्=संयमित ; नयेत्=करे ।

अनुवाद

चञ्चल और अस्थिर मन जहां-जहां भी विषयों में भटके, वहां-वहां से ही इसको रोककर आत्मा के संयम में स्थापित करे ।।२६।।

तात्पर्य

मन स्वभाव से ही अति चंचल और अस्थिर है। किन्तु योगी के लिए मनोनिग्रह करना अनिवार्य है; उस पर मन का अधिकार होना योग्य नहीं। मन और इन्द्रियों को वश में करने वाला 'गोस्वामी' अथवा 'स्वामी' कहलाता है, जबकि मन के आधीन रहने वाला गोदास (इन्द्रियों का सेवक) है। गोस्वामी को विषय सुख की तुच्छता भलीभांति ज्ञात रहती है। उसकी इन्द्रियां चिन्मय इन्द्रिय-रसानन्द में, इन्द्रियों के अधीश्वर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में ही नियोजित रहती हैं। विशुद्ध इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण का सेवन करना कृष्णभावनामृत कहलाता है। इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करने का यही साधन है। इससे अधिक, योग के अभ्यास की परम सिद्धि भी यही है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

प्रशान्त=श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में; मनसम्=जिसका चित्त इस प्रकार केन्द्रित है; हि=निःसन्देह; एनम्=यह; योगिनम्=योगी; सुखम्=सुख; उत्तमम्=परमोच्च; उपैति=प्राप्त करता है; शान्तरजसम्=जिसका रजोगुण शान्त हो गया है; ब्रह्मभूतम्=जो ब्रह्मभूत होकर मुक्त हो गया है; अकल्मषम्=जो पाप से रहित है।

अनुवाद

मुझ में केन्द्रित मन वाले योगी को निःसन्देह परम सुख की उपलब्धि होती है। वह ब्रह्मभूत होने के कारण मुक्ति-लाभ करता है; उसका चित्त शान्त रहता है, रजोगुण समाप्त हो जाता है और सम्पूर्ण पापकर्म भी निवृत्त हो जाते हैं ॥२७॥

तात्पर्य

विषय वासना से मुक्त होकर भगवद्भक्तियोग से युक्त होना

'ब्रह्मभूत' कहलाता है। 'मद्भक्ति लभते पराम्' (भगवद्गीता १८.५०) श्रीकृष्णचरणारविन्द में मन को अर्पित किए विना ब्रह्मभूत (ब्रह्म-तुल्य चिद्-गुणों से युक्त) नहीं हुआ जा सकता। **'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।'** भगवद्भक्ति अथवा कृष्णभावनामृत में नित्य तन्मय रहना रजोगुण और सम्पूर्ण दोषों से वास्तविक मुक्ति है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

युञ्जन्=योगाभ्यास में तत्पर; **एवम्**=इस भाँति; **सदा**=निरन्तर; **आत्मानम्**=आत्मा; **योगी**=योगी; **विगत**=मुक्त; **कल्मषः**=सम्पूर्ण सांसारिक दूषणों से; **सुखेन**=दिव्य सुख से; **ब्रह्म संस्पर्शम्**=परतत्त्व के नित्य सान्निध्य में अवस्थित; **अत्यन्तम्**=सर्वोपरि; **सुखम्**=सुख को; **अश्नुते**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

आत्म-स्वरूप में दृढ़ता पूर्वक स्थित होकर सब पापों से मुक्त हुआ योगी परम ब्रह्म की संन्निधि में परम सुख का अनुभव करता है ॥२८॥

तात्पर्य

आत्मानुभूति का अर्थ है परतत्त्व श्रीकृष्ण से सम्बन्धित अपने स्वरूप का ज्ञान, जीव भगवान् का भिन्न-अंश है, अतएव उसका स्वरूप भगवत्सेवा करना है। भगवान् के इस अलौकिक सान्निध्य को ही 'ब्रह्म-संस्पर्श कहते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वभूतस्थम्=सब प्राणियों में स्थित; **आत्मानम्**=परमात्मा को;

सर्व=सम्पूर्ण ; भूतानि=प्राणियों को ; च=भी ; आत्मनि=परमात्मा में ; ईक्षते=देखता है ; योग-युक्त-आत्मा=कृष्णभावनाभावित पुरुष ; सर्वत्र=सब में ; समदर्शनः=समभाव से देखने वाला ।

अनुवाद

यथार्थ योगी सब प्राणियों में मेरा दर्शन करता है और प्राणीमात्र को मुझ में स्थित देखता है । उस भगवत्प्राप्त महापुरुष को सर्वत्र मेरा ही दर्शन होता है ॥२६॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित योगी पूर्ण द्रष्टा है,क्योंकि वह परब्रह्म श्रीकृष्ण को परमात्मा के रूप में प्राणीमात्र के हृदय में विराजमान देखता है । 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।' अपने परमात्मा रूप से श्री भगवान् कुत्ते और ब्राह्मण, दोनों के ही हृदय में हैं । ससिद्ध योगी जानता है कि प्रभु नित्य प्रकृति से परे हैं। अत कुत्ते अथवा ब्राह्मण मे स्थित होने पर भी माया उनका स्पर्श नहीं कर सकती । यही श्रीभगवान् की परम समता है । हृदय में जीवात्मा भी विद्यमान रहता है, परन्तु वह सर्वव्यापक नही है । जीवात्मा तथा परमात्मा में यही अन्तर है । यथार्थ योग का अभ्यास न करने वाला इस स्पष्ट सत्य को नही देख पाता । कृष्णभावनाभावित पुरुष को आस्तिक तथा नास्तिक, दोनों के ही हृदय में श्रीकृष्ण का दर्शन होता है । स्मृति-प्रमाण है .'आततत्त्वाच्च मातृवत्मा हि परमो हरिः' ।

सम्पूर्ण प्राणियों के रचयिता होने से भगवान् श्रीकृष्ण सभी का माता के समान पोषण करते हैं । जिस प्रकार माता अपने सब पुत्रों मे समता रखती है, परम पिता श्रीकृष्ण भी सबके प्रति समभाव रखते हैं । यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि प्राणीमात्र मे परमात्मा का निवास है । बाह्य रूप से भी प्रत्येक प्राणी भगवत्-शक्ति मे ही स्थित है । जैसा सातवें अध्याय में वर्णन है, श्रीभगवान् की दो प्रधान शक्तियां हैं : परा और अपरा । परा शक्ति का अंश होने पर भी जीवात्मा अपरा शक्ति

'ब्रह्मभूत' कहलाता है। 'मद्भक्ति लभते पराम्' (भगवद्गीता १८.५०) श्रीकृष्णचरणारविन्द में मन को अर्पित किए बिना ब्रह्मभूत (ब्रह्म-तुल्य चिद्-गुणों से युक्त) नहीं हुआ जा सकता। **'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।'** भगवद्भक्ति अथवा कृष्णभावनामृत में नित्य तन्मय रहना रजोगुण और सम्पूर्ण दोषों से वास्तविक मुक्ति है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

युञ्जन्=योगाभ्यास में तत्पर; **एवम्**=इस भांति; **सदा**=निरन्तर; **आत्मानम्**=आत्मा; **योगी**=योगी; **विगत**=मुक्त; **कल्मषः**=सम्पूर्ण सांसारिक दूषणों से; **सुखेन**=दिव्य सुख से; **ब्रह्म संस्पर्शम्**=परतत्त्व के नित्य सान्निध्य में अवस्थित; **अत्यन्तम्**=सर्वोपरि; **सुखम्**=सुख को; **अश्नुते**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

आत्म-स्वरूप में दृढ़ता पूर्वक स्थित होकर सब पापों से मुक्त हुआ योगी परम ब्रह्म की संन्निधि में परम सुख का अनुभव करता है ॥२८॥

तात्पर्य

आत्मानुभूति का अर्थ है परतत्त्व श्रीकृष्ण से सम्बन्धित अपने स्वरूप का ज्ञान, जीव भगवान् का भिन्न-अंश है, अतएव उसका स्वरूप भगवत्सेवा करना है। भगवान् के इस अलौकिक सान्निध्य को ही 'ब्रह्म-संस्पर्श कहते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वभूतस्थम्=सब प्राणियों में स्थित; **आत्मानम्**=परमात्मा को;

सर्व=सम्पूर्ण ; भूतानि=प्राणियों को ; च=भी ; आत्मनि=परमात्मा में ; ईक्षते=देखता है ; योग-युक्त-आत्मा=कृष्णभावनाभावित पुरुष ; सर्वत्र=सब में ; समदर्शनः=समभाव से देखने वाला ।

अनुवाद

यथार्थ योगी सब प्राणियों में मेरा दर्शन करता है और प्राणीमात्र को मुझ में स्थित देखता है । उस भगवत्प्राप्त महापुरुष को सर्वत्र मेरा ही दर्शन होता है ।।२९।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित योगी पूर्ण द्रष्टा है,क्योंकि वह परब्रह्म श्रीकृष्ण को परमात्मा के रूप में प्राणीमात्र के हृदय में विराजमान देखता है । **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।'** अपने परमात्मा रूप से श्री भगवान् कुत्ते और ब्राह्मण, दोनों के ही हृदय में हैं । संसिद्ध योगी जानता है कि प्रभु नित्य प्रकृति से परे हैं। अतः कुत्ते अथवा ब्राह्मण में स्थित होने पर भी माया उनका स्पर्श नहीं कर सकती । यही श्रीभगवान् की परम समता है । हृदय में जीवात्मा भी विद्यमान रहता है, परन्तु वह सर्वव्यापक नहीं है । जीवात्मा तथा परमात्मा में यही अन्तर है । यथार्थ योग का अभ्यास न करने वाला इस स्पष्ट सत्य को नही देख पाता । कृष्णभावनाभावित पुरुष को आस्तिक तथा नास्तिक, दोनों के ही हृदय में श्रीकृष्ण का दर्शन होता है । स्मृति-प्रमाण है :**'आततत्त्वाच्च मातृव-वात्मा हि परमो हरिः'** ।

सम्पूर्ण प्राणियों के रचयिता होने से भगवान् श्रीकृष्ण सभी का माता के समान पोषण करते हैं । जिस प्रकार माता अपने सब पुत्रों में समता रखती है, परम पिता श्रीकृष्ण भी सबके प्रति समभाव रखते हैं । यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि प्राणीमात्र में परमात्मा का निवास है । बाह्य रूप से भी प्रत्येक प्राणी भगवत्-शक्ति मे ही स्थित है । जैसा सातवें अध्याय में वर्णन है, श्रीभगवान् की दो प्रधान शक्तियां हैं : परा और अपरा । परा शक्ति का अंश होने पर भी जीवात्मा अपरा शक्ति

में बद्ध है। इस प्रकार वह सदा भगवच्छक्ति में ही स्थित है। एक न एक श्रीकृष्ण का दास है। कृष्णभावनाभावित भक्त इस सम-दृष्टि से पूर्ण-देखता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में यद्यपि जीव अपने कर्मफल के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में स्थित हैं, परन्तु वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण के नित्यदास हैं। अपरा शक्ति में स्थित जीव प्राकृत इन्द्रियों की सेवा करता है; पराशक्ति में स्थित होने पर वही साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर हो जाता है। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में जीव श्रीकृष्ण का दास है। कृष्णभावनाभावित भक्त इस सम-दृष्टि से पूर्ण-तया युक्त रहता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

यः=जो; **माम्**=मुझे; **पश्यति**=देखता है; **सर्वत्र**=सबमें; **सर्वम्**=सब कुछ; **च**=तथा; **मयि**=मुझ में; **पश्यति**=देखता है; **तस्य**=उसके लिए; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **प्रणश्यामि**=अप्राप्त होता; **सः**=वह; **च**=भी; **मे**=मेरे लिए; **न**=नहीं; **प्रणश्यति**=लुप्त होता।

अनुवाद

जो मुझे सबमें देखता है और सब कुछ मुझ में स्थित देखता है, उसके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता अर्थात् सदा प्राप्त रहता हूं और वह भी मेरे लिए कभी अदृश्य नहीं होता॥३०॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित भक्त निःसन्देह सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन करता है और सब कुछ श्रीकृष्ण में ही स्थित देखता है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति माया की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत होता है, परन्तु सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति की ही अभिव्यंजना है, इस चेतना से युक्त

होने से वह नित्य-निरन्तर कृष्णभावना से ही भावित रहता है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं; इसलिए उनके बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही हो सकता। यह कृष्णभावनामृत का प्रधान सिद्धान्त है। कृष्णभावनामृत का तात्पर्य कृष्ण प्रेम का परिवर्धन करना है। यह अवस्था भव-मुक्ति से भी लोकोत्तर है। यह आत्मानुभूति से परे वह स्थिति है, जिसमें भक्त का श्रीकृष्ण से इस रूप में ऐक्य हो जाता है कि श्रीकृष्ण ही भक्त के प्राणाराध्य सर्वस्व बन जाते हैं, जिससे वह पूर्णतया कृष्णप्रेमाविष्ट हो जाता है। इससे भगवान् और उनके भक्त में एक अंतरंग प्रेममय रस-सम्बन्ध स्थापित होता है। उसी अवस्था में जीवात्मा को अपने अमृत-स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भक्त के नयनों से कभी ओझल नहीं होते। श्रीकृष्ण से सायुज्य को प्राप्त होना तो आत्म-विनाश होगा। भक्त ऐसी भूल कभी नहीं करता। 'ब्रह्म संहिता' में कहा है :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपः
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

'मैं आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूं, भक्तगण जिनका दर्शन प्रेमरूपी अञ्जन से विच्छुरित हुए नयनों द्वारा अहर्निश करते रहते हैं। भक्तों के हृदय में अपने श्यामसुन्दर रूप में वे नित्य दर्शनीय हैं।' (ब्रह्म संहिता ५.३८)

इस प्रेमावस्था में, श्रीकृष्ण भक्तों की दृष्टि से कभी तिरोहित नहीं होते, भक्तों को उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। हृदय मे विराजमान परमात्मा विष्णु का अवलोकन करने वाले योगी के विषय में भी यही सत्य है। वह यथा समय शुद्ध-भक्त बन जाता है और क्षणमात्र के लिए भी अन्तर्यामी प्रभु का दर्शन किये बिना नही रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

में बद्ध है। इस प्रकार वह सदा भगवच्छक्ति में ही स्थित है। एक न एक श्रीकृष्ण का दास है। कृष्णभावनाभावित भक्त इस सम-दृष्टि से पूर्ण-देखता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में यद्यपि जीव अपने कर्मफल के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में स्थित हैं, परन्तु वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण के नित्यदास हैं। अपरा शक्ति में स्थित जीव प्राकृत इन्द्रियों की सेवा करता है; पराशक्ति में स्थित होने पर वही साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर हो जाता है। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में जीव श्रीकृष्ण का दास है। कृष्णभावनाभावित भक्त इस सम-दृष्टि से पूर्ण-तया युक्त रहता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

यः=जो; **माम्**=मुझे; **पश्यति**=देखता है; **सर्वत्र**=सबमें; **सर्वम्**=सब कुछ; **च**=तथा; **मयि**=मुझ में; **पश्यति**=देखता है; **तस्य**=उसके लिए; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **प्रणश्यामि**=अप्राप्त होता; **सः**=वह; **च**=भी; **मे**=मेरे लिए; **न**=नहीं; **प्रणश्यति**=लुप्त होता।

अनुवाद

जो मुझे सबमें देखता है और सब कुछ मुझ में स्थित देखता है, उसके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता अर्थात् सदा प्राप्त रहता हूं और वह भी मेरे लिए कभी अदृश्य नहीं होता ॥३०॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित भक्त निःसन्देह सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन करता है और सब कुछ श्रीकृष्ण में ही स्थित देखता है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति माया की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत होता है, परन्तु सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति की ही अभिव्यंजना है, इस चेतना से युक्त

होने से वह नित्य-निरन्तर कृष्णभावना से ही भावित रहता है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं; इसलिए उनके बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। यह कृष्णभावनामृत का प्रधान सिद्धान्त है। कृष्णभावनामृत का तात्पर्य कृष्ण प्रेम का परिवर्धन करना है। यह अवस्था भव-मुक्ति से भी लोकोत्तर है। यह आत्मानुभूति से परे वह स्थिति है, जिसमें भक्त का श्रीकृष्ण से इस रूप में ऐक्य हो जाता है कि श्रीकृष्ण ही भक्त के प्राणाराध्य सर्वस्व बन जाते हैं, जिससे वह पूर्णतया कृष्णप्रेमाविष्ट हो जाता है। इससे भगवान् और उनके भक्त में एक अंतरंग प्रेममय रस-सम्बन्ध स्थापित होता है। उसी अवस्था में जीवात्मा को अपने अमृत-स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भक्त के नयनों से कभी ओझल नहीं होते। श्रीकृष्ण से सायुज्य को प्राप्त होना तो आत्म-विनाश होगा। भक्त ऐसी भूल कभी नहीं करता। 'ब्रह्म संहिता' में कहा है :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

'मैं आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूं, भक्तगण *जिनका दर्शन* प्रेमरूपी अञ्जन से विच्छुरित हुए नयनों द्वारा अहर्निश करते रहते हैं। भक्तों के हृदय में अपने श्यामसुन्दर रूप में वे नित्य दर्शनीय हैं।' (ब्रह्म संहिता ५.३८)

इस प्रेमावस्था में, श्रीकृष्ण भक्तों की दृष्टि से कभी तिरोहित नहीं होते, भक्तों को उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। हृदय में विराजमान परमात्मा विष्णु का अवलोकन करने वाले योगी के विषय में भी यही सत्य है। वह यथासमय शुद्ध-भक्त बन जाता है और क्षणमात्र के लिए भी अन्तर्यामी प्रभु का दर्शन किये बिना नहीं रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

सर्वभूतस्थितम्=प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित; यः=जो; माम् =मेरी; भजति=भक्तिभावपूर्वक सेवा करता है; एकत्वम्=एकत्व में; आस्थितः=स्थित; सर्वथा=सब प्रकार से; वर्तमानः=स्थित हुआ; अपि=भी; सः=वह; योगी=योगी; मयि=मेरे में; वर्तते= निवास करता है।

अनुवाद

जो योगी मुझे और सब प्राणियों में स्थित परमात्मा विष्णु को एक समझकर मेरा भजन करता है, वह सदा मुझमें ही निवास करता है ।।३१।।

तात्पर्य

परमात्मा के ध्यान के परायण हुआ योगी अपने हृदय में श्रीकृष्ण के अंश चतुर्भुज विष्णु का दर्शन करता है, जो शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करते हैं। योगी को जानना चाहिए कि विष्णु श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। परमात्मा विष्णु के रूप में श्रीकृष्ण ही प्राणी-मात्र के हृदय में विराज रहे हैं। इससे अधिक, असंख्य जीवों के हृदयों में स्थित परमात्मा विष्णु के रूपों में भेद नहीं है। अतएव भक्तियोग में तन्मय हुए कृष्ण-भावनाभावित भक्त और परमात्मा विष्णु का ध्यान करने वाले पूर्णयोगी में भी कोई भेद नहीं होता। जीवन काल में विविध क्रियाओं में संलग्न रहने पर भी कृष्णभावनाभावित योगी नित्य श्रीकृष्ण में ही परिनिष्ठित रहता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इसकी सम्पुष्टि है: 'निखिलेषु अवस्थासु जीवन्मुक्त स उच्यते।' नित्य कृष्ण-भावनाभावित कर्म के ही परायण रहने वाला भगवद्भक्त स्वतः मुक्त हो जाता है। 'नारद पाञ्चरात्र' द्वारा भी यह अनुमोदित है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च ।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत् ।।

'श्रीकृष्ण के देश-काल से अतीत सर्वव्यापक श्रीविग्रह पर ध्यान एकाग्र करने से उनके चिन्तन में तन्मयता प्राप्त होती है और तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की दिव्य संनिधि रूपी सुखावस्था भी उपलब्ध हो जाती है।'

कृष्णभावनामृत योग द्वारा प्राप्त होने वाली समाधि की पराकाष्ठा है। श्रीकृष्ण परमात्मा रूप से प्राणी-मात्र के हृदय में वास करते हैं—केवल इस प्रबोध से ही योगी सब प्रकार के दोषों से मुक्त हो जाता है। वेद श्रीभगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति का समर्थन करते हैं :

एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति ।
ऐश्वर्याद्रूपमेकं च सूर्यवद् बहुधेयते ॥

'अद्वितीय होने के साथ ही श्रीविष्णु निःसन्देह सर्वव्यापक हैं। वे अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एक विग्रह से भी सर्वत्र विद्यमान हैं। सूर्य के समान, वे भी अनेक स्थलों में एक ही काल में प्रकट रहते हैं।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

आत्म-औपम्येन=आत्मा के समान; सर्वत्र=सब में; समम्=समतापूर्वक; पश्यति=देखता है; यः=जो; अर्जुन=हे अर्जुन; सुखम्=सुख; वा=अथवा; यदि=यदि; वा=अथवा; दुःखम्=क्लेश; सः=वह; योगी=योगी; परमः=परमश्रेष्ठ; मतः=माना गया है।

अनुवाद

हे अर्जुन ! वह योगी परमश्रेष्ठ है जो अपने आत्मा की उपमा सुख दु.ख की प्राप्ति में सब प्राणियों को समान देखता है ॥३२॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित भक्त परम योगी होता है। अपने निजी अनुभव के आधार पर उसे प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख का बोध रहता है। जीव के क्लेशों का कारण भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को देना है। दूसरी ओर श्रीकृष्ण को मानवीय क्रियाओं का परम भोक्ता मानना सुख का हेतु है। श्रीकृष्ण ही संपूर्ण भूमि और लोकों के सार्वभौम अधिपति हैं। भगवत्प्राप्त योगी जीव मात्र का परम सुहृद् होता है। वह जानता है कि

श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण माया के गुणों में बंधे जीवात्मा को त्रिविध क्लेशों की प्राप्ति होती है। कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य सौख्यामृतसिन्धु में निमज्जित रहता है। दूसरों को भी इस परम सुख की प्राप्ति हो, इसके लिए वह कृष्ण-तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करने का प्राण-पण से प्रयास करता है। कृष्णभावना को प्रसारित करने का प्रयास करने वाला पूर्ण योगी विश्व का सर्वोत्तम परोपकारी है। इससे भी अधिक, वह श्रीभगवान् का प्राणाधिक प्रेमास्पद सेवक है। **'न तस्मात् कश्चिद् मे प्रियकृत्तमः।'** अर्थात् भगवद्भक्त जीव मात्र का कल्याण करने में ही नित्य तत्पर रहता है, इस कारण वह सब का सुहृद् है। उसे सर्वोत्तम योगी कहा गया है, क्योंकि वह योग की संसिद्धि स्वार्थ-लाभ के लिए नहीं चाहता, वरन् अन्य प्राणियों के कल्याण के लिए नित्य उद्यत रहता है। वह किसी से भी ईर्ष्या नहीं करता। शुद्ध भगवद्भक्त और स्वार्थ-सिद्धि की कामना वाले योगी में यह महान् अन्तर है। एकान्त में ध्यान करने वाला योगी उस भक्त के समान सफल नहीं हो सकता, जो प्रत्येक मनुष्य को कृष्णभावनाभावित करने के उद्देश्य से यथाशक्ति प्राण-पण से पूर्ण प्रयास करता है।

अर्जुन उवाच।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **यः**=जो; **अयम्**=यह; **योगः**=योग; **त्वया**=आपके द्वारा; **प्रोक्तः**=कहा गया; **साम्येन**=समत्वभाव से; **मधुसूदन**=हे मधु दैत्य के हन्ता; **एतस्य**=इसकी; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **पश्यामि**=देखता हूं; **चञ्चलत्वात्**=चञ्चलता के कारण; **स्थितिम्**=गति; **स्थिराम्**=स्थायी।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपके द्वारा कही गयी यह योग-

पद्धति मन की चञ्चलता और अस्थिरता के कारण मुझे अव्यावहारिक और अस्थायी प्रतीत होती है ॥३३॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए 'शुचौ देशे' से लेकर 'योगी परमः' तक जिस योग-पद्धति का वर्णन किया, अर्जुन ने यहां उसे अस्वीकार किया है, क्योंकि वह अपने को इसके योग्य नहीं समझता। इस कलियुग में साधारण मनुष्य के लिए योगाभ्यास के हेतु गृहत्यागकर पर्वतीय क्षेत्र अथवा वन-प्रदेश में जाना सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में स्वल्प आयु के लिए घोर सङ्घर्ष चल रहा है। आजकल साधारण व्यक्ति भगवत्प्राप्ति के सुगम एवं व्यावहारिक साधनों में भी गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होते। फिर ऐसी कठिन योग-पद्धति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, जो जीवन-विधि, आसन, स्थान और भोगों में मन की आसक्ति को संयमित करती है। यद्यपि अर्जुन इसके अभ्यास की अनेक अनुकूलताओं से युक्त था, तथापि प्रवृत्ति मार्ग का पथिक होने से उसने इस योग-विधि को असाध्य कहा है। अर्जुन अपने राजकुल के योग्य विविध गुणों से युक्त, शूरवीर तथा दीर्घायु था। इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण का वह परम अन्तरङ्ग सखा था। आजसे पांच हजार वर्ष पूर्व, अर्जुन को हमारी तुलना में निःसन्देह कहीं श्रेष्ठ सुविधाएं उपलब्ध थीं। तथापि, उसने इस योग-पद्धति को अङ्गीकार नहीं किया। उसने किसी भी समय इस पद्धति का अभ्यास किया हो, ऐसा कोई भी प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता। इसलिए कलियुग में तो इस विधि को सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिए। कुछ दुर्लभ व्यक्तियों के लिए यह सम्भव हो सकती है, परन्तु साधारण मनुष्यों के लिए तो असाध्य ही है। यदि पांच हजार वर्ष पूर्व यह स्थिति थी तो वर्तमान के विषय में तो कहना ही क्या है? योग के तथाकथित विद्यालयों और सङ्घों में इस योग-पद्धति का अन्धानुकरण करने वाले दृष्टिहीन मनुष्य अपने अमूल्य समय का अपव्यय ही कर रहे हैं। वे योग के यथार्थ लक्ष्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

चञ्चलम्=अस्थिर; हि=निःसन्देह; मनः=चित्त; कृष्ण=हे कृष्ण; प्रमाथि=उद्वेगकारक; बलवत्=बलवान्; दृढम्=दुराग्रही; तस्य=उसका; अहम्=मैं; निग्रहम्=वश में करना; मन्ये=मानता हूं; वायोः=वायु की; इव=भांति; सुदुष्करम्=कठिन ।

अनुवाद

क्योंकि हे कृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल, उद्वेगकारक, बलवान् और दुराग्रही है । इस कारण, मुझे मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन प्रतीत होता है ॥३४॥

तात्पर्य

मन इतना अधिक बलवान् और दुराग्राही हो गया है कि कभी-कभी बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है, यद्यपि स्वभावतः उसे बुद्धि के आधीन रहना चाहिये, सांसारिक मनुष्य को अनेक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है, इस कारण उसके लिए मन को वश में करना निःसन्देह बड़ा कठिन कार्य है । शत्रु-मित्र दोनों में मन को सम करना कृत्रिम रूप में ही सम्भव हो सकता है । वास्तव में तो कोई भी संसारी व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि यह प्रचण्ड वेगवती वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन है । वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है :

आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनो-युक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिनः ॥

'जीवात्मा देह रूपी रथ में सवार है । बुद्धि इसका सारथि है, मन लगाम है और इन्द्रियां घोड़े हैं । इस प्रकार मन और इन्द्रियों के

संग में आत्मा सुख-दु:ख भोगता है—ऐसा मूर्धन्य मनीषियों का कहना है। बुद्धि को मन का नियन्त्रण करना चाहिये, किन्तु मन इतना बलिष्ठ एवं दुराग्रही हो गया है कि प्रायः बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है। इसी कारण मन को वश में करने के लिये योगाभ्यास का विधान है। परन्तु अर्जुन जैसे प्रवृत्ति मार्ग के अनुगामी के लिये इस प्रकार का योगाभ्यास सम्भव नहीं। फिर आधुनिक मानव के सम्बन्ध मे कहना ही क्या है? यहां वायु की उपमा बड़ी उपयुक्त है। वेगवती वायु का वशीकरण किसी के लिए शक्य नहीं। इसकी तुलना में अस्थिर मन को वश में करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा का पालन करते हुए पूर्ण दैन्य भाव से हरे कृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करना मनोनिग्रह की सबसे सुगम विधि है। यह पद्धति इस प्रकार है—'स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः' अर्थात् मन को श्रीकृष्ण में ही तन्मय कर देना चाहिये। ऐसा करने पर ही ऐसा कोई कारण नहीं रहेगा, जिससे चित्त उद्विग्न हो।

श्रीभगवानुवाच।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **असंशयम्**=निःसन्देह; **महाबाहो**=हे महापराक्रमी अर्जुन; **मनः**=मन को; **दुर्निग्रहम्**=वश में करना कठिन है; **चलम्**=चञ्चल; **अभ्यासेन**=अभ्यास द्वारा; **तु**=किन्तु; **कौन्तेय**=हे कुन्ती पुत्र; **वैराग्येण**=अनासक्ति से; **च**=भी; **गृह्यते**=इस प्रकार वश में किया जा सकता है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे महाबाहो कुन्तीनन्दन! चञ्चल मन का संयम करना निस्सन्देह बड़ा कठिन है, परन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से मन वश में हो सकता है ॥३५॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अर्जुन के इस कथन को स्वीकार किया है कि दुराग्रही मन को वश में करना बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु साथ ही, उनका कहना है कि अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा यह सम्भव हो जाता है। इस अभ्यास का स्वरूप जानना आवश्यक है। वर्तमान कलियुग में तीर्थवास, परमात्मा का ध्यान, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, ब्रह्मचर्य, एकान्त-वास आदि कठोर विधि-विधानों का पालन नहीं हो सकता। ऐसे में कृष्ण-भावना के अनुशीलन से मनुष्य स्वतः नवधा भगवद्भक्ति के परायण हो जाता है। भक्ति की सर्वप्रथम श्रेणी कृष्ण-कथा का श्रवण करना है। मन को समस्त अनर्थों से शुद्ध करने की यह बड़ी शक्तिशाली विधि है। कृष्ण-कथा का जितना अधिक श्रवण किया जायगा, मन उतना ही अधिक प्रवुद्ध होकर श्रीकृष्ण से विमुख करने वाली वस्तुओं से अनासक्त हो जायगा। जिन प्राणी पदार्थों का श्रीकृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं, उनसे मन के अनासक्त हो जाने पर सुगमता से वैराग्य हो जाता है। वैराग्य का अर्थ है पदार्थों में अनासक्ति और भगवान् में चित्त की आसक्ति। कृष्ण-लीला में मन को आसक्त करने की अपेक्षा निर्विशेष वैराग्य अधिक दुःसाध्य है। कृष्ण-लीलासक्ति वस्तुतः बड़ी सुखसाध्य है, क्योंकि लीला-श्रवण करने मात्र से श्रोता परमेश्वर श्रीश्यामसुन्दर में अनुरक्त हो जाता है। इस आसक्ति भाव को 'परेशानुभूति' कहते हैं। यह भाव भूखे को अन्न के कण-कण से प्राप्त होने वाली संतुष्टि के तुल्य है। इसी प्रकार, भक्ति के प्रभाव से मन की पदार्थासक्ति शान्त हो जाती है तथा चिद्-रसानन्द-संतोषण की अनुभूति होती है। यह पद्धति कुशल चिकित्सा एवं उपयुक्त आहार द्वारा रोग निदान करने के समान है। भगवान् श्रीकृष्ण के लोकोत्तर लीला-चरित्र का श्रवण विषयों से उन्मत्त हुए मन के लिये कुशल उपचार का काम करता है और कृष्ण-प्रसाद भवरोग के लिए उपयुक्त आहार है। यह सर्वाङ्गीण उपचार ही कृष्णभावनामृत की पद्धति का सार है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

असंयत=उच्छृङ्खल ; आत्मना=मन द्वारा ; योगः=भगवत्प्राप्ति ; दुष्प्रापः=कठिन ; इति=ऐसा ; मे=मेरा ; मतिः=मत है ; वश्य=वश में किए ; आत्मना=मन द्वारा ; तु=किन्तु ; यतता=प्रयत्न करने पर ; शक्यः=सम्भव है ; अवाप्तुम्=प्राप्त होना ; उपायतः=उपयुक्त साधनों द्वारा ।

अनुवाद

मन को वश में न करने वाले के लिए भगवत्प्राप्ति रूप योग को प्राप्त होना कठिन है, परन्तु जीते हुए मन वाले के लिए उपयुक्त साधन द्वारा इसकी प्राप्ति निश्चित है । ऐसा मेरा मत है ॥३६॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण का उद्घोष है कि सांसारिक क्रियाओं से मन को अनासक्त करने के उचित उपचार को अंगीकार न करने वाला भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में सफल नही हो सकता । योगाभ्यास का प्रयत्न करते हुए भी मन से विषय भोग के ही परायण रहना अग्नि पर जल उंडेलते हुए साथ-साथ उसे प्रज्वलित करने के लिए प्रयत्न करना है । अतः मन को वश में किए बिना योगाभ्यास करना समय का अपव्यय मात्र होगा । ऐसा कपटपूर्ण योगाभ्यास विषय भोगप्रद तो हो सकता है, परन्तु भगवत्प्राप्ति की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक ही है । अतः मन को नित्य-निरन्तर प्रेममयी गोविन्द-सेवा में नियुक्त रखकर उसका अवश्य निग्रह करना चाहिए । कृष्णभावनाभावित कर्मों में तत्पर हुए बिना मन को स्थायी रूप से संयमित नही किया जा सकता । कृष्णभावनाभावित भक्त को योगाभ्यास का फल सुगमता से प्राप्त हो जाता है, उसे इसके लिए अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता । दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित हुए बिना योग का साधक कदापि सफल नहीं हो सकता ।

अर्जुन उवाच ।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **अयतिः**=शिथिल प्रयत्न वाला योगी; **श्रद्धया**=श्रद्धापूर्वक; **उपेतः**=संलग्न; **योगात्**=योग से; **चलित**=विचलित; **मानसः**=मन वाला; **अप्राप्य**=प्राप्त न कर; **योग संसिद्धिम्**=योग के परमोच्च लक्ष्य को; **काम्**=किस; **गतिम्**=गति को; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **गच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे माधव! उस शिथिल यत्न वाले श्रद्धावान् योगी की क्या गति होती है, जो प्रारम्भ में तो भगवत्प्राप्ति का मार्ग ग्रहण करता है, किन्तु बाद में विषयों से चित्त की आसक्ति के कारण योग से विचलित हो जाता है और योग की कृतार्थता को प्राप्त नहीं हो पाता ॥३७॥

तात्पर्य

भगवद्गीता में आत्मतत्त्व की प्राप्ति रूप योग-पथ का सर्वांग प्रतिपादन है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूल सिद्धान्त यह है कि सर्वथा भिन्न और उसका नित्य सुख सच्चिदानन्दमय जीवन में ही सन्निहित है। यह सच्चिदानन्दमयिता देह और चित्त, दोनों से अतीत है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान, अष्टांगयोग अथवा भक्तियोग के पथ का अनुगमन किया जाता है। उनमें से प्रत्येक पद्धति में साधक के लिए जीव के स्वरूप, श्रीभगवान् से उसके सम्बन्ध और परम प्रयोजनीय कृष्णभावना (कृष्ण-प्रेम) की प्राप्ति के लिए श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को फिर से स्थापित करने वाली क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। उपरोक्त तीनों मार्गों में से किसी एक का भी अनुगमन करने

वाले के लिए यथासमय परम लक्ष्य की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है। द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने यही उद्घोष किया है, परमार्थ के मार्ग में किया गया अल्प साधन भी महाभय से त्राणदायक सिद्ध होता है। इन तीनों पथों में भक्तियोग का पथ ही इस युग के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि भगवत्प्राप्ति का सर्वाधिक सीधा मार्ग यही है। इस सम्बन्ध में पूर्ण आश्वस्त होने के लिए अर्जुन श्रीकृष्ण से अपने पूर्वकथित वाक्य की सम्पुष्टि करने का अनुरोध कर रहा है। इस युग में परमार्थ के मार्ग को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करने वाले के लिए भी ज्ञान और अष्टांगयोग की पद्धतियां अत्यन्त कठिन हैं। अजस्र प्रयास करने पर भी अनेक कारणों से इनका साधक असफल रह सकता है। सर्वप्रथम, सम्भव है, पथ का सम्यक् अनुगमन ही न हो। परमार्थ के पथ पर बढ़ना माया पर आक्रमण करने के समान है। परिणामस्वरूप, जब भी कोई जीव माया-बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है, तो माया नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उसे परास्त करने का यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न करती है। बद्ध जीव माया के त्रिविध गुणों से पहले ही मोहित है। इस कारण परमार्थ-साधना करते हुए फिर मोहित हो जाने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी को 'योगाच्चलित मानसः' (योग मार्ग से भ्रष्ट होना) कहते हैं। अर्जुन जानना चाहता है कि इस प्रकार योग-भ्रष्ट हुए पुरुष की क्या गति होती है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८॥

कच्चित्=क्या; न=नहीं; उभय=दोनों ओर से; विभ्रष्टः=भ्रष्ट हुआ; छिन्न=छिन्न-भिन्न; अभ्रम=मेघ की; इव=भांति, नश्यति=नष्ट हो जाता; अप्रतिष्ठः=आश्रयरहित; महाबाहो=हे पराक्रमी श्रीकृष्ण; विमूढः=विमोहित; ब्रह्मणः=भगवत्प्राप्ति के; पथि=मार्ग में।

अनुवाद

हे महाबाहो श्रीकृष्ण ! भगवत्प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट हुआ ऐसा सर्वथा आश्रयरहित व्यक्ति कहीं छिन्न मेघ की भांति नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥३८॥

तात्पर्य

उन्नति के दो मार्ग हैं। विषयियों की परतत्त्व में कुछ भी रुचि नहीं होती। वे आर्थिक उन्नति के द्वारा विषय भोगों की अभिवृद्धि करना अथवा यथोचित कर्म द्वारा उच्च लोकों की प्राप्ति करना ही चाहते हैं। दूसरी ओर, भगवत्प्राप्ति के पथ के अनुगामी के लिए सब सांसारिक क्रियाओं का अन्त कर तथाकथित लौकिक सुख को पूर्ण रूप से त्याग देना आवश्यक है। यदि महत्त्वाकांक्षी योगी अकृतकृत्य रहता है, तो वह दोनों प्रकार से हानिग्रस्त प्रतीत होता है, अर्थात् वह न तो विषय सुख का उपभोग कर पाता और न ही भगवत्प्राप्ति का आनन्द उसे उपलब्ध होता है। इस प्रकार वह छिन्न-भिन्न मेघ के समान सर्वथा आश्रयरहित हो जाता है। कभी-कभी आकाश में कोई एक मेघ, छोटे मेघ समूह से अलग होकर बृहद् जलधर में समाविष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसा करने में असफल रहने पर वह वायु के प्रवाह वश विशाल गगन में अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। 'ब्रह्मणः पथ' दिव्य अनुभूति का वह मार्ग है, जिसका पथिक अनुभव करता है कि वह ब्रह्म परमात्मा और भगवान्‌के रूप में प्रकट होने वाले परमेश्वर श्रीकृष्ण का चिन्मय भिन्न-अंश है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परम अद्वयतत्त्व हैं। उन पुरुषोत्तम का शरणागत भक्त अवश्यमेव सिद्ध योगी है। ब्रह्म और परमात्मा की अनुभूति करते हुए जीवन के इस लक्ष्य को प्राप्त करने में अनेक-अनेक जन्म लग सकते हैं : 'बहूनां जन्मनामन्ते।' अतएव भगवत्प्राप्ति का सीधा मार्ग होने के कारण भक्तियोग अथवा कृष्णभावना ही परमोच्च योग है।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

एतत्=इस; मे=मेरे; संशयम्=संशय को; कृष्ण=हे श्याम-सुन्दर; छेत्तुम्=निवृत्त करने के लिए; अर्हसि=(आप ही) योग्य हैं; अशेषतः=पूर्णरूप से; त्वत्=आपके; अन्यः=अतिरिक्त; संशयस्य=संशय का; अस्य=इसका; छेत्ता=दूर करने वाला; न=नहीं; हि=निःसन्देह; उपपद्यते=मिलना सम्भव है।

अनुवाद

हे श्यामसुन्दर! मेरे इस संशय को पूर्णरूप से निवृत्त करने में आप ही समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय को दूर करने वाला मिलना सम्भव नही ॥३९॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण त्रिकालज्ञ (भूत, वर्तमान एवं भविष्य के पूर्ण ज्ञाता) हैं। भगवद्गीता के उपोद्घात में उन्होंने कहा है कि सम्पूर्ण जीव पहले भी अपने स्वरूप में विद्यमान थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्य में (माया-बन्धन से मुक्ति के उपरान्त भी) उनका जीव-स्वरूप बना रहेगा। अतः जीवात्मा के भविष्य विषयक जिज्ञासा का उत्तर वे पूर्व में ही दे चुके हैं। यहां अर्जुन जानना चाहता है कि असफल योगी की क्या गति होती है। श्रीकृष्ण असमोर्ध्व हैं, उसके समान अथवा उससे अधिक कोई नही है। अतः माया के आश्रित रहने वाले तथाकथित महर्षि एवं दार्शनिक निःसन्देह उनके समतुल्य नही हो सकते। भगवान् श्रीकृष्ण का निर्णय संशयों का अन्तिम एवं पूर्ण समाधान है, क्योंकि श्रीकृष्ण त्रिकालज्ञ हैं, जबकि उन्हें कोई भी नही जानता। श्रीकृष्ण और कृष्ण-भावनाभावित भक्त ही यथार्थ में तत्त्वज्ञ हैं।

श्रीभगवानुवाच।
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **पार्थ**=हे पृथा पुत्र (अर्जुन); **न एव**=कदापि नहीं; **इह**=इस संसार में; **न**=कदापि नहीं; **अमुत्र**=अगले जन्म में; **विनाशः**=नाश; **तस्य**=उसका; **विद्यते**=होता; **न**=नहीं; **हि**=निःसन्देह; **कल्याणकृत्**=कल्याणकारी कर्म करने वाला; **कश्चित्**=कोई भी; **दुर्गतिम्**=पतन को; **तात**=हे सखे; **गच्छति**=प्राप्त होता।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता। हे सखे! सदाचारी का कभी अमंगल नहीं होता ॥४०॥

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत (१५.१७) में श्रीनारद मुनि ने व्यासदेव को यह उपदेश दिया है :

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्यप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

'सांसारिक आशाओं को पूर्ण रूप से त्यागकर जो पूर्णरूप से हरि-चरणाश्रित हो गया है, उस भक्त के लिए किसी हानि अथवा पतनरूपी अमंगल की आशंका नहीं रहती। दूसरी ओर, भलीभांति स्वधर्माचरण करने वाले अभक्त को कुछ भी लाभ नहीं होता।' लौकिक लाभ के लिए अनेक शास्त्रोक्त एवं परम्परागत क्रियाओं का विधान है। परमार्थ अर्थात् कृष्णभावना में उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि योगी सब सांसारिक क्रियाओं को त्याग दे। यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कृष्णभावना की पूर्णता होने पर परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु जो इस संसिद्धि को प्राप्त नहीं होता उसकी तो लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही प्रकार से हानि हो जायगी। शास्त्र का विधान है कि स्वधर्म के आचरण में प्रमाद का दोषी पाप-फल भोगने को बाध्य है। परन्तु परमार्थ के सम्बन्ध में अपूर्ण साधन करने पर भी

प्रमाद-दोष नहीं बनता। श्रीमद्भागवत आश्वस्त करती है कि अकृतार्थ योगी के लिए चिन्ता का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। स्वधर्म-पालन में प्रमाद का दोषी होने पर भी वह क्षतिग्रस्त नहीं होगा, क्योंकि परम कल्याणकारी कृष्णभावना के अल्प साधन का भी कभी नाश नहीं होता। इसके परायण हुआ पुरुष जन्मान्तर में निम्न योनि में उत्पन्न होने पर भी पहले की भांति ही भक्ति करता है। इसके विपरीत, जो केवल दृढ़तापूर्वक स्वधर्म का आचरण करता है, उस कृष्णभावनाविहीन को कल्याण की प्राप्ति नही होती।

इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार समझा जा सकता है। मानव समाज में संयमित तथा उच्छृह्खल मनुष्यों की ये दो श्रेणियां हैं। पुनर्जन्म और मुक्ति के ज्ञान के बिना पशुवत् इन्द्रिय-तृप्ति करने वाले मनुष्य द्वितीय श्रेणी में आते हैं तथा संयमित मनुष्यों की श्रेणी में वे हैं जो शास्त्र के अनुसार स्वधर्म का आचरण करते हैं। सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित बलिष्ठ अथवा दुर्बल आदि सभी प्रकार के असंयमित मनुष्यों में पशुओं के योग्य वृत्तियों की प्रबलता रहती है। उनकी क्रियाएं कल्याणकारी नहीं होतीं, अतः भोजन, शयन, भय तथा मैथुन आदि पशु-तुल्य वृत्तियों का उपभोग करते हुए वे सदा दुःखमय भवरोग से ही ग्रस्त रहते हैं। दूसरी ओर, शास्त्र के अनुसार सयम करने वाले शनैः शनैः कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं और जीवन में निश्चित रूप से उन्नति करते हैं।

कल्याण-मार्ग के पथिकों के तीन वर्ग हैं: (१) सासारिक समृद्धि के लिए शास्त्रोक्त विधि-विधान का पालन करने वाले, (२) भवरोग से मुक्ति के निमित्त साधन करने वाले तथा (३) कृष्णभावनाभावित भक्त। सांसारिक सुख के लिए शास्त्रीय विधान के अनुगामियो की दो उप-श्रेणियां हैं: सकाम कर्मी तथा इन्द्रिय-तृप्ति की वाञ्छा से मुक्त पुरुष। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए सकाम कर्म करने वालों को उच्च लोकादि की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भवबन्धन के कारण वे यथार्थ में कल्याण-पथ के अनुगामी नहीं हैं। अतएव एकमात्र मोक्षदायक क्रियाओ को ही कल्याणकारी कहा जा सकता है। भगवत्प्राप्ति अथवा देहात्म बुद्धि से

मुक्ति के लक्ष्य से न की जाने वाली कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं हो सकती। कृष्णभावनाभावित क्रिया ही कल्याणप्रद कर्म है। इस भक्ति-पथ में प्रगति के लिए स्वेच्छापूर्वक सब प्रकार की शारीरिक असुविधाओं को सहन करने वाला पुरुष निःसन्देह तपोनिष्ठ पूर्णयोगी है। अष्टांगयोग का चरम लक्ष्य कृष्णभावनामृत को प्राप्त करना ही है। इसलिए इसका अभ्यास करना भी कल्याणकारी है और इसके लिए यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न करने वाले को पतन का भय नहीं होना चाहिए।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

प्राप्य=प्राप्त होकर; **पुण्यकृताम्**=पुण्यात्माओं के; **लोकान्**=लोकों को; **उषित्वा**=निवास कर; **शाश्वतीः**=अनेक; **समाः**=वर्ष; **शुचीनाम्**=सदाचारी; **श्रीमताम्**=धनवानों के; **गेहे**=घर में; **योग-भ्रष्टः**=भगवत्प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट योगी; **अभिजायते**=जन्म लेता है।

अनुवाद

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों में अनेक वर्षों तक सुख को भोगकर सदाचारी धनवानों के कुल में जन्म लेता है ॥४१॥

तात्पर्य

योगभ्रष्ट योगी दो प्रकार के होते हैं। एक श्रेणी में वे हैं, जो अल्प साधना के उपरान्त ही भ्रष्ट हो जाते हैं तथा दूसरी ओर वे योगी हैं, जो चिरकाल तक योगाभ्यास कर योग-भ्रष्ट होते हैं। प्रथम श्रेणी के योगी पुण्यात्माओं के उच्च लोक प्राप्त करते हैं। वहां सुदीर्घ-जीवन के अनन्तर पुनः इस पृथ्वी पर किसी शुद्धात्मा ब्राह्मण वैष्णव अथवा धनवान् कुल में जन्म लेते हैं।

योगाभ्यास का यथार्थ प्रयोजन कृष्णभावनामृतरूपी परम संसिद्धि को प्राप्त करना है। परन्तु सांसारिक प्रलोभनों के कारण इस सीमा तक

साधन में दृढ़ न रह पाने वाले मनुष्यों को भगवत्कृपा से अपनी विषय-तृष्णा को तृप्त करने का अवसर दिया जाता है। इसके बाद, उन्हें पवित्र अथवा धनाढ्य कुल में सम्पन्न-जीवन प्राप्त होता है। अतएव इस प्रकार के कुलों में उत्पन्न हुए पुरुषों को चाहिए कि इस महान् सुविधा का लाभ उठाते हुए पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्राण-पण से प्रयास करें।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा=अथवा; योगिनाम्=विद्वान् योगियों के; एव=ही; कुले=कुल में; भवति=जन्म लेता है; धीमताम्=बुद्धिमान् के; एतत् =यह; हि=निःसन्देह; दुर्लभतरम्=अति दुर्लभ है; लोके=इस संसार में; जन्म=जन्म; यत्=जो; ईदृशम्=इस प्रकार का।

अनुवाद

अथवा (चिरकाल तक योगाभ्यास करके भ्रष्ट हुआ पुरुष उन लोकों में न जाकर) ज्ञानी योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस संसार में निःसन्देह अति दुर्लभ है ॥४२॥

तात्पर्य

इस श्लोक में ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म की प्रशंसा की गई है, क्योंकि ऐसे कुल में उत्पन्न हुए बालक को जीवन के प्रारम्भ से ही भागवत-शिक्षा का संस्कार अनायास प्राप्त हो जाता है। 'आचार्य' अथवा 'गोस्वामी' कुलों में विशेष रूप से यह परिपाटी रही है। परम्परा और प्रशिक्षण के कारण ऐसे कुल विद्या तथा भक्तिभाव से अत्यन्त समृद्ध होते थे, इसी कारण उन्हें गुरुपद प्राप्त था। किन्तु विद्या एवं प्रशिक्षण के अभाव में अब वे प्रायः भ्रष्ट हो गये हैं। भगवत्कृपा से आज भी ऐसे कुल विद्यमान हैं, जिनमें प्रत्येक पीढ़ी में योगी उत्पन्न होते हैं। इन कुलों

में जन्म की प्राप्ति निःसन्देह सौभाग्य-सूचक है। सौभाग्यवश, हमारे गुरुदेव ओम् विष्णुपाद परमहंस श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज और हमारा जन्म ऐसे ही सत्कुलों में हुआ। इस प्रकार भगवत्कृपा के फलस्वरूप हम दोनों को जीवन के आदिकाल से ही भगवद्भक्ति की शिक्षा प्राप्त हुई। बाद में, दिव्य शिष्य-परम्परा के अनुसार हमारा मिलन हो गया।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र=वहां; तम्=उस; बुद्धिसंयोगम्=बुद्धियोग को; लभते=पुनः प्राप्त हो जाता है; पौर्व=पहिले; देहिकम्=शरीर के; यतते=साधन करता है; च=तथा; ततः=उससे; भूयः=फिर; संसिद्धौ=संसिद्धि के लिए; कुरुनन्दन=हे कुरुपुत्र अर्जुन।

अनुवाद

उस देह में वह जन्मान्तर के बुद्धियोग को पुनः प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार योगयुक्त होकर हे अर्जुन! भगवत्प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर अधिक साधन करता है॥४३॥

तात्पर्य

राजा भरत, जिन्हें योगभ्रष्ट हो जाने पर श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म की प्राप्ति हुई थी, इस सत्य के प्रतीक हैं कि योगभ्रष्ट पुरुष का जन्म ऐसे सत्-कुल में होता है, जहां पूर्व शरीर में अर्जित बुद्धियोग उसे फिर से प्राप्त हो जाय। भरत सम्पूर्ण विश्व के सार्वभौम सम्राट थे। उन्हीं के समय से यह लोक भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। उनसे पूर्व इसे इलावर्त वर्ष कहा जाता था। महामहिम सम्राट ने भगवत्प्राप्ति के लिए अल्प आयु में ही संन्यास ले लिया, परन्तु सफल नहीं हुए। अगले जन्म में श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। वहां उनका नाम

जड़भरत हुआ, क्योंकि वे किसी से भी वार्तालाप किये बिना नित्य एकान्त-सेवन किया करते थे। तदनन्तर, राजा रहूगण को परम योगी के रूप में उनका साक्षात्कार हुआ। उनके चरित्र से ज्ञात होता है कि भगवत्प्राप्ति के लिये किया गया साधन अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। श्रीभगवान् के अनुग्रह से योगी को बारंबार ऐसे अवसरों की प्राप्ति होती है, जिससे कृष्णभावना में पूर्ण संसिद्धि लाभ कर सके।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्व=पिछले; अभ्यासेन=अभ्यास से; तेन=उस; एव=ही; ह्रियते=आकर्षित होता है; हि=निःसन्देह; अवशः=असहाय हुआ; अपि=भी; सः=वह; जिज्ञासु=जानने का अभिलाषी; अपि=भी; योगस्य=योग का; शब्द ब्रह्म=शास्त्र के कर्मकाण्ड का; अतिवर्तते=उल्लंघन करता है।

अनुवाद

पूर्वजन्म के भगवद्भाव (बुद्धियोग) के प्रभाव से वह अपने आप योग की ओर आकृष्ट हो जाता है। योग के लिए प्रयास करने वाला ऐसा जिज्ञासु योगी भी शास्त्र के कर्मकाण्ड का उल्लंघन कर जाता है ॥ ४४ ॥

तात्पर्य

उच्च योगी शास्त्रीय कर्मकाण्ड में अधिक आसक्त नहीं होते। परन्तु योग के प्रति स्वतः आकृष्ट हो जाते हैं, जो उन्हें सर्वोच्च यौगिक-सिद्धि–कृष्णभावनामें आरूढ़ कर सकता है। श्रीमद्भागवत (३. ३३. ७८) में भी कहा है कि सिद्ध योगी को वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं रहती :

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

में जन्म की प्राप्ति निःसन्देह सौभाग्य-सूचक है। सौभाग्यवश, हमारे गुरुदेव ओम् विष्णुपाद परमहंस श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज और हमारा जन्म ऐसे ही सत्कुलों में हुआ। इस प्रकार भगवत्कृपा के फलस्वरूप हम दोनों को जीवन के आदिकाल से ही भगवद्भक्ति की शिक्षा प्राप्त हुई। बाद में, दिव्य शिष्य-परम्परा के अनुसार हमारा मिलन हो गया।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र=वहां; **तम्**=उस; **बुद्धिसंयोगम्**=बुद्धियोग को; **लभते**=पुनः प्राप्त हो जाता है; **पौर्व**=पहिले; **दैहिकम्**=शरीर के; **यतते**=साधन करता है; **च**=तथा; **ततः**=उससे; **भूयः**=फिर; **संसिद्धौ**=संसिद्धि के लिए; **कुरुनन्दन**=हे कुरुपुत्र अर्जुन।

अनुवाद

उस देह में वह जन्मान्तर के बुद्धियोग को पुनः प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार योगयुक्त होकर हे अर्जुन! भगवत्प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर अधिक साधन करता है ॥४३॥

तात्पर्य

राजा भरत, जिन्हें योगभ्रष्ट हो जाने पर श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म की प्राप्ति हुई थी, इस सत्य के प्रतीक हैं कि योगभ्रष्ट पुरुष का जन्म ऐसे सत्-कुल में होता है, जहां पूर्व शरीर में अर्जित बुद्धियोग उसे फिर से प्राप्त हो जाय। भरत सम्पूर्ण विश्व के सार्वभौम सम्राट थे। उन्हीं के समय से यह लोक भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। उनसे पूर्व इसे इलावर्त वर्ष कहा जाता था। महामहिम सम्राट ने भगवत्प्राप्ति के लिए अल्प आयु में ही संन्यास ले लिया, परन्तु सफल नहीं हुए। अगले जन्म में श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। वहां उनका नाम

जड़भरत हुआ, क्योंकि वे किसी से भी वार्तालाप किये बिना नित्य एकान्त-सेवन किया करते थे। तदनन्तर, राजा रहूगण को परम योगी के रूप में उनका साक्षात्कार हुआ। उनके चरित्र से ज्ञात होता है कि भगवत्प्राप्ति के लिये किया गया साधन अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। श्रीभगवान् के अनुग्रह से योगी को वारंवार ऐसे अवसरों की प्राप्ति होती है, जिससे कृष्णभावना में पूर्ण संसिद्धि लाभ कर सके।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्व=पिछले ; अभ्यासेन=अभ्यास से ; तेन=उस ; एव=ही ; ह्रियते=आकर्षित होता है ; हि=निःसन्देह ; अवशः=असहाय हुआ ; अपि=भी ; सः=वह ; जिज्ञासुः=जानने का अभिलाषी ; अपि=भी ; योगस्य=योग का ; शब्द ब्रह्म=शास्त्र के कर्मकाण्ड का ; अतिवर्तते=उल्लंघन करता है।

अनुवाद

पूर्वजन्म के भगवद्भाव (बुद्धियोग) के प्रभाव से वह अपने आप योग की ओर आकृष्ट हो जाता है। योग के लिए प्रयास करने वाला ऐसा जिज्ञासु योगी भी शास्त्र के कर्मकाण्ड का उल्लंघन कर जाता है ॥ ४४ ॥

तात्पर्य

उच्च योगी शास्त्रीय कर्मकाण्ड में अधिक आसक्त नहीं होते। परन्तु योग के प्रति स्वतः आकृष्ट हो जाते हैं, जो उन्हें सर्वोच्च यौगिक-सिद्धि–कृष्णभावनामें आरूढ़ कर सकता है। श्रीमद्भागवत (३. ३३. ७८) में भी कहा है कि सिद्ध योगी को वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं रहती :

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

'हे प्रभो! चाण्डाल-कुल में उत्पन्न होने पर भी आपके पावन-नामों का संकीर्तन करने वालों का परमार्थ सफल हो चुका है। इस प्रकार आपका नाम-संकीर्तन करने वाले निःसन्देह सम्पूर्ण तप, यज्ञ, तीर्थ स्नान और शास्त्र-स्वाध्याय कर चुके हैं।'

इस भक्ति-सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रसिद्ध उदाहरण श्रीमन्महाप्रभु चैतन्य देव ने ठाकुर हरिदास को अपना परम अंतरंग शिष्य बनाकर प्रस्तुत किया है। यद्यपि ठाकुर हरिदास मुस्लिम कुल में उत्पन्न हुए थे, तथापि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें नामाचार्य-पद पर आरूढ़ कर दिया, क्योंकि वे नित्य-प्रति नियम से 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'—इस कृष्णनाम का तीन लाख बार जप करते थे। उनके अजस्र नाम-कीर्तन से स्पष्ट है कि पूर्व-जन्म में उन्होंने 'शब्द ब्रह्म' नामक वेदों के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का परागमन कर लिया था, क्योंकि हृदय-शुद्धि से पूर्व कोई भी कृष्णभावना को हृदयङ्गम करने अथवा भगवन्नाम 'हरे कृष्ण' का कीर्तन करने में समर्थ नहीं हो सकता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नात्=दृढ़ अभ्यास द्वारा; **यतमानः**=प्रयत्नशील; **तु**=किन्तु; **योगी**=योगाभ्यासी; **संशुद्ध**=भली भाँति शुद्ध होकर; **किल्बिषः**=संपूर्ण पापों से; **अनेक**=बहुत; **जन्म**=जन्मों से; **संसिद्धः**=पूर्णता को प्राप्त हुआ; **ततः**=उससे; **याति**=प्राप्त होता है; **पराम्**=परम; **गतिम्**=लक्ष्य को।

अनुवाद

दृढ़ अभ्यास के साथ प्रयत्न करने वाला योगी अनेक जन्मों के अभ्यास के प्रभाव से संपूर्ण पापों से शुद्ध होकर अन्त में परम गति को प्राप्त होता है ॥४५॥

तात्पर्य

शुद्ध, धनवान् अथवा पवित्र कुल में उत्पन्न हुए पुरुष को यह बोध हता है कि उसे योगाभ्यास के अनुकूल स्थिति की प्राप्ति हुई है। इसलिए ह दृढ़तापूर्वक अपने अपूर्ण कार्य की पूर्ति में तत्पर हो जाता है और इस कार संपूर्ण पापों से शुद्ध हो जाता है। पापों की पूर्ण निवृत्ति के नन्तर ही परम गति—कृष्णभावना प्राप्त होती है। कृष्णभावना पाप-शुद्धि की परमोच्च अवस्था है। भगवद्गीता में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि की गई है।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मनाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥

'अनेक जन्मान्तरों में सत्कर्म करने से सम्पूर्ण पापों और मोहमय द्वन्द्वों से पूर्णतया मुक्त हुआ मनुष्य ही श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर होता है।'

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

तपस्विभ्यः=तपस्वी से; अधिकः=श्रेष्ठ है; योगी=योगी; ज्ञानिभ्यः=ज्ञानी से; अपि=भी; मतः=माना जाता है; अधिकः=श्रेष्ठ; कर्मिभ्यः=सकाम कर्मी से; च=भी; अधिकः=श्रेष्ठ है; योगी=योगी; तस्मात्=इसलिए; योगी=योगी; भव=हो; अर्जुन=हे अर्जुन।

अनुवाद

योगी पुरुष तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू सब प्रकार से योगी बन॥४६॥

तात्पर्य

'योग' का अर्थ है परमतत्त्व में मति का संयोग।

विधियों के भेद से इस पद्धति के विविध नाम हैं। जब योग पद्धति प्रधानतः कर्मों से सम्बन्धित होती है तो उसे कर्म-योग कहा जाता है; प्रधान रूप में अपरोक्ष अनुभव से सम्बन्धित होने पर उसे ज्ञान-योग कहते हैं और मुख्य रूप से श्रीभगवान् के भक्ति-भावमय सम्बन्ध से युक्त होने पर उसे भक्ति-योग कहते हैं। जैसा अगले श्लोक में श्रीभगवान् ने कहा है, भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत सभी योगों की परम संसिद्धि है। यद्यपि श्रीभगवान् ने यहां योग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है, परन्तु उसे भक्तियोग से उत्तम नहीं कहा। भक्तियोग पूर्ण भगवत्-ज्ञानमय होता है, इसलिए अन्य कोई योग भक्ति से उत्तम नहीं हो सकता। आत्मज्ञान-शून्य तपस्या अपूर्ण है और भगवत्-शरणागति के बिना ज्ञान भी अपूर्ण ही है। ऐसी स्थिति में कृष्णभावनाविहीन सकाम कर्म करना तो समय का अपव्यय मात्र ही होगा। इसलिए भक्तियोग को यहां सर्वोत्तम योग-पद्धति कहा है। अगले श्लोक में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

योगिनाम्=योगियों में; **अपि**=भी; **सर्वेषां**=सब प्रकार के; **मत् गतेन**=मेरे परायण; **अन्तरात्मना**=हृदय से नित्य मेरा चिन्तन करते हुए; **श्रद्धावान्**=पूर्ण श्रद्धासहित; **भजते**=दिव्य सेवा करता है; **यः**=जो; **माम्**=मेरी; **सः**=वह; **मे**=मुझे; **युक्ततमो**=परम योगी; **मतः**=मान्य है।

अनुवाद

सम्पूर्ण योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर अलौकिक भक्ति योग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह परम अन्तरंग रूप में मुझसे संयुक्त है और परम श्रेष्ठ है ॥४७॥

तात्पर्य

इस श्लोक में 'भजते' पद गूढ़ आशयपूर्ण है। 'भजते' पद 'भज' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। पूजना और भजना समानार्थक नहीं हैं। पूजने का अर्थ है पूज्य का अभिवादन। किन्तु प्रेम एवं श्रद्धाभावमयी सेवा विशेष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के लिए प्रयोजित होती है। पूज्य मनुष्य अथवा देवता का पूजन न करने से तो मनुष्य केवल सौजन्यशून्य ही सिद्ध होता है, परन्तु परमेश्वर श्रीकृष्ण की सेवा न करने वाला तो घोर अपराधी हो जाता है। जीवमात्र श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। इसलिए भगवान् की सेवा करना उसका स्वरूप ही है। इस स्वरूप धर्म के पालन में हुआ प्रमाद अधःपतन का हेतु सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत से यह प्रमाणित है :

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टा पतन्त्यधः॥

'जीवमात्र के जन्मदाता आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा रूप परम धर्म के पालन में प्रमाद का दोषी अपनी सहज स्थिति से निःसन्देह गिर जाता है।'

इस श्लोक में भी 'भजन्ति' पद आया है। 'भजन्ति' का प्रयोग श्रीभगवान् के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है, जबकि पूजन शब्द देवता अथवा अन्य साधारण जीवों के लिए भी प्रयुक्त होता है। श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में आया 'अवजानन्ति' शब्द भगवद्गीता में भी आया है : 'अवजानन्ति मां मूढ़ाः' अर्थात् केवल मूर्ख एवं मूढ़ व्यक्ति ही भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं। भगवत्सेवा-भाव से शून्य होते हुए भी ऐसे मूढ भगवद्गीता पर भाष्यों की रचना करते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे 'भजने' और 'पूजने' में पर्याप्त भेद नहीं कर पाते। भक्तियोग में सम्पूर्ण योगों का पर्यवसान संनिहित है। अन्य योग तो वास्तव में भक्तियोग की प्राप्ति के साधन-मात्र हैं। 'योग' का यथार्थ अर्थ वस्तुतः 'भक्तियोग' ही है। ज्ञानादि अन्य योग भक्तियोग रूपी

लक्ष्य की ओर ही अग्रसर करते हैं। भगवत्प्राप्ति का विस्तृत पथ कर्मयोग से प्रारम्भ होकर भक्तियोग में समाप्त होता है। निष्काम कर्मयोग इस पथ का उपक्रम है। कर्मयोग के ज्ञान-वैराग्य में अभिवृद्ध होने पर ज्ञानयोग में स्थिति हो जाती है। जब विविध शारीरिक विधियों द्वारा चित्त परमात्मा विष्णु के प्रगाढ़ ध्यान में तन्मय हो जाता है, तो ज्ञानयोग ध्यान योग में परिणत हो जाता है। अन्त में, अष्टांगयोग का अतिक्रमण कर भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति करने पर ही लक्ष्यरूप भक्तियोग की उपलब्धि होती है। यथार्थ में भक्तियोग ही परम प्रयोजनीय तत्त्व है, परन्तु भक्तियोग के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए इन अन्य योग-पद्धतियों का ज्ञान आवश्यक है अतएव इन योगों में क्रमशः उन्नति करने वाला योगी शाश्वत् सौभाग्य के यथार्थ पथ पर आरूढ़ है। किसी एक स्तर पर ही स्थित रहकर आगे उन्नति न करने वाले को उस-उस स्तर के अनुसार कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी, आदि कहा जाता है। परन्तु यदि कोई सौभाग्यशाली भक्तियोग तक पहुंच जाय, तो समझना चाहिए कि उसने अन्य सब योगों का अतिक्रमण कर लिया है। इस प्रकार कृष्ण-भावना की प्राप्ति योग की परमोच्च अवस्था है, उसी भांति जैसे हिमालय विश्व का सर्वोच्च पर्वत है और उनमें भी एवरेस्ट शिखर सबका पर्यवसान है।

कोई दुर्लभ भाग्यशाली व्यक्ति ही वैदिक विधान के अनुसार स्थित होने के लिये भक्तियोग के पथ को अंगीकार कर कृष्णभावनाभावित बन जाता है। आदर्श योगी श्रीश्यामसुन्दर के अनन्य ध्यान में तन्मय रहता है। श्रीकृष्ण, श्यामसुन्दर इसलिए कहलाते हैं कि श्रीविग्रह का वर्ण नवोदित मेघवत् सौन्दर्य-सदन नीलाभ है, मुखारविन्द सूर्यसम प्रफुल्लित रहता है और वे श्रीअङ्ग में उज्ज्वल परिधान, अलंकार एवं वैजयन्ती माला धारण किए हुए हैं। उनके श्रीअङ्ग से विकीर्यमान ब्रह्म-ज्योति नामक सर्वैश्वर्यमयी प्रभा से सर्व दिशायें आलोकित हो रही हैं। राम, नृसिंह, वराह तथा स्वयं कृष्ण रूप से वे अवतरित होते हैं, विशेषतः यशोदानन्दन के रूप नराकार में अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, आदि नामों द्वारा गीयमान हैं। वे पूर्ण बालक,

वे पूर्ण बालक, पति, सखा और स्वामी के रूप में लीला करते हैं और समग्र ऐश्वर्यों और अप्राकृत गुणों के निधान हैं। जो श्रीभगवान् के इन चिन्मय गुणादि के सम्बन्ध में पूर्णतया सचेत रहता है, वह परम योगी है।

वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि योग-संसिद्धि की यह चरम अवस्था भक्तियोग द्वारा ही साध्य है :

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'श्रीभगवान् और गुरुदेव में परम श्रद्धा वाले महात्माओं के हृदय में ही वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य स्वतः स्फुरित होता है।'

'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्': 'भक्ति का अर्थ है लौकिक अथवा पारलौकिक—सम्पूर्ण प्राकृत कामनाओं से शून्य भगवत्सेवा। विषयैषणा से मुक्त होकर मन को श्रीकृष्ण में ही पूर्णतया तन्मय कर दे—'नैष्कर्म्य' का यही प्रयोजन है।'

योग की परम संसिद्धि—भक्तियोग अथवा कृष्णभावना के आचरण के ये कतिपय साधन हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥६॥
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये षष्ठोऽध्यायः॥

अथ सप्तमोऽध्यायः



ज्ञानविज्ञानयोग

(श्रीभगवान् का ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच ।
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा ; मयि=मेरे में ; आसक्त मनाः=आसक्त हुआ मन वाला ; पार्थ=हे पृथा पुत्र अर्जुन ; योगम्=योग में ; युञ्जन्=तत्पर ; मत् आश्रयः=मेरे भक्तिभाव (कृष्णभावना) के परायण ; असंशयम्=निःसन्देह ; समग्रम्=पूर्ण रूप से ; माम्=मुझे ; यथा=जिस प्रकार ; ज्ञास्यसि=जानेगा ; तत्=वह ; शृणु=श्रवण कर ।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ (अर्जुन)! मेरे भक्तिभाव से युक्त होकर और मुझमें आसक्त हुए मन के द्वारा योगाभ्यास करने से तू मुझे निःसन्देह जिस प्रकार पूर्णरूप से जानेगा, उसका श्रवण कर ॥१॥

तात्पर्य

भगवद्गीता के इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनामृत के स्वरूप का पूर्ण निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्ण में सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का परिपूर्णतम प्रकाश है। उनके द्वारा अपने ऐश्वर्य के प्रकटीकरण का इस अध्याय में वर्णन है। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होने वाले चार प्रकार की सुकृतियों और कभी कृष्णोन्मुख न होने वाले चार प्रकार के दुर्जनों का उल्लेख भी इसमें है।

भगवद्गीता के प्रथम छः अध्यायों में जीव को अप्राकृत आत्मतत्त्व कहा गया है, जो विविध योग-पद्धतियों के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है। छठे अध्याय के अन्त में निश्चित उल्लेख है कि श्रीकृष्ण में मन की अचल एकाग्रता अर्थात् कृष्णभावना परमोच्च योग-पद्धति है। मन को श्रीकृष्ण में एकाग्र करने से ही परतत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा एकदेशीय परमात्मा विष्णु की अनुभूति परतत्त्व का पूर्ण ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्ण ही पूर्ण विज्ञान हैं। अतएव कृष्णभावनाभावित भक्त पूर्ण तत्त्वज्ञ हो जाता है। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए पुरुष को यह निश्चित प्रबोध हो जाता है कि श्रीकृष्ण ज्ञान की अवधि हैं। विविध योग पद्धतियां तो कृष्णभावनामृत-पथ की उपक्रमणिका मात्र हैं। जिसने सीधे कृष्ण-भावनामृत के पथ को ग्रहण कर लिया है, वह ब्रह्म ज्योति एवं परमात्मा के सम्बन्ध में अपने आप सब कुछ जान जाता है। सारांश में, कृष्ण-भावना-योग के अभ्यास से परतत्त्व, जीवतत्त्व, माया-तत्त्व और इनके द्वारा अभिव्यञ्जित अन्य सब तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

अतः छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के निर्देशानुसार योग का

अभ्यास प्रारम्भ कर दे। नवधा भक्ति करने से मन स्वतः भगवान् श्रीकृष्ण के अभिराम ध्यान में एकाग्र हो जायगा। भक्ति की इन विधियों में श्रवण सर्व प्रधान है। इसी से श्रीभगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है: 'तत्शृणु' 'मेरे से श्रवण कर।' भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रमाण हैं। अतः उनके मुख-चन्द्र से निस्यन्दित वचनामृत के श्रवण का सुयोग कृष्णभावनामृत में प्रगति का सर्वोत्तम सुयोग है। इस कारण, भगवत्-तत्त्व की शिक्षा साक्षात् श्रीकृष्ण अथवा उनके शुद्ध भक्त से ही ग्रहण करनी चाहिए, विद्वत्ता से प्रमत्त हुए धूर्त अभक्त से नहीं।

श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय में परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण को जानने की इस पद्धति का वर्णन है:

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

'वैदिक शास्त्रों अथवा भगवद्गीता के रूप में साक्षात् श्रीकृष्ण से उनकी कथा का श्रवण करने से ही कल्याण हो जाता है। प्राणी-मात्र के हृदय में स्थित भगवान् श्रीकृष्ण सुहृद् की भांति कार्य करते हुए कृष्ण-कथा का नित्य श्रवण करने वाले भक्त को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार, भक्त का सुप्त ज्ञान अपने शुद्ध रूप में फिर से उद्भासित हो जाता है। श्रीमद्-भागवत और भक्तों से कृष्ण-कथा के अधिकाधिक श्रवण से भगवद्भक्ति में निष्ठा हो जाती है। भक्ति की प्रगाढ़ता होने पर रजोगुण एवं तमोगुण से मुक्ति होती है और इस प्रकार काम, लोलुपता आदि का क्षय हो जाता है। इससे भक्त शुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाता है। तत्पश्चात्

भक्ति-योग से उत्पन्न हुए आह्लाद के फलस्वरूप उसे पूर्ण भगवद्-विज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती है। इस प्रकार विषयैषणा की तीक्ष्ण ग्रन्थी का भेदन कर भक्तियोग उसे तत्क्षण परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान के स्तर (असंशयं समग्रम्) पर आरूढ़ कर देता है।

(श्रीमद्भागवत १.२.१७–२१)

अतः स्वयं श्रीकृष्ण से या कृष्णभावनाभावित भक्तों के मुख से श्रवण करने पर ही कृष्ण-विज्ञान जाना जा सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ज्ञानम्=तत्त्वज्ञान; **ते**=तेरे लिए; **अहम्**=मैं; **स विज्ञानम्**=विशेष ज्ञान सहित; **इदम्**=यह; **वक्ष्यामि**=कहूंगा; **अशेषतः**=पूर्णरूप से; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा**=जाने पर; **न**=नहीं; **इह**=इस संसार में; **भूयः**=फिर; **अन्यत्**=अन्य कुछ भी; **ज्ञातव्यम्**=जानने योग्य; **अवशिष्यते**=शेष रहता है।

अनुवाद

अब मैं तेरे लिए विज्ञान-सहित उस ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूंगा, जिसको जानकर संसार में फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता। ॥२॥

तात्पर्य

पूर्ण ज्ञान में इन्द्रिय-गोचर जगत् तथा उसमें शक्ति का संचार करने वाले आत्मतत्त्व के ज्ञान का समावेश रहता है। इन दोनों का मूल दिव्य ज्ञान ही है। भगवान् श्रीकृष्ण इस ज्ञान का वर्णन करना चाहते हैं, क्योंकि अर्जुन उनका अन्तरङ्ग भक्त एवं सखा है। चौथे अध्याय के आदि में श्रीकृष्ण ने यह भाव अभिव्यक्त किया है कि शिष्य परम्परा के अनुगामी भगवद्भक्त को ही साक्षात् श्रीभगवान् से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो समग्र ज्ञान के

उद्गम, सब कारणों के परम कारण और सम्पूर्ण योग-मार्गों के एकमात्र ध्येय-तत्त्व को जान ले। सब कारणों के परम कारण श्रीभगवान् का तत्त्वज्ञान हो जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, कुछ भी जानने योग्य शेष नही रहता। वेद-वाणी है : 'यस्मिन् विज्ञते सर्वमेव विज्ञात भवति।'

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

मनुष्याणाम्=मनुष्यों में; सहस्रेषु=हजारों; कश्चित्=कोई एक; यतति=प्रयास करता है; सिद्धये=कृतार्थता के लिए; यतताम्=इस प्रकार यत्नशील मनुष्यों में; अपि=भी; कश्चित्=कोई एक; माम्=मेरे को; वेत्ति=जानता है; तत्त्वतः=तत्त्व से।

अनुवाद

हजारों मनुष्यों में से कोई एक संसिद्धि के लिए यत्न करता है और सिद्ध हुए पुरुष में भी कोई दुर्लभ मनुष्य ही मेरे को तत्त्व से जानता है॥३॥

तात्पर्य

विभिन्न श्रेणियों के सहस्रों मनुष्यों में से किसी एक दुर्लभ मानव की ही आत्मतत्त्व, देहतत्त्व एवं परतत्त्व को जानने के लिए पारमार्थिक-अनुभूति में पर्याप्त रुचि होती है। मानव समाज साधारणतया भोजन, शयन, मैथुन एवं आत्म रक्षण आदि पशु-वृत्तियों में ही तत्पर है; दिव्य ज्ञान के प्रति प्रायः सभी में रुचि का अभाव है। गीता के प्रथम छः अध्यायों का प्रयोजन उन साधकों से है, जो आत्मज्ञान तथा परमात्म-ज्ञान के हेतु ज्ञान-योग, ध्यान योग, विवेक-बुद्धि आदि आत्मानुभूति के मार्गों का अनुगमन करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के तत्त्व को तो केवल कृष्णभावनाभावित भक्त ही जान सकते हैं। अन्य योगियों को निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो सकती है, क्योंकि श्रीकृष्ण-प्राप्ति की अपेक्षा यह सुगम

है। परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान से भी अतीत हैं। यद्यपि निर्विशेषवादियों के अग्रगण्य श्रीपाद शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में श्रीकृष्ण को परमब्रह्म स्वयं भगवान् स्वीकार किया है, तथापि योगी और ज्ञानी श्रीकृष्ण को समझने के प्रयास में संभ्रमित हो रहे हैं। शंकराचार्य के अनुगामी श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो जाने पर भी श्रीकृष्ण का तत्त्व सुदुर्बोध्य रहता है।

आदिपुरुष गोविन्द कहलाने वाले भगवान् श्रीकृष्ण सब कारणों के भी परम कारण हैं। **'ईश्वरः परमः कृष्ण सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।'** अभक्तों के लिए उन्हें जानना बड़ा कठिन है। उन अभक्तों का कहना है कि भक्ति-मार्ग अति सुगम है, परन्तु उसका अनुगमन करने की क्षमता उनमें नहीं है। अभक्तों के उद्घोष के अनुसार यदि भक्ति-मार्ग वास्तव में इतना सुगम है तो वे इसको त्याग कर कष्टसाध्य निर्विशेष पथ क्यों ग्रहण करते हैं? सत्य यह है कि भक्ति-मार्ग सुगम नहीं है। यथार्थ भक्ति के ज्ञान से शून्य अप्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा आचरित तथाकथित भक्ति-पथ सुगम हो सकता है, किन्तु विधि-विधान के अनुसार भक्ति-पथ का अनुसरण करना मनोधर्मी विद्वानों एवं दार्शनिकों के लिए सम्भव नहीं। इसी से वे अति शीघ्र भक्ति-पथ से च्युत हो जाते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में श्रील रूप गोस्वामिचरण का कथन है—

श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्र विधि विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥

'उपनिषद्, पुराण, नारद पञ्चरात्र आदि प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की उपेक्षापूर्वक की गयी भगवद्भक्ति समाज में व्यर्थ उत्पातकारी ही सिद्ध होती है।'

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी अथवा परमात्म-तत्त्वज्ञ योगी के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के यशोदानन्दन अथवा पार्थसारथि रूप को जान पाना सम्भव नहीं है। मनुष्यों की तो बात ही क्या, महिमामय देवता भी कदाचित् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में संभ्रमित हो जाते हैं: **'मुह्यन्ति यत्सूरयः'**,

'मां तु वेद न कश्चन' : स्वयं श्रीभगवान् का कथन है कि मेरे को कोई भी तत्त्वतः नहीं जानता।' यदि कोई व्यक्ति उनके तत्त्व में निष्णात हो तो, **'स महात्मा सुदुर्लभः'**, 'ऐसा महात्मा परम दुर्लभ है।' इस प्रकार भगवद्भक्ति की आश्रयता ग्रहण किये बिना उच्च विद्वान् अथवा दार्शनिक के लिए भी श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान सर्वथा अलभ्य ही रहता है, परन्तु भक्तों के लिए तो श्रीकृष्ण नित्य अनुग्रहशील हैं। शुद्ध-भक्त ही उनके सर्वकारणकारणत्व, सर्वशक्तित्व, श्री, यश, वीर्य, सौन्दर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि अचिन्त्य चिन्मय गुणों को यत्किंचित् जानते हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्म-तत्त्व की पराकाष्ठा हैं। अतएव उनका यथार्थ तत्त्व-ज्ञान एकमात्र भक्तों के लिए बुद्धिगम्य है। शास्त्र-वचन है :

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

'कुण्ठित प्राकृत इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण का तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। भक्तों द्वारा समर्पित भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके प्रति अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं।' (पद्मपुराण)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

भूमिः=पृथ्वी; **आपः**=जल; **अनलः**=अग्नि; **वायुः**=पवन; **खम्**=आकाश; **मनः**=चित्त; **बुद्धि**=प्रज्ञा; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **अहङ्कारः**=मिथ्या अभिमान; **इति**=इस प्रकार; **इयम्**=यह; **मे**=मेरी; **भिन्ना**=विभाजित; **प्रकृतिः**=प्रकृति है; **अष्टधा**=आठ प्रकार से।

अनुवाद

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार, ऐसे आठ प्रकार से विभाजित हुई यह मेरी प्रकृति है॥४॥

तात्पर्य

भगवद्‌विज्ञान श्रीभगवान् के स्वरूप और उनकी विविध शक्तियों का विश्लेषण करता है। भौतिक शक्ति को प्रकृति अथवा श्रीभगवान् के विभिन्न पुरुषावतारों की शक्ति कहा जाता है, जैसा कि सात्वत तन्त्र में उल्लेख है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।

'प्राकृत सृष्टि के निमित्त भगवान् श्रीकृष्ण के अंश तीन विष्णु-रूपों में प्रकट होते हैं। सर्वप्रथम, महाविष्णु महत्तत्व नामक सम्पूर्ण भौतिक शक्ति का सृजन करते हैं। द्वितीय पुरुषावतार गर्भोदकशायी विष्णु सब ब्रह्माण्डों में नानाविध सृष्टि करने के लिए उनमें प्रविष्ट होते हैं। और तीसरे, क्षीरोदकशायी विष्णु परमात्मा के रूप से अखिल ब्रह्माण्ड-निकाय में व्याप्त हैं। इन तीनों विष्णु-रूपों को जानने वाला भव-बन्धन से मुक्ति के योग्य है।'

यह प्राकृत जगत् श्रीभगवान् की एक शक्ति-विशेष का क्षणिक प्रकाश मात्र है। जगत् की सम्पूर्ण क्रियाएं भगवान् श्रीकृष्ण के इन तीन विष्णु रूपों द्वारा संचालित हैं। ये तीनों पुरुषावतार कहलाते हैं। सामान्यतः भगवान् कृष्ण के तत्त्व को न जानने वाले में यह धारणा रहती है कि यह जगत् जीवों के भोगने के लिए है और जीव ही प्रकृति के कारण (पुरुष) नियन्ता एवं भोक्ता हैं। भगवद्‌गीता के अनुसार यह अनीश्वरवादी निष्कर्ष सर्वथा मिथ्या है। विचारणा-विषयक उपरोक्त श्लोक में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण प्राकृत सृष्टि के आदि कारण हैं। श्रीमद्-भागवत द्वारा भी यह प्रमाणित होता है। प्राकृत सृष्टि के घटक (अंश) श्रीभगवान् की भिन्ना शक्तियां हैं। यहां तक कि निर्विशेषवादियों की परम लक्ष्य 'ब्रह्मज्योति' भी परव्योम में अभिव्यक्त होने वाली एक भग-वद्-शक्ति मात्र है, ब्रह्मज्योति में वैकुण्ठ लोकों के समान चिन्मय वैचित्री

नहीं होती, तथापि निर्विशेषवादी इसी को अपना परम लक्ष्य मानते हैं। परमात्मा भी क्षीरोदकशायी विष्णु का अशाश्वत् सर्व-व्यापक रूप है। भगवद्धाम में परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति नित्य नहीं होती। अतः यथार्थ परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। वे समग्र शक्तिवान् पुरुष हैं और विविध भिन्ना (बहिरङ्गा) और अन्तरङ्गा शक्तियों से युक्त हैं।

पूर्व कथन के अनुसार, अपरा प्रकृति (भौतिक शक्ति) आठ प्रधान-रूपों में अभिव्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पांच, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश को स्थूल सृष्टि कहा जाता है। इनकी सृष्टि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध—ये पांच इन्द्रिय-विषय अन्तर्भूत रहते हैं। प्राकृत विज्ञान इन दस तत्त्वों तक सीमित है। अन्य तीनों तत्त्व, मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहङ्कार विषयियों द्वारा उपेक्षित हैं। सबके परम उद्गम—श्रीकृष्ण को न जानने के कारण मनोधर्मी दार्शनिक पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकते। भवरोग के मूल कारण, मिथ्या अहङ्कार (मैं और मेरा) में विषय भोग के लिए दस इन्द्रियों का समावेश है। 'बुद्धि' शब्द महत्तत्व नामक समग्र प्राकृत सृष्टि का वाचक है। इस प्रकार, इन आठ शक्तियों से जगत् के चौबीस तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं, जो सांख्य नास्तिकवाद के विषय हैं। ये भिन्न तत्त्व मूल रूप में श्रीकृष्ण की शक्तियों से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु अल्पज्ञ अनीश्वरवादी सांख्य दार्शनिक श्रीकृष्ण को सब कारणों का परम कारण नहीं समझते। श्रीकृष्ण की बहिरङ्गा शक्ति की अभिव्यक्ति ही सांख्य दर्शन का विवेचनीय विषय है, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अपरा=जड़ प्रकृति है; इयम्=यह; इतः=इसके अतिरिक्त; तु=किन्तु; अन्याम्=दूसरी; प्रकृतिम्=शक्ति को; विद्धि=जानने का प्रयत्न कर; मे=मेरी; पराम्=चेतन; जीवभूताम्=जीव रूप; महाबाहो=हे बलिष्ठ भुजदण्डों वाले अर्जुन; यया=जिसके द्वारा; इदम्=यह; धार्यते=भोग के लिए ग्रहण किया जाता है; जगत्=प्राकृत संसार।

अनुवाद

हे महाबाहो अर्जुन ! इस अपरा (जड़ प्रकृति) के अतिरिक्त, मेरी एक जीवरूप परा (चेतन प्रकृति) भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए ब्रह्माण्ड को धारण करती है ॥५॥

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण की परा प्रकृति (अन्तरङ्गा शक्ति) के अंश हैं। अपरा प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहङ्कार के रूप में अभिव्यक्त जड़-तत्त्व हैं। भौतिक प्रकृति के स्थूल (भूमि आदि) एवं सूक्ष्म (मन आदि) दोनों रूप अपरा शक्ति के कार्य हैं। विविध उद्देश्यों से इन अपरा शक्तियों का उपयोग करने वाले जीव परमेश्वर की परा शक्ति हैं। इसी जीव-शक्ति से सम्पूर्ण जगत् कार्यान्वित हो रहा है। जीव रूपी परा शक्ति से संचारित हुए बिना भौतिक सृष्टि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकती है। शक्तियां नित्य शक्तिमान् के आधीन रहती हैं, इस न्याय से जीव पर सदा श्रीभगवान् का प्रभुत्व रहता है, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। साथ ही, जीव भगवान् के समान शक्तिवान् भी कभी नहीं हो सकते, जैसा बुद्धिहीन मनुष्यों का मत है। श्रीमद्भागवत में जीवों और श्रीभगवान् में भेद का निरूपण इस प्रकार है :

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि
न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥

'हे परम शाश्वत् विभो ! यदि बद्ध-जीव आपके समान ही नित्य एवं सर्वव्यापक होते तो उन पर आपका प्रभुत्व नहीं रहता। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि वे आपकी शक्ति के लघु अंश हैं, तो वे आपके आधीन सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए यथार्थ मुक्ति का अर्थ जीवों द्वारा

वापकी प्रभुता के शरणागत हो जाना है। ऐसी शरणागति उन्हें शाश्वत आनन्द प्रदान करती है। वस्तुतः, इस स्वरूप-स्थिति में ही वे स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं। अतएव जो अल्पज्ञ मनुष्य इस अद्वैतवाद का प्रचार करते हैं कि ईश्वर और जीव सब प्रकार से एक हैं, वे अपने को और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं।'

परमेश्वर श्रीकृष्ण एकमात्र नियन्ता हैं और सम्पूर्ण जीव उनके आधीन हैं। ये जीव श्रीभगवान् की परा शक्ति हैं, क्योंकि दोनों में समान चिद्गुण हैं। परन्तु जीव शक्ति में भगवान् के तुल्य कदापि नहीं हो सकते। जड़ प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का उपभोग करते हुए परा शक्ति स्वरूप जीव को अपने यथार्थ दिव्य चित्त तथा बुद्धि का विस्मरण हो जाता है। इस विस्मृति का कारण जीवात्मा पर पड़ा जड़ प्रकृति का प्रभाव है। इस माया के बन्धन से स्वतन्त्र हो जाने पर ही जीव मुक्ति-लाभ करता है। माया से उत्पन्न हुए मिथ्या अहङ्कार के प्रभाव से वह विचार करता है, 'मैं पांच भौतिक तत्त्व हूं तथा प्राकृत पदार्थ मेरे हैं।' श्रीभगवान् से एक हो जाने जैसी विषयी धारणाओं से मुक्त हो जाने पर ही उसे अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है। अस्तु, यह निष्कर्ष निकलता है कि गीता के अनुसार जीव श्रीकृष्ण की असंख्य शक्तियों में से एक शक्ति-मात्र है, और सांसारिक पाप से पूर्णतया शुद्ध हो जाने पर यह शक्ति पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित अथवा मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

एतत्=ये दोनों शक्तियां; योनीनि=जन्म की कारण हैं; भूतानि=सृष्ट तत्त्वों को; सर्वाणि=सम्पूर्ण; इति=इस प्रकार; उपधारय=जान; अहम्=मैं; कृत्स्नस्य=सम्पूर्ण; जगतः=संसार का; प्रभवः=उत्पत्ति; प्रलयः=प्रलय रूप हूं; तथा=और।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि तत्त्व इन दोनों प्रकृतियों से उत्पन्न होते हैं और इसमें मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय रूप हूं ॥६॥

तात्पर्य

सम्पूर्ण रचित पदार्थ पंचभूतों और आत्मा के कार्य हैं। आत्मा सृष्टि का आधार है, और जड़ प्रकृति इसी आत्मतत्त्व के द्वारा रची गयी है। भौतिक सृष्टि के किसी भी काल में आत्मा का सृजन नहीं होता, वरन् पराशक्ति होने से वही इस जगत् की आधार है। इस प्राकृत देह की उत्पत्ति और विकास इसीलिए होते हैं, क्योंकि जड़तत्त्व में आत्मा स्थित है। आत्मा की सन्निधि से ही बालक क्रमशः कौमार एवं यौवन को प्राप्त होता है। इसी भांति, बृहत्काय ब्रह्माण्डों की सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा विष्णु की उपस्थिति ही कारण है। अतएव विराट ब्रह्माण्डीय सृष्टि के लिए समन्वित हुई आत्मा और जड़ प्रकृति दोनों मूल रूप में श्रीभगवान् की शक्तियां हैं। अतएव श्रीभगवान् ही सम्पूर्ण सृष्टि के आदि कारण सिद्ध हुए। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश जीव भौतिक शक्ति का कुशल प्रयोग कर गगनचुम्बी-प्रासाद, उत्पादन शाला अथवा नगर आदि का निर्माण कर सकता है, किन्तु शून्य से किसी पदार्थ की संरचना करने अथवा लोक ब्रह्माण्ड आदि की रचना नहीं कर सकता। सम्पूर्ण जीव-समवाय के परम सृष्टा और सब कारणों के आदि कारण परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण ही सृष्टि के मूल हैं। इसके प्रमाण में कठोपनिषद् में कहा है : 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।'

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

मत्तः=मेरे से; परतरम्=श्रेष्ठ; न=नहीं; अन्यत्=अन्य; किञ्चित्=कुछ भी; अस्ति=है; धनञ्जय=हे धन-विजयी अर्जुन; मयि

=मुझ में ; सर्वम्=सब कुछ ; इदम्=जो दृष्टिगोचर है ; प्रोतम्=ग्रथित है ; सूत्रे=धागे में ; मणिगणाः=मुक्ताहल ; इव=की भांति ।

अनुवाद

हे धनञ्जय ! मुझ से श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं है । सूत्र में ग्रथित मणियों की भांति सभी कुछ मेरे आश्रित हैं ॥७॥

तात्पर्य

परतत्त्व की सविशेषता-निर्विशेषता के सम्बन्ध में बहु-चर्चित विवाद है । जहां तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, भगवान् श्रीकृष्ण मूर्तिमान परतत्त्व हैं । गीता के पद-पद पर यही प्रमाणित हुआ है । विशेष रूप से इस श्लोक में, यह बलपूर्वक कहा गया है कि परतत्त्व (परमब्रह्म) एक *विशिष्ट पुरुष हैं । ब्रह्मसंहिता में भी भगवान् श्रीकृष्ण की परात्परता* प्रमाणित है :'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः', सच्चिदानन्द-मय विग्रह से युक्त, आदि-पुरुष गोविन्द नाम वाले भगवान् श्रीकृष्ण परमब्रह्म परतत्त्व हैं । ये सब प्रमाण निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं कि श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण पुरुषोत्तम हैं । निराकारवादी श्वेता-श्वतरोपनिषद् में उपलब्ध इस वैदिक मन्तव्य के आधार पर असद् तर्क करते हैं : 'ततो यदुत्तरतरं तदरूपं अनामयं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यान्ति ।' ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा को देवता, मनुष्य और पशु आदि संसार के सब प्राणियों में सर्वोपरि माना जाता है । किन्तु ब्रह्मा से भी परे एक परतत्त्व विद्यमान है, जिसका कोई प्राकृत रूप नहीं है और जो प्राकृत विकारों से पूर्णतया मुक्त है । उस तत्त्व को जानने वाला भी जगत् से अतीत हो जाता है, जबकि उसके अज्ञानी जीव जागतिक-यन्त्रणाएं भोगते रहते हैं ।'

निराकारवादी 'अरूपम्' शब्द को अधिक महत्त्व देते हैं । यथार्थ में यह 'अरूपम्' शब्द निराकारता का वाचक नहीं है । इससे तो वास्तव में यही कहा गया है कि श्रीभगवान् का विग्रह सच्चिदानन्दमय है, जैसा उपरोक्त

ब्रह्मसंहिता में वर्णन हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्य श्लोक भी इसी तथ्य के पोषक हैं ;

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
तमेव विद्वान् अमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणी यो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ॥

'संसार के अन्धकार से सर्वथा परे स्थित रहने वाले श्रीभगवान् को मैं जानता हूं। उनके तत्त्व को जानने वाला ही जन्म-मृत्यु के बन्धन का उल्लंघन कर सकता है। परम पुरुषोत्तम के ज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष का कोई अन्य पथ नहीं है।'

'उन परम पुरुषोत्तम से उत्तम अन्य कोई तत्त्व नहीं है। वे अणुतम तत्त्व से भी अणुतर हैं एवं बृहत्तर हैं। वृक्ष के समान मौन अवस्थित रहते हुए वे परव्योम को उद्भासित करते हैं और वृक्ष के मूल के समान अपनी विविध शक्तियों का विस्तार करते हैं।'

इन श्लोकों से यह निष्पन्न होता है कि श्रीभगवान् परतत्त्व परमब्रह्म हैं और अपनी विविध परा-अपरा शक्तियों के विस्तार के रूप में सर्वव्यापक हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

रसः=रस हूं ; **अहम्**=मैं ; **अप्सु**=जल में ; **कौन्तेय**=हे अर्जुन ; **प्रभा अस्मि**=मैं प्रकाश हूं ; **शशि-सूर्ययोः**=चन्द्रमा एवं सूर्य में ; **प्रणवः**=ओम् ; **सर्व**=सम्पूर्ण ; **वेदेषु**=वेदों में ; **शब्दः**=ध्वनि स्फुरण ; **खे**=आकाश में ; **पौरुषम्**=सामर्थ्य ; **नृषु**=पुरुषों में ।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! मैं जल में रस और सूर्य एवं चन्द्रमा में प्रभा हूं

तथा वैदिक मन्त्रों में ओंकार हूं, और आकाश में शब्द तथा मनुष्यों में पुरुषत्व हूं ।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि किस प्रकार अपनी विविध प्राकृत एवं चिन्मय शक्तियों के द्वारा श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अनुभूति उनकी विविध शक्तियों के रूप में ही होती है। इस प्रकार उनकी निर्विशेष अनुभूति होती है। जैसे सूर्य का अधिष्ठातृ देवता एक पुरुष-विशेष है जिसका अनुभव उसकी सर्वव्यापक शक्ति, सूर्य-प्रभा के रूप में होती है, उसी प्रकार यद्यपि श्रीभगवान् अपने नित्य धाम में विराजमान हैं, तथापि अपनी सर्वव्यापी शक्तियों के द्वारा वे अनुभवगम्य हैं। रस जल का धर्म है। सागर का जल सर्वथा अपेय है, क्योंकि उसमें जल का शुद्ध स्वारस्य लवण द्वारा दूषित रहता है। जल के प्रति आकर्षण रस की शुद्धता पर निर्भर है, क्योंकि यह विशुद्ध रस भी भगवान् की एक शक्ति है। निराकारवादी को जल के स्वारस्य से उसमें ईश्वर-सन्निधि का बोध ही होता है, जबकि साकारवादी पिपासा-निवृत्ति के लिए कृपापूर्वक जल दान करने के लिए श्रीभगवान् का जयकार भी करता है। भगवद्-अनुभूति की यही पद्धति है। वस्तुतः साकार और निराकारवाद में कोई मतभेद नहीं है। श्रीभगवान् को जानने वाला यह भी जानता है कि निराकार एवं साकार तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में एक साथ विद्यमान हैं। अतः दोनों में विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु ने 'अचिन्त्य-भेदाभेद' नामक उदात्त सिद्धान्त को स्थापित किया है।

सूर्य तथा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना भी मूल रूप में ब्रह्मज्योति (श्रीभगवान् की निर्विशेष प्रभा) से उत्पन्न हुई है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ में श्रीभगवान् के सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होने वाला 'प्रणव' अथवा 'ओंकार' भी उनसे प्रकट होता है। परमेश्वर श्रीकृष्ण को उनके असंख्य नामों में से किसी से पुकारने में भय का अनुभव करने वाले निराकारवादियों की धारणा में 'ओंकार' अधिक उत्तम है। परन्तु वे

नहीं जानते कि ओंकार श्रीकृष्ण का ही नाद-विग्रह है। कृष्णभावनामृत की प्रभुसत्ता सार्वभौम है। अतः जो कृष्णभावनामृत का तत्त्वज्ञ हो जाता है, वह सौभाग्यशाली है। इनके विपरीत, जो श्रीकृष्ण को नहीं, जानता, वह माया के बन्धन में है। श्रीकृष्ण का ज्ञान मुक्ति है और उनका अज्ञान ही बन्धन है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पुण्यः=अविकृत (आद्य); **गन्धः**=सौरभ; **पृथिव्याम्**=पृथ्वी में; **च**=तथा; **तेजः**=तापमान; **च**=भी; **अस्मि**=मैं हूं; **विभावसौ**=अग्नि में; **जीवनम्**=जीवन; **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियों में; **तपः**=तपश्चर्या; **च**=तथा; **अस्मि**=मैं हूं; **तपस्विषु**=तपस्वियों में।

अनुवाद

मैं पृथ्वी में आद्य सौरभ हूं और मैं ही अग्नि में तेज हूं। सब प्राणियों में उनका जीवन एवं तपस्वियों में तप हूं ॥९॥

तात्पर्य

'पुण्य' उसे कहते हैं जिसमें विकार नहीं होता; 'पुण्य' आद्य है। पुष्प, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जगत् की प्रत्येक वस्तु में एक विशिष्ट सौरभ होती है। विशुद्ध आद्य सौरभ, जो सर्वव्यापक है, श्रीकृष्ण का रूप है। इसी प्रकार, प्रत्येक पदार्थ का अपना विशिष्ट रस होता है, जिसे रासायनिक सम्मिश्रण द्वारा यथारुचि परिणत किया जा सकता है। अतः सभी मूल पदार्थों में किसी विशिष्ट गन्ध, सुरभि तथा रस की प्राप्ति होती है। 'विभाव' का अर्थ अग्नि है। अग्नि के अभाव में निर्माण, रन्धन आदि कर्म नहीं किये जा सकते। अतः अग्नि भी श्रीकृष्ण का रूप है। अग्नि का ताप श्रीकृष्ण हैं। आयुर्वेद के अनुसार, अपच का कारण उदर में मन्दाग्नि का होना है। अतएव पाचन के निमित्त भी अग्नि

अनिवार्य है। कृष्णभावना में हम जानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सब रासायनिक तथा भौतिक तत्त्वों के उद्गम श्रीकृष्ण हैं। मानव जीवन की अवधि भी श्रीकृष्ण द्वारा निर्धारित है। अतः गोविन्द-अनुग्रह के अनुसार मनुष्य अपने जीवन-काल का वर्धन अथवा ह्रास कर सकता है। इस प्रकार कृष्णभावना सर्वत्र-सर्वदा क्रियाशील है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

बीजम्=कारण; माम्=मुझे; सर्वभूतानाम्=सब प्राणियों का; विद्धि=जान; पार्थ=हे पृथा-पुत्र; सनातनम्=आद्य, नित्य; बुद्धिः=प्रज्ञा; बुद्धिमताम्=बुद्धिमान की; अस्मि=मैं हूं; तेजः=शक्ति तेजस्विनाम्=शक्तिशाली भी; अहम्=मैं हूं।

अनुवाद

हे पार्थ! सब प्राणियों का आदि बीज मेरे को ही जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं ही हूं ॥१०॥

तात्पर्य

'बीजम्' का अर्थ कारण है। श्रीकृष्ण सबके बीज हैं। भौतिक प्रकृति के संग में यह बीज चराचर नाना जीव-योनियों के रूप में फलित होता है। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चर जीव हैं, जबकि वृक्ष, तरु आदि अचर हैं। जीवमात्र की चराचर ८४,००,००० योनियां हैं। इनमें से प्रत्येक के जीवन के बीज श्रीकृष्ण हैं। वैदिक वाङ्मय में उल्लेख है कि, ब्रह्म अथवा परतत्त्व सम्पूर्ण पदार्थों का उद्गम है। श्रीकृष्ण परम ब्रह्म हैं, ब्रह्म निर्विशेष तत्त्व है, जबकि परमब्रह्म सविशेष-साकार हैं। भगवद्गीता के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म साकार परमब्रह्म के आश्रय में स्थित है। अतः मूल रूप से श्रीकृष्ण ही सबके उद्गम हैं। जिस प्रकार जड़ सम्पूर्ण वृक्ष का परिपालन करती है, उसी भांति सम्पूर्ण पदार्थों के आद्य कारण श्रीकृष्ण इस सृष्टि के सम्पूर्ण योगक्षेम का वहन करते हैं।

वैदिक वाङ्मय द्वारा भी यह प्रमाणित है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'** 'परमसत्य वह है जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है।' वे नित्य तत्त्वों में परम नित्य हैं, चेतनाधारियों में परम चैतन्य हैं और सम्पूर्ण जीवन के पोषक हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि वे सम्पूर्ण बुद्धि शक्ति के स्रोत हैं। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य ही भगवान् श्रीकृष्ण को जान सकता है।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलम्=पराक्रम ; **बलवताम्**=बलवानों का ; **च**=तथा ; **अहम्**=मैं हूं ; **काम**=लोलुपता ; **राग**=आसक्ति ; **विवर्जितम्**=शून्य ; **धर्म-अविरुद्धः**=धर्म के अनुकूल ; **भूतेषु**=जीवों में ; **कामः**=मैथुन ; **अस्मि**=मैं हूं ; **भरतर्षभ**=हे भरतवंशियों के नाथ (अर्जुन) ।

अनुवाद

मैं बलवानों का कामना और आसक्ति रहित बल हूं। और हे अर्जुन ! धर्मसम्मत काम भी मैं ही हूं ॥११॥

तात्पर्य

बलवान् अपने बल का उपयोग निर्बल की रक्षा के लिए ही करे, स्वार्थ-प्रेरित आक्रमण के निमित्त से नहीं। इसी भांति, धर्मसम्मत मैथुन का उद्देश्य केवल संतति करना हो, विषय-सुख नहीं। अपनी सन्तान को कृष्णभावनाभावित बनाना माता-पिता का परम कर्तव्य है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

ये=जो ; च=तथा ; एव=निःसन्देह ; सात्त्विकाः=सात्त्विक ; भावाः=भाव हैं ; राजसाः=राजसिक ; तामसाः=तामसिक ; च=भी ; ये=जो ; मत्तः=मेरे से ; एव=ही (हैं); इति=इस प्रकार ; तान्=उन्हें ; विद्धि=जान ; न=नहीं (है); तु=परन्तु ; अहम्=मैं ; तेषु=उनमें ; ते=वे ; मयि=मेरे में ।

अनुवाद

और जो भी सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, वे सब मेरी शक्ति के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। एक दृष्टि से मैं सब कुछ हूं, फिर भी माया के गुणों के आधीन न होने से मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूं ॥१२॥

तात्पर्य

सम्पूर्ण सांसारिक क्रियाएं, माया के त्रिविध गुणों की आधीनता में हो रही हैं। इन मायिक गुणों के उद्गम होने पर भी परमेश्वर श्रीकृष्ण इनके वशवर्ती नही हैं। उदाहरण के लिए, राजकीय विधान के अनुसार अपराधी दण्डित किया जाता है, किन्तु विधानकर्ता राजा पर उसका अधिकार नही होता। वैसे ही सत्त्व, रज और तम—माया के इन गुणों के मूल होने पर भी परमेश्वर श्रीकृष्ण माया के आधीन नही हैं। इसी से उन्हें 'निर्गुण' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि उनसे प्रकट होने पर भी ये गुण उन्हें अभिभूत नहीं कर सकते। यह श्रीभगवान् का एक विशिष्ट स्वरूप-लक्षण है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

त्रिभिः=तीनों प्रकार के ; गुणमयैः=गुणमय ; भावैः=भावों से ; एभिः=इन ; सर्वम्=सम्पूर्ण जगत्; इदम्=इस; जगत्=संसार; मोहितम्=भ्रांत ; न अभिजानाति=नही जानता ; माम्=मुझे ; एभ्यः=उनसे ; परम्=परे ; अव्ययम्=सनातन ।

अनुवाद

तीनों प्रकार के गुणों (सत्त्व, रज और तम) द्वारा मोहित हुआ सम्पूर्ण संसार इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता ॥१३॥

तात्पर्य

सम्पूर्ण जगत् माया के त्रिविध गुणों के वशीभूत हो रहा है। इन गुणों द्वारा मोहित हुआ जीव इस माया से परे स्थित रहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं पहिचानता। त्रिविध गुणों के आधीन होने से इस जगत् में सभी विमोहित हैं।

स्वभाव-भेद से जीवों के विविध शरीर और मानसिक एवं शारीरिक कार्य-कलाप होते हैं। मायिक गुणों के आधीन कार्य करने वाले मनुष्यों की चार कोटियां हैं। विशुद्ध सत्त्वगुणी मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं और रजोगुणी क्षत्रिय। रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण में स्थित मनुष्य वैश्य माने जाते हैं और पूर्णतया तमोगुणी मनुष्य शूद्र कहलाते हैं। इनसे भी अधम जीव पशु-योनि ग्रहण करते हैं। परन्तु ये उपाधियां चिरस्थायी नहीं हैं वर्तमान में मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि किसी भी वर्ग में गिना जा सकता हूं, परन्तु प्रत्येक अवस्था में यह जीवन नाशवान् है। यद्यपि जीवन क्षणभंगुर है और हमें यह ज्ञात नहीं कि अगले जन्म में हमें कौन सी देह प्राप्त होगी, फिर भी माया से उत्पन्न हुई देहात्म-बुद्धि के कारण हम अपने को अमरीकी, भारतीय, रूसी अथवा ब्राह्मण, हिन्दू, मुस्लिम आदि मान बैठे हैं। माया के गुणों में बन्ध जाने से इनके नियन्ता श्री भगवान् की हमें विस्मृति हो गयी है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि माया के इन गुणों द्वारा मोहित हुए मनुष्य यह नहीं जानते कि सृष्टि के पृष्ठदेश में मैं (भगवान्) विराजमान् हूं।

जीवों की मनुष्य, देवता, पशु आदि अनेक कोटियां हैं। माया के आधीन होने के कारण इन सभी को श्रीभगवान् का विस्मरण हो गया है, जो माया से परे हैं। रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, यहां तक कि सत्त्वगुणी जीव भी परतत्त्व की निर्विशेष

ब्रह्म-धारणा का उल्लघंन नही कर सकते। समग्र रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, वीर्य, यश एवं वैराग्य से युक्त श्रीभगवान् के साकार रूप के सम्बन्ध में वे संमोहित ही रहते हैं। जब सत्वगुणी जीव भी भगवान् के तत्व को जानने में असमर्थ हैं, तो रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के लिए क्या आशा हो सकती है? कृष्णभावनामृत माया के इन तीनों गुणों से सर्वथा परे है। अतएव यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हुए पुरुष ही वास्तव में मुक्त हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

दैवी=अलौकिक, अद्‌भुत; हि=निःसन्देह; एषा=यह; गुणमयी=त्रिविध गुणमयी; मम=मेरी; माया=शक्ति; दुरत्यया=बड़ी दुस्तर है; माम्=मेरी; एव=ही; ये=जो; प्रपद्यन्ते=शरण ग्रहण करते हैं; मायाम् एताम्=इस संमोहिनी शक्ति से; तरन्ति=तर जाते हैं; ते=वे (ही)।

अनुवाद

मेरी यह दैवी शक्ति, अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं ॥१४॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् असंख्य दिव्य शक्तियों से युक्त हैं। यद्यपि उनकी शक्ति के अंश होने से जीव भी दिव्य हैं, तथापि माया के संसर्ग से उनकी आद्य पराशक्ति आच्छादित हो गई है। इस प्रकार माया से आवृत हुआ जीव उसके बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, श्रीभगवान् से प्रकट हुई अपरा और परा, दोनों ही शक्तियां नित्य हैं। जीव श्रीभगवान् की नित्य पराशक्ति के अंश हैं, परन्तु अपरा प्रकृति (माया) में बन्धन के कारण उनका मोह भी अनादि है। इसी कारण बद्ध जीव को 'नित्य बद्ध' कहा जाता है। सांसारिक इतिहास की दृष्टि

से यह निश्चित करना सम्भव नहीं कि वह कब बन्धन में पड़ा। परिणाम स्वरूप, यद्यपि माया अपरा (निकृष्ट) शक्ति है, तथापि उसके बन्धन से मुक्ति बड़ी कठिन है, क्योंकि माया की नियन्त्री परमेश्वर की वह इच्छा-शक्ति है जिसका जीव उल्लंघन नहीं कर सकते। माया (अपरा प्रकृति) को इस श्लोक में दैवी इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह भगवान् से सम्बन्धित है और भगवद्-इच्छा के अनुसार कार्य करती है। श्रीभगवान् की इच्छा-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण ही यह अपरा प्रकृति निकृष्ट होने पर भी सृष्टि की संरचना तथा विनाश जैसे अद्भुत कार्य कर लेती है। वेदों से प्रमाणित है :

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

'माया मिथ्या अथवा अनित्य है, परन्तु उसके पृष्ठ-आधार स्वयं महेश्वर श्रीभगवान् हैं।'

'गुण' शब्द का एक अर्थ रज्जु (रस्सी) भी होता है। यह जानना आवश्यक है कि बद्ध-जीव मोह की रस्सी में जकड़ा हुआ है। वह मनुष्य, जिसके सब अङ्ग बन्धे हुए हों, स्वयं अपने को मुक्त नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यक है कोई बन्धन-मुक्त मनुष्य उसकी सहायता करे। एक बन्दी दूसरे बन्दी को मुक्त नहीं करा सकता; त्राता वही हो सकता है, जो स्वयं स्वतन्त्र हो। अतः भगवान् श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि—गुरुदेव ही बद्ध जीव को मुक्त करने में समर्थ हैं। ऐसी सहायता के बिना माया-बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। भगवद्भक्ति अथवा कृष्णभावना मुक्ति-पथ में परम सहायक सिद्ध होती है। मायाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही इस दुस्तर माया शक्ति को जीव को मुक्त कर देने का आदेश दे सकते हैं। शरणागत जीव पर अपनी अहैतुकी करुणा और आद्य रूप में अपने प्रिय पुत्र जीव पर वात्सल्य स्नेह से प्रेरित होकर ही वे उसकी मुक्ति का आदेश देते हैं। अतः भगवच्चरणारविन्द की शरणागति ही माया के भीषण बन्धन से मुक्ति का एकमात्र साधन है।

'माम् एव' पद भी बड़ा सारगर्भित है। 'माम्' का अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) से ही है, ब्रह्मा अथवा शिव से नहीं। उच्च देव-पदा-

सीन होने से यद्यपि ब्रह्मा और शिव श्रीविष्णु के प्रायः समकक्ष हैं, किन्तु रजोगुण एवं तमोगुण के ये अवतार बद्ध जीव को माया बन्धन से मुक्त नहीं करा सकते। भाव यह है कि ब्रह्मा और शिव भी माया के आधीन हैं। माया के स्वामी एकमात्र श्रीविष्णु हैं। अतएव बद्ध जीव की मुक्ति करने में वे ही समर्थ हैं। वेदों में इस तत्त्व का समर्थन है : 'तमेव विदित्वा', अर्थात् 'श्रीकृष्ण के तत्त्व-ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है।' स्वयं श्रीशिव ने स्वीकार किया है कि श्रीविष्णु के अनुग्रह से ही मुक्ति होती है। उनका वचन है :

'मुक्ति-प्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः।'

'सम्पूर्ण जीवों को मुक्ति देने वाले निःसन्देह एकमात्र श्रीविष्णु ही हैं।'

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

न=नहीं; माम्=मेरे; दुष्कृतिनः=दुष्ट; मूढाः=मूर्ख; प्रपद्यन्ते=शरणागत होते; नराधमाः=मनुष्यों में अधम; मायया=माया के द्वारा; अपहृत ज्ञानाः=हरे हुए ज्ञान वाले; आसुरम्=आसुरी; भावम्=स्वभाव को; आश्रिताः=धारण किए हुए।

अनुवाद

माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यों में अधम और पापकर्म करने वाले मूढ़ मेरी शरण नहीं लेते ॥१५॥

तात्पर्य

भगवद्गीता का कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण में जाने मात्र से जीव माया के कठोर विधान का संतरण कर सकता है। इस पर एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। विद्वान् दार्शनिक,

वैज्ञानिक, व्यापारी, प्रशासक तथा लोगों के अन्य सभी अग्रणी सर्वशक्ति-सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में क्यों नहीं जाते ? मानवता के पथ प्रदर्शक विविध प्रकार से महती योजना बनाकर अनेक वर्षों और जन्मान्तरों तक अध्यवसायपूर्वक मुक्ति के लिए उद्यम करते रहते हैं। परन्तु जब भगवच्चरणारविन्द में प्रपन्न होने मात्र से मुक्ति सुलभ हो हो जाती है, तो ये बुद्धिमान तथा परिश्रमी लोग इस सुगम पथ को अंगीकार क्यों नहीं करते ?

गीता में इस जिज्ञासा का स्पष्ट उत्तर उपलब्ध है। समाज के यथार्थ विद्वान् अग्रणी, जैसे ब्रह्मा, शिव, कपिल, कुमार, मनु, व्यास, देवल, असित, जनक, प्रह्लाद, बलि तथा अनुव मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा अन्य श्रद्धालु दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, शिक्षक, आदि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण ले लेते हैं। परन्तु जो वास्तव में दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक, प्रशासक, आदि नहीं है, केवल लौकिक लाभ के लिए ऐसी योग्यताओं से युक्त होनें का कपट करते हैं, वे भगवद् विधान अथवा भागवत-पथ को स्वीकार नहीं करते। वे भगवान् के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते, इसलिए स्वयं सांसारिक योंजनाएं बनाते हैं। वे भवरोग की समस्याओं का उपचार तो कर नहीं पाते, वरन् उन्हें और भी अधिक जटिल बना देते हैं। शक्तिशाली मायाशक्ति इन अनीश्वरवादियों की योजनाओं का प्रतिकार कर 'योजना आयोगों' के ज्ञान को निरस्त कर देती है।

अनीश्वरवादी योजनाकारों को इस श्लोक में 'दुष्कृतिनः' अर्थात् पापात्मा कहा गया है। 'कृतिनः' शब्द का अर्थ पुण्यात्मा होता है। नास्तिक योजनाकार भी कदाचित् अत्यन्त बुद्धिमान् एवं श्लाघ्य सिद्ध होता है, क्योंकि किसी भी सत्-असत् बृहत् योजना के लिए बुद्धि अपेक्षित है। किन्तु परमेश्वर की योजना के विरोध में अपनी मति का दुरुपयोग करने के कारणअनीश्वरवादी योजनाकार को 'दुष्कृतिनः' कहा गया है। इस शब्द से यह अभिव्यञ्जित होता है कि उसकी बुद्धि तथा चेष्टा भ्रान्त हैं।

गीता में स्पष्ट कहा गया है कि माया-शक्ति पूर्णतया परमेश्वर श्रीकृष्ण के नियन्त्रण में कार्य करती है। उसका कोई स्वतन्त्र प्रभुत्व नहीं

है। जिस प्रकार छाया पदार्थ का अनुसरण करती है, माया भी उसी भांति कार्य करती है। तथापि, माया-शक्ति अत्यन्त बलिष्ठ है। अपने अनीश्वरवादी स्वभाव के कारण नास्तिक उसकी क्रिया-विधि से अवगत नहीं हो सकता, और न ही श्रीभगवान् की योजना को जान सकता। सम्मोह, रजोगुण एवं तमोगुण से आवृत होने के कारण उसकी सब योजनाएं विफल हो जाती हैं, उसी प्रकार जैसे वैज्ञानिक, दार्शनिक, प्रशासक तथा शिक्षाविद् होते हुए भी हिरण्यकशिपु और रावण आदि की योजनाएँ विमर्दित हो गई थी। दुष्टों के चार वर्ग हैं—

(१) मूढ : भारवाहक पशुओं के समान अति मूर्ख व्यक्तियों को मूढ कहा जाता है। अपने परिश्रम के फल को स्वयं भोगने की तृष्णा के कारण उन्हें उसे श्रीभगवान् को अर्पित करना रुचिकर नहीं होता। इस प्रकार के नरपशुओं का सबसे समीचीन उदाहरण गधा है। इस दीन पशु से उसका स्वामी अतिश्रम कराता है। गधा नहीं जानता कि वह किसके लिए दिन-रात इतना उद्यम करता है। तृणों से उदर-पूर्ति करने, स्वामी के भय से नित्य ग्रस्त रहते हुए ही कुछ समय विश्राम करने और बारम्बार गधी के पादाघात खाकर भी मैथुन करने में गधा तृप्त रहता है। कभी-कभी वह कविता अथवा दर्शन का भी गान करता है, परन्तु उसका खरनाद दूसरों को क्षुब्ध ही करता है। कर्म किसके लिए करना चाहिए, इस ज्ञान से रहित मूढ सकाम कर्मी की ठीक यही स्थिति है। वह नहीं जानता कि कर्म यज्ञ (विष्णु) के लिये करना चाहिये।

स्वकल्पित कर्मों के बोझ से दबे रहकर दिन-रात कठोर परिश्रम करने वाले प्रायः कहते हैं कि आत्मा के अमृतत्त्व की चर्चा का श्रवण करने के लिये उनके पास समय का अभाव है। ऐसे मूढों के लिए अनित्य विषय-लाभ जीवन का सर्वस्व है, यद्यपि वे स्वयं अपने परिश्रम-फल के अल्पांश का ही उपभोग कर पाते हैं। मूढ़ विषय लाभ के लिये दिन-रात निद्रा रहित बिताते हैं, उदर-व्रण अथवा मन्दाग्नि से पीड़ित होने पर भी किसी भी प्रकार के भोजन से परितृप्त नहीं होते। मायिक स्वामी के लाभार्थ दिन-रात अथक परिश्रम करने में अभिरत रहते हैं। अपने यथार्थ प्रभु (स्वामी)को न जानकर मूढ कर्मी माया की सेवा में अपने

अमूल्य समय का अपव्यय कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश, सब स्वामियों के परम स्वामी (भगवान्) की शरण वे कभी नहीं लेते और न ही समय निकाल कर प्रामाणिक आचार्य-मुख से उनकी कथा का श्रवण करते। विष्ठा खाने वाले शूकर को शर्करा और घृत से बने मिष्ठान्न रुचिकर प्रतीत नहीं होते। ऐसे ही, मूढ़ कर्मी जगत् को आन्दोलित करने वाली चंचल प्राकृत शक्ति की इन्द्रिय-तृप्ति-दायक वार्त्ताओं का ही श्रवण करता है।

(२) द्वितीय कोटि के दुष्ट 'नराधम' अर्थात् मनुष्यों में परम अधम कहलाते हैं। ८४,००,००० योनियों में ४,००,००० मानवीय योनियाँ हैं। इनमें अनेक नीच योनियों के मनुष्य प्रायः असभ्य होते हैं। सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विधि-विधान से युक्त मनुष्य सभ्य कहे जाते हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से विकसित होने पर भी जो धर्म से शून्य हैं, उन्हें नराधम माना जाता है। श्रीभगवान् की धारणा से शून्य धर्म यथार्थ में धर्म नहीं है, क्योंकि धर्माचरण का एकमात्र प्रयोजन परम सत्य को और उससे मनुष्य के सम्बन्ध को जानना है। गीता में श्रीभगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है कि उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई प्रमाण नहीं है, वे ही परम सत्य हैं। सभ्य मानव जीवन सर्वशक्तिमान् परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध की लुप्त चेतना को फिर से जागृत करने के लिये है। जो इस परम दुर्लभ सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह 'नराधम' हैं। शास्त्रों से ज्ञात है कि मातृ-गर्भ की परम दुखदायी अवस्था में शिशु श्रीभगवान् से अपने परित्राण के हेतु प्रार्थना करता है और वाहर निकलते ही उनकी आराधना करने का वचन भी देता है। विपदा में श्रीभगवान् की स्तुति करना जीव मात्र के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि वास्तव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्वन्ध है। परन्तु प्रसव होते ही वालक गर्भगत पीड़ा को भूल जाता है और माया के प्रभाव से अपने परित्राता की भी उसे विस्मृति हो जाती है।

अपने वालकों के सुप्त भगवत्प्रेम को पुनः उद्दीप्त करना अभिभावकों का प्रधान कर्तव्य है। वर्णाश्रम पद्धति के अन्तर्गत धर्मशास्त्र मनुस्मृति के अनुसार किए जाने वाले दस परिशोधन संस्कारों का

उद्देश्य इस भगवत्प्रेम को पुनः जागृत करना ही है। वस्तुतः विश्व के किसी भी अंचल में इस पद्धति का दृढ़ अनुसरण नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप, आज विश्व में ९९.९ प्रतिशत लोग नराधम हैं।

सम्पूर्ण जनता के नराधम हो जाने से सम्पूर्ण तथाकथित शिक्षा भौतिक प्रकृति की सर्वसामर्थ्यमयी शक्ति के प्रभाव से अनायास ही निष्फल हो जाती है। गीता के मापदण्ड के अनुसार, विद्वान् ब्राह्मण, कुत्ते, गाय, हाथी और चाण्डाल में सम-दृष्टि वाला पण्डित है। यथार्थ भक्त यही सद्दृष्टि रखता है। गुरु रूप धारी भगवदवतार श्रीनित्यानन्द प्रभु ने नराधम-शिरोमणि जगाई-मधाई बन्धुओं का उद्धार कर नराधमों पर शुद्ध भक्त की अनुकम्पा के परिवर्षण का आदर्श स्थापित किया। अतः भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा से श्रीभगवान् द्वारा दण्डित नराधम में भी भगवत्प्रेम का पुन. उदय हो सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागवत-धर्म का प्रवर्तन करते हुए उपदेश किया है कि लोग दैन्य भाव से भगवत्कथा का श्रवण करें। भगवद्गीता इस कथा की सार-सर्वस्व है। विनम्र भाव से भागवती कथा का श्रवण करने पर नराधमों की भी मुक्ति हो सकती है। दुर्भाग्यवश, भगवत्-इच्छा के प्रति समर्पण का तो प्रश्न ही कहां, वे तो इस कथा का श्रवण भी नहीं करते। इस प्रकार, ये नराधम मनुष्य योनि के सर्वप्रधान कर्तव्य की पूर्णरूप से उपेक्षा कर रहे हैं।

(३) तृतीय श्रेणी के दुरात्मा 'माययापहृत ज्ञान' कहलाते हैं, अर्थात जिनका व्युत्पन्न ज्ञान माया शक्ति के प्रभाव से हर लिया गया है। दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि विद्वानों को माया सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है, जिससे ये सभी श्रीभगवान् की अवज्ञा करते हैं।

वर्तमान काल में, गीता के विद्वानों में भी अनेक 'माययापहृत ज्ञान' मूढ़ हैं। गीता में सीधी सरल भाषा में बार-बार कहा गया है कि श्री कृष्ण स्वय भगवान् हैं। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नहीं। उन्हें सब मनुष्यों के पिता ब्रह्मा का भी पिता कहा गया है। वस्तुतः, ब्रह्मा के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीव-योनियों

अमूल्य समय का अपव्यय कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश, सब स्वामियों के परम स्वामी (भगवान्) की शरण वे कभी नहीं लेते और न ही समय निकाल कर प्रामाणिक आचार्य-मुख से उनकी कथा का श्रवण करते। विष्ठा खाने वाले शूकर को शर्करा और घृत से बने मिष्ठान्न रुचिकर प्रतीत नहीं होते। ऐसे ही, मूढ़ कर्मी जगत् को आन्दोलित करने वाली चंचल प्राकृत शक्ति की इन्द्रिय-तृप्ति-दायक वार्ताओं का ही श्रवण करता है।

(२) द्वितीय कोटि के दुष्ट 'नराधम' अर्थात् मनुष्यों में परम अधम कहलाते हैं। ८४,००,००० योनियों में ४,००,००० मानवीय योनियाँ हैं। इनमें अनेक नीच योनियों के मनुष्य प्रायः असभ्य होते हैं। सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विधि-विधान से युक्त मनुष्य सभ्य कहे जाते हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से विकसित होने पर भी जो धर्म से शून्य हैं, उन्हें नराधम माना जाता है। श्रीभगवान् की धारणा से शून्य धर्म यथार्थ में धर्म नहीं है, क्योंकि धर्माचरण का एकमात्र प्रयोजन परम सत्य को और उससे मनुष्य के सम्बन्ध को जानना है। गीता में श्रीभगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है कि उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई प्रमाण नहीं है, वे ही परम सत्य हैं। सभ्य मानव जीवन सर्वशक्तिमान् परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध की लुप्त चेतना को फिर से जाग्रत करने के लिये है। जो इस परम दुर्लभ सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह 'नराधम' है। शास्त्रों से ज्ञात है कि मातृ-गर्भ की परम दुःखदायी अवस्था में शिशु श्रीभगवान् से अपने परित्राण के हेतु प्रार्थना करता है और बाहर निकलते ही उनकी आराधना करने का वचन भी देता है। विपदा में श्रीभगवान् की स्तुति करना जीव मात्र के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि वास्तव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध है। परन्तु प्रसव होते ही बालक गर्भगत पीड़ा को भूल जाता है और माया के प्रभाव से अपने परित्राता की भी उसे विस्मृति हो जाती है।

अपने बालकों के सुप्त भगवत्प्रेम को पुनः उद्दीप्त करना अभिभावकों का प्रधान कर्तव्य है। वर्णाश्रम पद्धति के अन्तर्गत धर्मशास्त्र मनुस्मृति के अनुसार किए जाने वाले दस परिशोधन संस्कारों का

उद्देश्य इस भगवत्प्रेम को पुन: जागृत करना ही है। वस्तुत: विश्व के किसी भी अंचल में इस पद्धति का दृढ़ अनुसरण नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप, आज विश्व में ९९.९ प्रतिशत लोग नराधम हैं।

सम्पूर्ण जनता के नराधम हो जाने से सम्पूर्ण तथाकथित शिक्षा भौतिक प्रकृति की सर्वसामर्थ्यमयी शक्ति के प्रभाव से अनायास ही निष्फल हो जाती है। गीता के मापदण्ड के अनुसार, विद्वान् ब्राह्मण, कुत्ते, गाय, हाथी और चाण्डाल में सम-दृष्टि वाला पण्डित हैं। यथार्थ भक्त यही सद्दृष्टि रखता है। गुरु रूप धारी भगवदवतार श्रीनित्यानन्द प्रभु ने नराधम-शिरोमणि जगाई-मधाई बन्धुओं का उद्धार कर नराधमों पर शुद्ध भक्त की अनुकम्पा के परिवर्षण का आदर्श स्थापित किया। अत: भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा से श्रीभगवान् द्वारा दण्डित नराधम में भी भगवत्प्रेम का पुन: उदय हो सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागवत-धर्म का प्रवर्तन करते हुए उपदेश किया है कि लोग दैन्य भाव से भगवत्कथा का श्रवण करें। भगवद्गीता इस कथा की सार-सर्वस्व है। विनम्र भाव से भागवती कथा का श्रवण करने पर नराधमों की भी मुक्ति हो सकती है। दुर्भाग्यवश, भगवत्-इच्छा के प्रति समर्पण का तो प्रश्न ही कहां, वे तो इस कथा का श्रवण भी नहीं करते। इस प्रकार, ये नराधम मनुष्य योनि के सर्वप्रधान कर्तव्य की पूर्णरूप से उपेक्षा कर रहे है।

(३) तृतीय श्रेणी के दुरात्मा **'माययापहृत ज्ञान'** कहलाते हैं, अर्थात जिनका व्युत्पन्न ज्ञान माया शक्ति के प्रभाव से हर लिया गया है। दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि विद्वानों को माया सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है, जिससे ये सभी श्रीभगवान् की अवज्ञा करते है।

वर्तमान काल में, गीता के विद्वानों में भी अनेक **'माययापहृत ज्ञान'** मूढ हैं। गीता में सीधी सरल भाषा मे बार-बार कहा गया है कि श्री कृष्ण स्वयं भगवान् है। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नहीं। उन्हें सब मनुष्यों के पिता ब्रह्मा का भी पिता कहा गया है। वस्तुत:, ब्रह्मा के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीव-योनियों

के जन्मदाता हैं। वे ही निर्विशेप ब्रह्म के आश्रय हैं, और जीवमात्र में स्थित परमात्मा उनके अंश हैं। वे सबके उद्गम हैं, अतः सभी को उनके चरणारविन्द के शरणागत हो जाना चाहिए। इन स्पष्ट वाक्यों के होते हुए भी 'माययापहृत ज्ञान' मूढ़ श्रीभगवान् को साधारण मनुष्य समझकर उनका उपहास करते हैं। वे नहीं जानते हैं कि महाभाग मनुष्य-शरीर श्रीभगवान् के नित्य-चिन्मय श्रीविग्रह के अनुसार ही रचा गया है।

'माययापहृत ज्ञान' श्रेणी के मूढ़ों द्वारा परम्परा के परिसर से बाहर रचित गीता की समस्त अप्रामाणिक व्याख्याएं ज्ञान के पथ में व्यवधान ही सिद्ध होती हैं। मूढ़ व्याख्याकार न तो स्वयं श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करते और न ही दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा देते।

(४) अन्तिम कोटि के दुष्ट 'आसुर भावनाश्रित' अर्थात्, आसुरी स्वभाव से युक्त होते हैं। यह श्रेणी खुले रूप से अनीश्वरवादी है। इन कोटि के नर रूपधारी असुर तर्क करते हैं कि परमेश्वर इस जगत् में कभी अवतरित नहीं हो सकते, परन्तु अपने इस तर्क को वे किसी ठोस प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकते। दूसरे श्रीभगवान् को निर्विशेप ब्रह्म के आधीन कहते हैं, यद्यपि गीता में इससे ठीक विपरीत वर्णन है। श्रीभगवान् से ईर्ष्या करने वाला अनीश्वरवादी अनेक कपोल-कल्पित अप्रामाणिक अवतारों को प्रकट करता है। ऐसे व्यक्ति, जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवद्-निन्दा करना है, श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण नहीं ले सकते।

भक्तराज श्रीयामुनाचार्य का उद्गार है, 'प्रभो! आप विलक्षण गुण, रूप, लीला से समलंकृत हैं। सकल शास्त्रों द्वारा आपका विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह प्रमाणित है और दैवी गुण वाले ज्ञानी आचार्य भी आप का जय-जयकार करते हैं। तथापि, आपके प्रति आसुरभाव रखने वाले आपको जानने में सफल नहीं होते।'

अस्तु, (१) मूढ़, (२) नराधम, (३) विभ्रमित, मनोधर्मी तथा

(४) अनीश्वरवादी सब शास्त्रों एवं आचार्यों की सम्मति के विरुद्ध, श्रीभगवान् के चरण-कमलों की शरण में कभी नही आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

चतुर्विधाः=चार प्रकार के; भजन्ते=सेवा करते हैं; माम्=मेरी; जनाः=मनुष्य; सुकृतिनः=पुण्यात्मा; अर्जुन=हे अर्जुन; आर्तः=विपदाग्रस्त; जिज्ञासुः=ज्ञान का अभिलाषी; अर्थार्थी=विषय भोग की इच्छा वाला; ज्ञानी=तत्त्वज्ञ; च=तथा; भरतर्षभ=हे भरतवंश शिखामणि (अर्जुन)

अनुवाद

हे भारत (अर्जुन)! आर्त, धन की इच्छा वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं ॥१६॥

तात्पर्य

दुष्टों के विपरीत, ऐसे मनुष्य भी हैं, जो शास्त्रीय विधि-विधान का परिपालन करते हैं। ये 'सुकृतिन' कहलाते हैं। धार्मिक, नैतिक एव सामाजिक विधानों का आज्ञानुसरण करने वाले ये सभी व्यक्ति न्यूनाधिक रूप से भगवद्भक्त होते हैं। इन मनुष्यो की भी चार कोटियां हैं: विपदाग्रस्त, धन के अभिलाषी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। ये भिन्न-भिन्न कारणों से भगवद्भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में आते हैं। ये शुद्ध भक्त नही हैं, क्योकि इन्हे भक्ति के विनिमय मे कुछ न कुछ अभिलाषा की पूर्ति अभीष्ट है। शुद्ध भक्ति किसी भी अन्य अभिलाषा अथवा कामना से रहित होती है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है:

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'सकाम कर्म अथवा ज्ञान द्वारा किसी सांसारिक लाभ को प्राप्त करने की अभिलाषा से मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक दिव्य सेवा करनी चाहिए। इसी का नाम शुद्ध भक्ति है।'

भक्तियोग के निमित्त से श्रीभगवान् की शरण लेने और शुद्ध भक्त के सत्संग से पूर्णतया पवित्र हो जाने पर ये चार प्रकार के सुकृति भी शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जहाँ तक दुष्टों का सम्बन्ध है, उनके लिए भक्ति-योग के परायण होना अति कठिन है, क्योंकि उनका जीवन स्वार्थमय, असंयमित और पारमार्थिक लक्ष्य से शून्य होता है। परन्तु उनमें से भी कुछ सौभाग्यवश शुद्ध भक्त का सत्संग करते हैं, जिससे वे स्वयं भी शुद्ध भक्त बन जाते हैं।

सकाम कर्म में ही लगे रहने वाले सांसारिक दुःख के समय भगवान् की शरण में आते हैं और शुद्ध भक्त के संग से भक्तियोग में प्रवृत्त हो जाते हैं। संसार से सर्वथा निराश हुए व्यक्तियों में भी शुद्ध भक्त के सत्संग से भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा का उदय हो जाता है। इसी प्रकार, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में निरस्त हुए शुष्क दार्शनिक भगवद्-ज्ञान के लिए उत्कण्ठित होकर भगवद्भक्ति करते हैं तथा इस प्रकार भगवत्कृपा अथवा महाभागवतकृपा से ब्रह्म एवं एकदेशीय परमात्मा के ज्ञान का उल्लंघन कर सविशेष श्रीभगवान् को प्राप्त करते हैं। संक्षेप में, सम्पूर्ण विषयैषणा से मुक्त होकर यह भलीभांति हृदयंगम कर लेने पर कि लौकिक लाभ का पारमार्थिक उन्नति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी, ये सब शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जब तक ऐसी परम शुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक भगवत्सेवा में नियोजित भक्त सकाम कर्म से दूषित रहते हैं और ज्ञानादि का अन्वेषण भी करते रहते हैं। अतः विशुद्ध भक्तियोग के स्तर पर आने के लिए इन सभी व्यव-धानों का अतिक्रमण करना आवश्यक है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषाम्=उनमें ; ज्ञानी=ज्ञानवान् ; नित्य युक्तः=सदा तत्पर ; एक-भक्तिः=अनन्य भक्ति वाला ; विशिष्यते=अतिश्रेष्ठ है ; प्रियः=अतिशय प्रेमास्पद हूं ; हि=निःसन्देह ; ज्ञानिनः=ज्ञानवान् का ; अत्यर्थम्=अत्यन्त ; अहम्=मैं ; सः=वह ; च=भी ; मे=मेरा ; प्रियः=प्रिय है ।

अनुवाद

इनमें भी, शुद्ध भक्तियोग द्वारा मुझसे युक्त हुआ ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूं और वह मुझे अतिशय प्रिय है ।। १७ ।।

तात्पर्य

विषयैषणा सब दूषणों से मुक्त हुए आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एव ज्ञानी ये सभी शुद्ध भक्त बनने योग्य हैं। परन्तु इनमें भी, निस्पृह तत्त्वज्ञानी वास्तव में शुद्ध भगवद्भक्त बन जाता है। अतः चारों श्रेणियों में, जो पुरुष भगवद्भक्ति-परायण हैं और पूर्ण ज्ञानवान् भी है, वह श्रीभगवान् के अनुसार सर्वश्रेष्ठ है। तत्त्व जिज्ञासु जान जाता है कि उसका आत्मस्वरूप देह से भिन्न है और उत्तरोत्तर उन्नति करने पर उसे निर्विशेष ब्रह्म एवं परमात्मा का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। पूर्णतया शुद्ध हो जाने पर उसे बोध होता है कि वह स्वरूप से श्रीभगवान् का नित्य दास है। अस्तु महाभागवतों के सत्संग से जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी और ज्ञानवान्—ये सब स्वयं भी शुद्ध हो जाते हैं। परन्तु साधनावस्था में, भगवद्भक्ति सम्पादन करने वाला पूर्ण ज्ञानी श्रीभगवान् का अतिशय प्रेम-पात्र होता है। श्रीभगवान् की दिव्यता के विशुद्ध ज्ञान से युक्त पुरुष का श्रीभगवान् इस प्रकार संरक्षण करते हैं कि संसार के दोष उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।१८।।

उदाराः=उदार हैं ; सर्वे एव=सभी ; एते=ये ; ज्ञानी=ज्ञान-

वान् ; तु=तो ; आत्मा एव=मेरे ही समान ; मे=मेरा ; मतम्=मत है ; आस्थितः=स्थित है ; सः=वह ; हि=निःसन्देह ; युक्त-आत्मा=भक्ति में संलग्न ; माम्=मेरी ; एव=निःसंदेह ; अनुत्तमाम्=परम उत्तम ; गतिम्=लक्ष्य स्वरूप ।

अनुवाद

ये सभी भक्त उदार हैं, परन्तु मेरे ज्ञान में अवस्थित हुए पुरुष को तो मैं अपने में ही स्थित मानता हूं । मेरी भक्ति में नित्य संलग्न रहने से वह मुझे ही प्राप्त होता है ॥१८॥

तात्पर्य

यह सत्य नहीं कि अपूर्ण ज्ञान वाले अन्य भक्त श्रीभगवान् को प्रिय नहीं होते । श्रीभगवान् कहते हैं कि ये सभी उदार हैं, क्योंकि किसी भी हेतु से श्रीभगवान् की शरण में आने वाला 'महात्मा' है । भगवद्-भक्ति से किसी प्राकृत लाभ की अभिलाषा रखने वाले भक्तों को भी श्रीभगवान् स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनमें भी स्नेह-भाव होता है । स्नेहवशात् ही वे श्रीभगवान् से किसी विषय लाभ की कामना करते हैं । वाञ्छा-पूर्ति से उत्पन्न हुई संतुष्टि से भगवद्भक्ति के पथ में उनका उत्थान भी होता है । तथापि पूर्ण ज्ञानवान् भक्त श्रीभगवान् का अतिशय प्रेमास्पद है, क्योंकि उसका एकमात्र प्रयोजन प्रेम-भक्ति-भावित भगवत्सेवा करना है । ऐसा भक्त भगवद्-सन्निधि अथवा भगवत्सेवा के विना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता । श्रीभगवान् को अपना भक्त अति प्रिय है; अतः वे भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकते ।

श्रीमद्भागवत (९. ४. ५७) में भगवद्वचन है :

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥

'भक्त मेरे हृदय में निवास करते हैं और मैं भी उनके हृदय में सदैव विराजमान रहता हूं । मेरे अतिरिक्त वे अन्य कुछ नहीं जानते

और मैं भी उनका विस्मरण नही कर सकता। शुद्ध भक्तों और मुझ में प्रगाढ़ प्रेममय अंतरंग सम्बन्ध है। पूर्ण ज्ञानी शुद्ध भक्त मेरी सन्निधि से कभी दूर नहीं होते। इसलिए वे मेरे अति प्रिय हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहूनाम्=अनेक ; जन्मनाम्=जन्मों के ; अन्ते=अनन्तर ; ज्ञानवान्=ज्ञानी ; माम्=मेरी ; प्रपद्यते=शरण में आता है ; वासुदेवः=सम्पूर्ण कारण का परम कारण ; सर्वम्=सब कुछ ; इति=इस प्रकार ; सः=ऐसा ; महात्मा=महात्मा ; सुदुर्लभः=दुर्लभ है।

अनुवाद

अनेक जन्मान्तरों के अन्त में यथार्थ ज्ञानी मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्वरूप जानकर मेरी शरण मे आता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है ॥ १९ ॥

तात्पर्य

भगवद्भक्ति करते हुए अनेक जन्मान्तरों के अन्त में जीव को इस विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है कि आत्मानुभूति के परमोच्च लक्ष्य श्रीभगवान् हैं। परमार्थ के प्रारम्भ में, भोगासक्ति की निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील साधक की प्रवृत्ति कुछ-कुछ निर्विशेषवाद के प्रति रहती है। परन्तु अधिक उन्नति करने पर वह यह जान जाता है कि पारमार्थिक दिव्य जीवन में अप्राकृत क्रियाएं होती हैं, और इनको ही भक्तियोग कहते है। यह जानकर वह श्रीभगवान् में अनुरक्त हो जाता है और उनके श्रीचरणों में सर्वात्म-समर्पण कर देता है। ऐसी अवस्था मे वह समझ सकता है कि भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा ही सर्व-सार-सर्वस्व है, श्रीकृष्ण स्वयं सब कारणों के परम कारण हैं, यह सृष्टि उनसे स्वतन्त्र नही है। वह अनुभव करता है कि प्राकृत जगत् भगवदीय वैचित्री की विकृत-प्रतिच्छाया है तथा सब कुछ परमेश्वर श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखता है। इस

प्रकार वह प्रत्येक वस्तु का चिन्तन वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही करता है। वासुदेव को सर्वत्र देखने का यह अभ्यास परम लक्ष्य के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उसके पूर्ण समर्पण को शीघ्रान्वित करता है। इस प्रकार के शरणागत जीव अति दुर्लभ हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के तृतीय अध्याय में इस श्लोक का अति उत्तम वर्णन है—'इस देह में बोलने, देखने, सुनने और चिन्तन आदि करने की शक्तियां हैं। किन्तु श्रीभगवान् से सम्बन्ध के बिना ये सभी व्यर्थ हैं। वासुदेव सर्वव्यापक एवं सर्वरूप हैं। अतः पूर्ण ज्ञान से युक्त हुआ भक्त उनके चरणों में प्रपन्न हो जाता है।'

(द्रष्टव्य भगवद्गीता ७.१७,११.४०)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

कामैः=कामनाओं द्वारा ; **तैः**=उन ; **तैः**=उन ; **हृतज्ञानाः**=हरे हुए ज्ञान वाले ; **प्रपद्यन्ते**=शरण लेते हैं ; **अन्य**=अन्य ; **देवताः**=देवताओं की ; **तम्**=उस ; **तम्**=उस ; **नियमम्**=विधान का ; **आस्थाय**=परिपालन करते हुए ; **प्रकृत्या**=स्वभाव द्वारा ; **नियताः**=वश में किए हुए ; **स्वया**=अपने ।

अनुवाद

जिनका चित्त विषय-वासना से दूषित है, वे ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुरूप उपासना के विधि-विधान का पालन करते हैं ॥२०॥

तात्पर्य

जो सम्पूर्ण सांसारिक पापों से मुक्त हो चुके हैं, वे जीव श्रीभगवान् के शरणापन्न होकर उनकी भक्ति करते हैं। जब तक पापों का पूर्णतया शोधन नहीं हो जाता, वे स्वभावतः अभक्त ही रहते हैं। किन्तु विषय वासना से दूषित होते हुए जो भगवान् के उन्मुख होते हैं, वे जीव भी

बहिरंगा प्रकृति (माया) की ओर अधिक आकृष्ट नहीं होते; यथार्थ लक्ष्य के प्रति उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए वे शीघ्र प्राकृत काम विकार से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। 'श्रीमद्भागवत' में कहा गया है कि चाहे मनुष्य विषय-वासना से सर्वथा मुक्त हो, अथवा अनेक प्राकृत अभिलाषाओं से युक्त हो, भव बन्धन से मुक्ति चाहता हो अथवा विषय-भोग से प्राप्त होने वाली इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छा से सर्वथा रहित शुद्ध भक्त हो, प्रत्येक अवस्था में भगवान् वासुदेव के शरणागत होकर उन्हीं का भजन करे।

श्रीमद्भागवतम् का कथन है कि आध्यात्मिक ज्ञान के अल्पज्ञ मनुष्य ही विषय-वासना की तात्कालिक पूर्ति के हेतु देवताओं का आश्रय लेते हैं। सामान्य रूप से इस कोटि के लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते, क्योंकि रजोगुण-तमोगुण से कलुषित होने के कारण उन्हें विविध देवताओं की उपासना अधिक रुचिकर होती है। देवोपासना के विधि-विधान का पालन करने में ही वे सन्तुष्ट रहते हैं। तुच्छ मनोरथों द्वारा प्रेरित हुए ये देवोपासक परम लक्ष्य की प्राप्ति के पथ से अनभिज्ञ रहते हैं। परन्तु भगवद्भक्त सन्मार्ग से कदापि भ्रष्ट नहीं होते। वेदों में अलग-अलग उद्देश्यों के लिए विविध देवताओं की उपासना का विधान है। जैसे, रोगी के लिए सूर्योपासना का विधान है। इससे अभक्त समझ बैठते हैं कि कुछ कार्यों के लिए देवता भगवान् श्रीकृष्ण से भी श्रेष्ठ हैं। शुद्ध-भक्त जानता है कि परमेश्वर श्रीकृष्ण सबके एकमात्र स्वामी हैं। 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही स्वामी हैं, अन्य सब उनके सेवक हैं। अत. अपनी सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी शुद्ध-भक्त देवताओं से कभी याचना नहीं करता। वह सदा श्रीभगवान् पर निर्भर रहता है और भगवान् स्वयं जो कुछ भी दें, उसी में उसे परम सन्तोष की अनुभूति होती है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

यः=जो ; **यः**=जो ; **याम्**=जिस ; **याम्**=जिस ; **तनुम्**=देव-रूप को ; **भक्तः**=सकाम भक्त ; **श्रद्धया**=श्रद्धापूर्वक ; **अर्चितुम्**=पूजने की ; **इच्छति**=इच्छा करता है ; **तस्य**=उस ; **तस्य**=उसकी ; **अचलाम्**=स्थिर ; **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को ; **ताम् एव**=उस देवता में ही ; **विदधामि**=करता हूं ; **अहम्**=मैं ।

अनुवाद

जीवमात्र के हृदय में मैं परमात्मा रूप से स्थित हूं। इसलिए जो सकाम भक्त जिस देवरूप को श्रद्धा से पूजने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूं ॥२१॥

तात्पर्य

ईश्वर ने सबको स्वतन्त्रता दी है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति विषय-भोग की इच्छा से किसी देवता से उपयुक्त सुविधा की अभिलाषा करता है, तो परमात्मा-रूप से प्राणी-मात्र के हृदय में विद्यमान परमेश्वर श्रीकृष्ण उसके मनोभाव को जान जाते हैं और तदनुरूप अनुकूलता का विधान कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवों के परम पिता के रूप में वे उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करते। वरन्, उनकी मनोरथ-सिद्धि के लिए पूर्ण सुविधा की व्यवस्था करते हैं। यह जिज्ञासा हो सकती है कि सर्व-शक्तिमान् श्रीभगवान् जीवों को इस जगत् को भोगने की सुविधा प्रदान कर उन्हें माया-पाश में गिरने क्यों देते हैं। उत्तर स्वरूप यह उल्लेखनीय है कि यदि परमात्मा के रूप में श्रीभगवान् ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं कराते तो जीव की स्वतन्त्रता निरर्थक हो जाती। उन्होंने जीव-मात्र को स्वेच्छानुरूप आचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता दी है। उनका अन्तिम आदेश 'भगवद्गीता' में इस प्रकार है : मनुष्य को अन्य सब कार्यों को त्यागकर उन्हीं के प्रति पूर्ण समर्पण कर देना चाहिए। इसी से वह सुखी हो सकेगा।

जीवात्मा और देवता, दोनों भगवत्-इच्छा के आधीन हैं। जीव न तो स्वेच्छापूर्वक देवाराधन कर सकता और न ही देवता भगवत्-इच्छा के बिना उसे कोई वरदान दे सकते। जैसा कि लोक-प्रसिद्ध है,

भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। साधारणतया, संसार में विपदाग्रस्त व्यक्ति देवोपासना करते हैं, जैसा वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट है। विविध कामनाओं के निमित्त विविध देवताओं की उपासना का विधान है। उदाहरणस्वरूप, रोगी को सूर्योपासना करनी चाहिए, विद्याकामी को विद्या की देवी सरस्वती का पूजन तथा सुन्दरी स्त्री की अभीप्सा वाला भगवान् शिव की अर्धाङ्गिनी उमा की आराधना करे। इस प्रकार शास्त्रों में विविध देवगणों की उपासना का विधान है। प्रत्येक जीव को किसी विशेष प्राकृत सुख का उपभोग अभीष्ट होता है। अतएव श्रीभगवान् उसे तत्सम्बन्धी देवता से उपयुक्त वरदान प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा से प्रेरित करते हैं। इस प्रकार वह जीव को अभीष्ट वर की प्राप्ति में सफल हो जाता है। किसी देवता के प्रति जीव के भक्तिभाव का विधान भी श्रीभगवन् करते हैं, देवता जीवों को ऐसी बन्धुता से अविभावित करने में समर्थ नहीं हैं, जीवमात्र के हृदय में परमेश्वर अथवा परमात्मा रूप से विद्यमान श्रीकृष्ण ही मानव को देवोपासना के लिए प्रेरित करते हैं। देवता तो वस्तुतः श्रीकृष्ण के विश्वरूप के विविध अङ्ग ही हैं, इसलिए उनमें स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव है। वेद (तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रथम अनुवाक) में उल्लेख है: 'परमात्मा रूपधारी श्रीभगवान् देवगण के हृदय में अवस्थित हैं। अतएव देवताओं के द्वारा जीवों की इच्छा-पूर्ति का विधान वही करते हैं। इस प्रकार देवता और जीवात्मा, दोनों स्वतन्त्र नहीं हैं, वरन् भगवत्-इच्छा के आधीन हैं।'

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥

सः=वह; तया=उस; श्रद्धया=श्रद्धा से; युक्तः=युक्त हुआ; तस्य=उस देवता की; आराधनम्=उपासना; ईहते=करता है; लभते=प्राप्त करता है; च=तथा; ततः=उससे, कामान्=इच्छित भोगों को; मया=मेरे द्वारा; एव=ही; विहितान्=रचित; हि=निःसन्देह; तान्=उन।

अनुवाद

वह पुरुष उससे युक्त होकर उसी देवता का आराधन करके इच्छित अपने भोगों को प्राप्त करता है। परन्तु वास्तव में इन भोगों को देने वाला मैं ही हूं ॥२२॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् की अनुमति के बिना देवता भक्तों को किसी वरदान से पुरस्कृत नहीं कर सकते। जीवों के लिए यह भूल जाना सम्भव है कि सब कुछ परमेश्वर श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, परन्तु देवता यह कभी नहीं भूलते। अतः देवाराधना और उससे प्राप्त अभीष्ट-सिद्धि के कारण देवगण नहीं, वरन् श्रीभगवान् की व्यवस्था से ही यह सम्भव होता है। इस सत्य को ही जानने वाला अल्पज्ञ जीव मूर्खतावश तुच्छ भोगों के लिए देवताओं की शरण में चला जाता है। इसके विपरीत, किसी अभाव से पीड़ित होने पर भी शुद्ध भक्त श्रीभगवान् से ही प्रार्थना करता है। वास्तव में विषय-सुख की याचना करना तो शुद्ध भक्त का लक्षण ही नहीं है। काम-तृप्ति के हेतु उन्मत्त हुआ जीव देवोन्मुख होता है। यह तभी होता है जब वह किसी अनर्थ को वाञ्छा करता है, जिसकी पूर्ति भगवान् नहीं करते। 'चैतन्य चरितामृत' में कहा है कि भगवान् की आराधना करते हुए भी विषय-सुख की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति की इच्छाएं परस्पर विरुद्ध (असंगत) हैं। देवोपासना भगवद्-भक्तियोग के समकक्ष नहीं हो सकती, देवोपासना प्राकृत है जबकि भगवदुपासना पूर्णतया अप्राकृत होती है।

अपने यथार्थ घर—श्रीभगवान् के धाम को लौटने के अभिलाषी जीवों के लिए विषय-वासना विघ्नकारी है। अतएव शुद्ध भक्त को वे प्राकृत भोग प्रदान नहीं किए जाते, जिनकी इच्छा वे अल्पज्ञ जीव करते हैं, जो भगवद्-भक्तियोग की उपेक्षा कर देवोपासना में तत्पर रहते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्तवत्=सीमित और नश्वर ; तु=परन्तु ; फलम्=फल ; तेषाम् =उन ; तत्=वह ; भवति=होता है ; अल्पमेधसाम्=अल्पज्ञों का ; देवान्=देव लोकों को ; देवयजः=देवोपासक ; यान्ति=प्राप्त होते हैं ; मत्=मेरे ; भक्ताः=भक्त ; यान्ति=प्राप्त होते हैं ; माम्=मेरे को ; अपि=ही ।

अनुवाद

परन्तु उन अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को देवोपासना द्वारा सीमित और क्षणभंगुर फल की ही प्राप्ति होती है । देवोपासक देवलोकों को प्राप्त होते हैं, जबकि मेरे भक्त अन्त में मेरे परम धाम को जाते हैं ॥२३॥

तात्पर्य

गीता के कतिपय व्याख्याकारों का कथन है कि देवोपासक को भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है । परन्तु इस श्लोक में परिस्फुटित रूप से कहा गया है कि देवोपासक विविध देवलोकों को ही प्राप्त होते हैं । उदाहरण-स्वरूप, सूर्योपासक सूर्य-लोक में प्रवेश करता है तथा चन्द्रोपासक को चन्द्र-लोक की प्राप्ति होती है । तदनुरूप, इन्द्रादि देवताओं की उपासना के अभिकांक्षी को वही-वही देवलोक प्राप्त हो सकता है । यह सत्य नहीं कि किसी भी देवता की आराधना करने से भगवत्प्राप्ति हो जायगी । इस धारणा के निराकरण के लिए यहां स्पष्ट कहा गया है कि देवोपासकों को प्राकृत जगत् में स्थित विविध लोकों की प्राप्ति होती है, जबकि भगवद्भक्त साक्षात् परम लोक—भगवद्धाम में गमन करते हैं ।

यह तर्क किया जा सकता है कि यदि देवता श्रीभगवान् के विश्व (विराट) रूप के अंग-प्रत्यङ्ग हैं, तो उनकी उपासना से उसी लक्ष्य (श्रीभगवान्) की प्राप्ति हो जानी चाहिए । इससे देवोपासक निश्चित रूप से अल्पज्ञ सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे इतना भी नहीं जानते कि शरीर के किस अंग में भोजन पहुंचना चाहिए । उनमें से अधिक मूढ़ तो यहां तक कहते हैं कि भोजन ग्रहण के योग्य अनेक अङ्ग हैं जिनमें भोजन पहुंचाने की

अनेक विधियां हैं। यह कहना अधिक बुद्धिसंगत नहीं है। क्या कोई कर्णरन्ध्रों अथवा नेत्रों के माध्यम से देह में भोजन पहुंचा सकता है? साधारण मनुष्य नहीं जानते कि ये देवता श्रीभगवान् के विराट रूप के विभिन्न अवयव हैं। इस अज्ञानवश वे प्रत्येक देवता को स्वतन्त्र ईश्वर और परमेश्वर श्रीकृष्ण का प्रतिस्पर्धी मानने की भूल भी कर बैठते हैं।

देवता ही नहीं, साधारण जीव भी श्रीभगवान् के अंश हैं। श्रीमद्-भागवत में कथन है कि ब्राह्मण विश्वरूप श्रीभगवान् के शीर्ष हैं, क्षत्रिय भुजदण्ड हैं, इत्यादि। ये सब भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। वर्ण-स्थिति को महत्त्व न देते हुए जो यह जानता है कि देवता और वह स्वयं भी श्रीभगवान् का भिन्न-अंश हैं, वह पूर्ण ज्ञानी है। जो यह नहीं जानता, उसे देवलोकों की प्राप्ति होती है। भक्तों की गति इससे भिन्न है।

देवताओं के वरदान से प्राप्त होने वाले फल नश्वर हैं, क्योंकि इस प्राकृत जगत् के लोक, देवता और उनके उपासक आदि सभी अनित्य हैं। इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि देवोपासना से उत्पन्न हुए समस्त फल नश्वर हैं। अतएव अल्पज्ञ जीव ही देवोपासना करेगा। दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित भक्तियोगी शुद्ध भक्त को सच्चिदानन्द-मय जीवन की प्राप्ति होती है। अतएव यह सिद्ध होता है कि उसकी और साधारण देवोपासकों की उपलब्धियों में गम्भीर अन्तराल है। भगवान् श्रीकृष्ण निरवधि हैं, उनकी करुणा-कृपा की भी अवधि-परिधि नहीं है। अपने शुद्ध भक्तों पर वे अशेष कृपा-कादम्बिनी का नित्य परि-वर्षण करते रहते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अव्यक्तम्=अप्रकट ; **व्यक्तिम्**=व्यक्तिभाव को ; **आपन्नम्**=प्राप्त हुआ; **मन्यन्ते**=मानते हैं ; **माम्**=मुझे ; **अबुद्धयः**=अल्पज्ञ मनुष्य ; **परम्**=परम ; **भावम्**=भाव को ; **अजानन्तः**=न जानते हुए ; **मम**=मेरे ; **अव्ययम्**=अविनाशी ; **अनुत्तमम्**=परम उत्तम ।

अनुवाद

मुझे न जानने वाले बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि मैंने यह रूप एवं व्यक्तित्व धारण किया है। वे मेरे परम अविनाशी स्वरूप को नही जानते ॥२४॥

तात्पर्य

पूर्वी श्लोकों में देवोपासकों को अल्पज्ञ कहा गया है तथा इस श्लोक में निर्विशेष वादियों को भी इसी प्रकार बुद्धिहीन कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण निज रूप में यहां अर्जुन को अपने वचनामृत का पान करा रहे हैं, तथापि, अज्ञानवश मोहित निर्विशेषवादी तर्क करते हैं कि अन्ततोगत्वा परमेश्वर निराकार ही हैं। श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के महिमामय भगवद्भक्त यामुनाचार्य ने इस सन्दर्भ में दो अति समीचीन श्लोकों की रचना की है। वे कहते हैं, "प्रभो ! व्यासदेव, नारद आदि भक्त आपको पुरुषोत्तम भगवान् मानते हैं। वैदिक शास्त्रों को हृदयंगम करने से आपके स्वरूप-लक्षणों, रूप, लीलामृत आदि का बोध होता है तथा यह भी ज्ञात हो जाता है कि आप स्वय भगवान् हैं। किन्तु रजोगुणी और तमोगुणी अभक्त असुर आपको नही समझ पाते, क्योंकि आपके तत्त्व को हृदयंगम करने में वे सर्वथा असमर्थ रहते हैं। ऐसे अभक्त वेदान्त, उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों की चर्चा करने में कितने ही कुशल क्यों न हों, परन्तु प्रभु के पुरुष रूप को नही जान सकते।

'ब्रह्म संहिता' का कथन है कि वेदान्त स्वाध्याय मात्र से भगवत्-तत्त्व का ज्ञान दुर्लभ है। श्रीभगवान् के निरुपाधिक अनुग्रह के प्रताप से ही उनके स्वरूप का बोध होता है। अतः इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि देवोपासक ही नहीं, वरन् वेदान्त तथा वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में मनोधर्मी करने वाले यथार्थ कृष्णभावना विहीन अभक्त भी अल्पज्ञ हैं। इस श्रेणी के व्यक्तियों के ,लिये ईश्वर के नराकार पुरुष स्वरूप को जानना असम्भव है। इसी से परतत्त्व को निर्विशेष मानने वालों को असुर कहा है। असुर उसे कहते हैं जो परतत्त्व के परम स्वरूप को नहीं जानता। श्रीमद्भागवत की वाणी है कि परतत्त्व की अनुभूति

निर्विशेष ब्रह्म-रूप से प्रारम्भ होती है, इसके आगे एकदेशीय परमात्मा की अनुभूति है, परन्तु परतत्त्व की परमावधि तो पुरुष रूप श्रीभगवान् ही हैं। आधुनिक निर्विशेषवादी और भी अधिक अल्पज्ञ हैं, क्योंकि वे अपने महान् पूर्वगामी शंकराचार्य का भी अनुगमन नहीं करते, जिन्होंने विशेष रूप से श्रीकृष्ण को भगवान् घोषित किया है। अतः परम सत्य को न जानने वाले निर्विशेषवादी श्रीकृष्ण को वसुदेव-देवकी का सामान्य पुत्र, राजकुमार अथवा शक्तिशाली जीव-मात्र मानते हैं। भगवद्गीता में इसकी निन्दा है : 'मूर्ख मनुष्य ही मुझे साधारण व्यक्ति समझते हैं।" सत्य यह है कि भक्तियोग का आचरण तथा कृष्णभावनामृत का अनुशीलन किए विना किसी को भी श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। यह गीता द्वारा प्रमाणित है।

मनोधर्म अथवा वैदिक वाङ्मय पर वार्तालाप करने मात्र से भगवान् श्रीकृष्ण को अथवा उनके रूप, चिद्गुण, नामादि को जाना नहीं जा सकता। उनका ज्ञान विशुद्ध भक्ति योग से ही लभ्य है। 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे । हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'— इस महामन्त्र के कीर्तन से भक्तियोग का प्रारम्भ कर कृष्णभावना में पूर्णतया निरत हुआ पुरुष ही श्रीभगवान् को तत्त्व से जान सकता है। अभक्त निर्विशेषवादियों की धारणा में श्रीकृष्ण का विग्रह माया-निर्मित है तथा उनके सव लीला-विलास, रूप आदि तत्त्व भी मायिक हैं। अपनी इस मान्यता के कारण ही ये निर्विशेषवादी 'मायावादी' कहलाते हैं। वे परम सत्य को नहीं जानते।

वीसवें श्लोक में स्पष्ट किया गया है–'कामनाओं से अंधे हुए व्यक्ति ही विभिन्न देवताओं की उपासना में प्रवृत्त होते हैं।' यह स्वीकृत तथ्य है कि श्रीभगवान् के अतिरिक्त अपने-अपने लोकों वाले अनेक देवगण हैं (भगवद्गीता ७. २३), तथा श्रीभगवान् का भी निज धाम है। यह भी उल्लेख है कि देवोपासक विविध देव-लोकों में गमन करते हैं, जबकि कृष्णभ[illegible] परम धाम कृष्णलोक में जाते हैं। इन स्पष्ट वाक्यों के होते हुए भी [illegible]षवादियों का यही हठ है कि परमेश्वर निराकार हैं, और [illegible]-रूप आरोपण मात्र हैं। क्या गीता के स्वाध्याय से यह भ[illegible] देवता एवं उनके लोक निर्विशेष हैं ? स्पष्टतः

देवता अथवा भगवान् श्रीकृष्ण निराकार नहीं हैं। वे सभी सविशेष-साकार हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनका अपना लोक है, जैसे देवताओं के भी अपने-अपने लोक हैं।

अस्तु, अद्वैतवादियों का यह तर्क कि परम सत्य निराकार है उस पर रूप आरोपित है, सत्य सिद्ध नहीं होता। गीता से हम भलीभांति जानते हैं कि देवताओं और परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-भिन्न विग्रह एक साथ विद्यमान हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण का यह वैशिष्ट्य है कि वे सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। वेद भी प्रमाणित करते हैं कि परतत्त्व आनन्दमय है और 'अभ्यासात्' अर्थात् स्वरूपतः निरवधि चिन्मय गुणों का निधान है। गीता में स्वयं श्रीभगवान् का कथन है कि अजन्मा होने पर भी वे प्रकट होते हैं। पाठक इन सब तथ्यों को गीता से भलीभांति हृदयङ्गम करें। हम श्रीभगवान् को निर्विशेष नहीं मान सकते, क्योंकि गीता के वचनों से निर्विशेष अद्वैतवादियों का आरोपणवाद मिथ्या सिद्ध होता है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि परतत्त्व-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का अपना विशिष्ट रूप और व्यक्तित्व है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

न=नहीं; अहम्=मैं; प्रकाशः=प्रकट होता है; सर्वस्य=सबके प्रति; योगमाया=अन्तरङ्गा शक्ति से; समावृतः=छिपा हुआ; मूढ़ः=मूर्ख; अयम्=यह; न=नहीं; अभिजानाति=जान सकता; लोकः=मनुष्य; माम्=मुझ; अजम्=अजन्मा, अव्ययम्=अविनाशी को।

अनुवाद

मैं मूढ़ और अल्पज्ञ मनुष्यों के सामने कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी नित्य योगमाया में छिपा रहता हूं। इस प्रकार मोहित हुआ जगत् मुझ अजन्मा-अविनाशी को तत्त्व से नहीं जानता ॥२५॥

तात्पर्य

यह तर्क किया जा सकता है कि यदि श्रीकृष्ण पृथ्वी पर वास्तव में विद्यमान् थे और सभी के दृष्टिगोचर थे, तो अब वे सबके सम्मुख प्रकट क्यों नहीं होते ? परन्तु वास्तव में वसुन्धरा पर श्रीकृष्ण के अवतरण काल में भी कुछ दुर्लभ व्यक्ति ही यह जान पाते थे कि वे भगवान् हैं। कौरव-सभा में, जब शिशुपाल ने सभा के अध्यक्ष के रूप में श्रीकृष्ण के निर्वाचन का विरोध किया, तो भीष्म ने श्रीकृष्ण का समर्थन कर उन्हें परमेश्वर घोषित किया। इसी प्रकार पाण्डव आदि कुछ इने-गिने व्यक्ति ही उनकी परात्परता को जानते थे, सब नहीं। अभक्तों एवं जन-साधारण के प्रति वे प्रकट नहीं थे। इसी से गीता में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि उनके शुद्ध भक्तों के अतिरिक्त, अन्य सभी मनुष्य उन्हें अपने समान समझते हैं। रसराज के रूप में तो वे अपने भक्तों के प्रति ही प्रकट थे, जबकि अल्पज्ञ अभक्तों के लिए अपनी नित्य अन्तरङ्गाशक्ति द्वारा प्रच्छन्न रहते थे।

श्रीमद्भागवत (१.८.१८) में वर्णित कुन्तीदेवी की स्तुति में उल्लेख है कि प्रभु योगमाया रूपी यवनिका से प्रच्छन्न हैं, अतः साधारण जन उन्हें जान नहीं सकते। कुन्ती देवी स्तुति करती है : 'प्रभो ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परिपालक आप ही हैं। आपकी भक्ति करना परम धर्म है। इसलिए मेरी विनती है कि आप मेरे योगक्षेम का भी वहन करें। आपका दिव्य विग्रह योगमाया के कारण छिपा हुआ है। ब्रह्मज्योति ही आपकी अन्तरङ्गा शक्ति का वह आवरण है। आपके दर्शन में बाधा डालने वाले इस देदीप्यमान प्रकाश को हटाकर कृपया अपने सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह का दर्शन मुझे करायें।'

इस योगमाया रूपी यवनिका का वर्णन गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भी है। श्रीभगवान् का दिव्य सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह ब्रह्मज्योति नामक नित्य शक्ति द्वारा आवृत है, जिससे अल्पज्ञ निर्विशेषवादी भगवान् का दर्शन नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवत (१०.१४.७) में ब्रह्मा की स्तुति में निवेदन है : 'हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे सकल रहस्यों के स्वामिन् !

इस संसार में आपकी शक्तियों और लीलाओं की गणना करने में कौन समर्थ है ? अपनी अन्तरङ्गा शक्ति का आप नित्य विस्तार करते रहते हैं, अतः किसी के लिए भी आपको जानना सम्भव नही। विद्वान् वैज्ञानिक और पण्डितजन इस जगत् अथवा अन्य लोकों के अणु-कणों की गणना तो कर सकते हैं, पर आपकी शक्तियों की गणना नही हो सकती, यद्यपि आप सबके सामने विद्यमान् हैं।' भगवान् श्रीकृष्ण अजन्मा ही नही, अविनाशी (अव्यय) भी हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दघन है और सम्पूर्ण शक्तियां अनन्त हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

वेद=जानता हूं; अहम्=मैं; सम=समान रूप से; अतीतानि=पूर्वकाल के; वर्तमानानि=वर्तमान् मे स्थित; च=तथा, अर्जुन=हे अर्जुन; भविष्याणि=भविष्य के, च=भी; भूतानि=जीवो को; माम्=मेरे को; तु=परन्तु; वेद=जानता; न=नही; कश्चन=कोई भी।

अनुवाद

हे अर्जुन ! स्वयं भगवान् होने के कारण मैं पूर्वकाल के, वर्तमान के और भविष्य के सम्पूर्ण घटना-चक्र को जानता हूं। मैं सब जीवो को भी जानता हूं, परन्तु मुझे कोई नही जानता ॥२६॥

तात्पर्य

इस श्लोक में साकारता-निराकारता के विवाद की स्पष्ट विवेचना है। यदि निर्विशेषवादियो की धारणा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण माया अर्थात् प्राकृत होते, तो जीव के समान वे भी देहान्तर करते और उन्हें भी पिछले जीवन की पूर्ण रूप से विस्मृति हो जाती। कोई प्राकृत देह वाला अपने पूर्व जीवन की स्मृति नहीं बनाए रख सकता और न ही वह अपने भावी अथवा वर्तमान जीवन के परिणाम की भविष्यवाणी

कर सकता। अतएव वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य के घटनाक्रम को नहीं जानता। सांसारिक विकारों से मुक्त हुए बिना त्रिकालज्ञ होना सम्भव नहीं।

साधारण मनुष्यों के विपरीत, भगवान् कृष्ण स्पष्ट कर रहे हैं कि वे पूर्ण रूप से जानते हैं कि पूर्व में क्या हुआ, वर्तमान में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा ? चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्यदेव विवस्वान् को दिए उपदेश की पूर्ण स्मृति है। सम्पूर्ण जीवों के हृदय में परमात्मा के रूप में विद्यमान होने के कारण श्रीकृष्ण जीव-मात्र से परिचित हैं। यद्यपि वे जीवमात्र में परमात्मा रूप से तथा इस जगत् के परे भगवद्धाम में भगवत्स्वरूप में स्थित हैं, परन्तु अल्पज्ञ उनको परम पुरुषोत्तम के रूप में नहीं जान सकते. श्रीकृष्ण का दिव्य श्रीविग्रह निःसन्देह अविनाशी है। वे स्वयं सूर्य-तुल्य हैं, जबकि माया मेघ के समान है। प्राकृत आकाश में सूर्य, मेघ, नक्षत्र और अनेक लोक अस्थायी रूप से उन सबका आच्छादन कर सकते हैं, परन्तु ऐसा हमें अपने सीमित दृष्टि के कारण ही प्रतीत होता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, आदि वास्तव में आवृत्त नहीं होते। ऐसे ही माया भी श्रीकृष्ण को आवृत नहीं कर सकती। अपनी अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा वे स्वेच्छा से अल्पज्ञों के सामने प्रकट नहीं होते। जैसा इस अध्याय के तृतीय श्लोक में कहा है, करोड़ों मनुष्यों में से कोई एक दुर्लभ व्यक्ति मानव देह की संसिद्धि के लिए प्रयास करता है और ऐसे सहस्रों सिद्धों में कोई एक ही भगवान् श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानता है। निर्विशेष ब्रह्म अथवा एकदेशीय परमात्मा की अनुभूति को प्राप्त हुआ व्यक्ति भी कृष्णभावनाभावित हुए बिना भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को नहीं जान सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

इच्छा=मनोरथ ; द्वेष=घृणा (से); समुत्थेन=उत्पन्न हुए ; द्वन्द्व =द्वन्द्व रूप ; मोहेन=मोह से ; भारत=हे भरतश्रेष्ठ ; सर्व=सम्पूर्ण

भूतानि=जीव; संमोहम्=मोह को; सर्गे=सृष्टि में; यान्ति=प्राप्त हो रहे हैं; परंतप=हे शत्रु विजयी अर्जुन।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वों से ग्रस्त हुए सब जीव संसार में मोह को प्राप्त हो रहे हैं ।।२७।।

तात्पर्य

जीव का यथार्थ स्वरूप यह है कि वह भगवान् का नित्यदास है। यही शुद्ध ज्ञान है। जब मोहवश जीव इस शुद्ध ज्ञान को भुला बैठता है तो माया के नियन्त्रण में आ जाता है। परिणाम स्वरूप वह श्रीभगवान् के तत्त्व को नहीं जान सकता। माया की अभिव्यक्ति इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्व के रूप में होती है। इच्छा-द्वेष के कारण ही अज्ञानी मनुष्य परमेश्वर एक हो जाना चाहता है और भगवान् कृष्ण से द्वेष करता है। इन इच्छा-द्वेष आदि विकारों से विमोहित न होने वाले शुद्ध-भक्त जानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा अवतरित होते हैं, किन्तु द्वन्द्वों एवं अविद्या से मोहित मनुष्य समझते हैं कि श्रीभगवान् प्राकृत शक्तियों के कार्य हैं। यही उनका परम दुर्भाग्य है। ऐसे मोहित जीव मानो मान-अपमान, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष, शुभ-अशुभ, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों में ही स्थित रहते हैं। वे इस प्रकार चिन्तन करते हैं, 'यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर है, मैं इस घर और स्त्री का स्वामी हूं।' ये सभी मोहकारी द्वन्द्व हैं। इस प्रकार के द्वन्द्वों से भ्रमित हुए परम मूर्ख श्रीभगवान् को नहीं जान सकते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

येषाम्=जिन; तु=परन्तु; अन्तगतम्=नष्ट हो गया है; पापम्=पापकर्म; जनानाम्=मनुष्य का; पुण्य=पवित्र; कर्मणाम्=कर्म

करने वाले ; **ते**=वे ; **द्वन्द्व**=इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्व रूप ; **मोह**=मोह से ; **निर्मुक्ताः**=मुक्त हुए ; **भजन्ते**=भजन करते हैं ; **माम्**=मेरा ; **दृढव्रताः** =निश्चयपूर्वक ।

अनुवाद

परन्तु जिन पुरुषों ने पिछले जन्मों में और इस जन्म में भी पुण्य कर्मों का आचरण किया है तथा जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त हुए पुरुष ही दृढ़तापूर्वक मेरी सेवा करते हैं ।।२८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में दिव्य शुद्ध सत्त्वमय अवस्था की प्राप्ति के योग्य व्यक्तियों का उल्लेख है। पापात्मा, अनीश्वरवादी, मूढ़ एवं कपटी व्यक्तियों के लिए इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वों का उल्लङ्घन करना बड़ा कठिन है। जिन्होंने सम्पूर्ण जीवन में धर्म का आचरण किया है और पुण्य कर्म करते हुए पापों का नाश कर दिया है, वे पुरुष ही भक्तियोग को अङ्गीकार करते हैं और इस प्रकार शनैः शनैः श्रीभगवान् के शुद्ध ज्ञान को प्राप्त हो जाते हैं। तदनन्तर, उन्हें समाधि में भगवान् का ध्यान भी होने लगता है। शुद्ध सत्त्व में स्थित होने की यही विधि है। जीव को माया-मुक्त करने में समर्थ शुद्ध भक्तों के सत्संग से कृष्णभावनाभावित बन जाने पर यह स्थिति बड़ी सुलभ हो जाती है।

श्रीमद्भागवत में कथन है कि मोक्ष का यथार्थ अभिलाषी नित्य-निरंतर भक्त-सेवा करे। इसके विपरीत, जो विषयी जीवों का संग करता है, वह अन्धकारमय भव समुद्र के पथ पर ही अग्रसर होता है। महाभागवत बद्धजीवों को माया-मुक्त करने के लिए ही इस वसुधा पर परिव्रजन करते हैं। निर्विशेषवादी नहीं जानते कि 'मैं भगवान् का नित्यदास हूं,' अपने इस स्वरूप को भुला देना भगवद्-नियम की सबसे गम्भीर अवहेलना है। अपने स्वरूप में फिर स्थित हुए बिना भगवान् को जानना अथवा उसके भक्तियोग में दृढ़तापूर्वक पूर्णरूप से तत्पर होना सम्भव नहीं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जरा=वृद्धावस्था ; मरण=मृत्यु (से); मोक्षाय=मुक्ति के लिए ; माम्=मेरे ; आश्रित्य=परायण होकर ; यतन्ति=यत्न करते हैं ; ये= जो ; ते=वे ; ब्रह्म=ब्रह्म को ; तत्=उस ; विदुः=जानते हैं ; कृत्स्नम् =पूर्णतया ; अध्यात्मम्=अध्यात्म को ; कर्म=कर्म को ; च=भी ; अखिलम्=सम्पूर्ण ।

अनुवाद

जरा-मरण से मुक्ति के लिए यत्न करने वाले सुधीजन मेरी भक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। वे यथार्थ में ब्रह्मभूत हैं, क्योंकि वे अध्यात्म और कर्म को सम्पूर्ण रूप से जानते हैं ॥२९॥

तात्पर्य

प्राकृत देह में जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि आदि विकार होते हैं, परन्तु अप्राकृत देह में नहीं। अप्राकृत देह इन चारों विकारों से पूर्णतया मुक्त है। अतः सिद्ध चिन्मय देह को प्राप्त कर जो जीव भगवान् का पार्षद बन जाता है और नित्य भक्तियोग का आचरण करता है, वह यथार्थ में मुक्त है। 'अहं ब्रह्मास्मिः', 'मैं आत्मतत्त्व हूं।' शास्त्रों का निर्देश है कि अपने को ब्रह्म, अर्थात् आत्मतत्त्व समझें। यह ब्राह्मी धारणा भी भक्तियोग है, जैसा इस श्लोक में कहा गया है। दिव्य ब्रह्म-भूत स्तर पर स्थित हुए शुद्ध भक्तों को प्राकृत अप्राकृत क्रियाओं का पूर्णज्ञान रहता है।

भगवत्सेवा करने वाले चारों प्रकार के अशुद्ध भक्तों की अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है तथा अहैतुकी भगवत्कृपा से पूर्णतया कृष्णभावना-भावित हो जाने पर वे भी भगवद्-सन्निधि का आस्वादन करते हैं। परन्तु देवोपासकों को परम धाम में श्रीभगवान् की सन्निधि कभी प्राप्त नहीं होती। अल्पज्ञ ब्रह्मज्ञानी भी श्रीकृष्ण के परम धाम गोलोक वृन्दावन

में प्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। एकमात्र कृष्णभावनाभावित क्रियाएं करने वालों (माम् आश्रित्य) को ही यथार्थ में 'ब्रह्म' कहा जा सकता है, क्योंकि श्रीकृष्ण-लोक की प्राप्ति के लिए वे ही वास्तव में यत्नशील हैं। इन भक्तों को श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। अतः वे वस्तुतः 'ब्रह्म' हैं।

बन्धन मुक्ति के लिए भगवद्-अर्चा-भक्ति अथवा भगवद् ध्यान करने वाले श्रीभगवान् के अनुग्रह से ब्रह्म, अधिभूत आदि के तत्त्व को जान जाते हैं, जैसा अगले अध्याय में वर्णन है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

स अधिभूत=प्राकृत सृष्टि के नियन्ता-तत्त्व सहित; **अधिदैवम्**= देवताओं के आधार; **माम्**=मेरे को; **स-अधियज्ञम्**=सम्पूर्ण यज्ञों को धारण करने वाला; **च**=तथा; **ये**=जो; **विदुः**=जानते हैं; **प्रयाण**= मृत्यु के; **काले**=काल में; **अपि**=भी; **च**=तथा; **माम्**=मुझको; **ते**=वे; **विदुः**=जानते हैं; **युक्तचेतसः**=स्थिर चित्त से।

अनुवाद

जो मुझे परमेश्वर अधिभूत अधिदैव तथा अधियज्ञ जानते हैं, वे स्थिर चित्त अन्तकाल में भी मेरे को जानते हैं, अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ॥३०॥

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले पुरुष ज्ञान के पथ से सर्वथा च्युत कभी नहीं होते। कृष्णभावनामृत के अलौकिक समागम में यह प्रबोध हो जाता है कि श्रीभगवान् ही अधिभूत एवं अधिदैव हैं। ऐसे भागवत-समागम से शनैः शनैः भगवद्-विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। ऐसे कृष्णभावनाभावित पुरुष को अन्तकाल में भी श्रीकृष्ण की विस्मृति नहीं

हो सकती, जिससे वह अनायास ही भगवद्धाम गोलोक वृन्दावन में प्रविष्ट हो जाता है।

इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनाभावित बनने की विधि का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। कृष्णभावना का उन्मेष कृष्ण-भावनाभावित भक्तों के सत्सग से ही होता है। ऐसा भागवत-सत्संग साक्षात् श्रीभगवान् की सन्निधि देने वाला है। ऐसा होने पर भगवत्कृपा से श्रीकृष्ण की परम-ईश्वरता का वोध हो जाता है। साथ ही, यह ज्ञान भी होता है कि स्वरूप से श्रीकृष्ण का दास होते हुए भी किस प्रकार जीव श्रीकृष्ण को भूल वैठता है और प्राकृत क्रियाओं के वन्धन में पड़ जाता है। सत्संग द्वारा कृष्णभावना का उत्तरोत्तर विकास करने से जीव जानता है कि श्रीकृष्ण को भूल वैठने के कारण ही वह माया के नियमों मे वंध गया है। वह समझ जाता है कि यह मनुष्य-शरीर कृष्णभावना को पुनः उद्भावित करने के लिए प्राप्त हुआ सुयोग है, अतः अहैतुकी भगवत्कृपा-कल्लोलिनी मे निमज्जित हो जाने के लिए इसका पूर्ण सदुप-योग करना चाहिए।

अध्याय में अनेक तत्वों का निरूपण हुआ है : आर्त्त भक्त, जिज्ञासु भक्त, अर्थार्थी भक्त, ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान, जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एवं भगवद्भक्ति आदि का यहां विवेचन किया गया। परन्तु जो वास्तव में कृष्णभावनाभावित हो गया है, उस पुरुष को अन्य पद्धतियों की अपेक्षा नहीं रहती। वह पूर्ण रूप से साक्षात् कृष्णभावना-भावित क्रियाओ के परायण होकर श्रीकृष्ण के नित्यदास के रूप में अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में वह भगवत्कथा के श्रवण तथा कीर्त्तन में ही निरन्तर इसका आस्वादन करता है। उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि ऐसा करने से उसकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जायगी। इस निश्चयात्मिका श्रद्धा को 'दृढ व्रत' कहा जाता है और इसी से भक्तियोग का श्रीगणेश होता है। यह समस्त शास्त्रों का निर्णय है। गीता का यह सातवां अध्याय उसी निश्चय का मूर्त्त सार-सर्वस्व है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः



अक्षरब्रह्मयोग

(भगवत्-प्राप्ति)

अर्जुन उवाच ।
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा ; किम्=क्या है ; तत्=वह ; ब्रह्म=ब्रह्म ; किम्=क्या है ; अध्यात्मम्=आत्मतत्त्व ; किम्=क्या है ; कर्म=कर्म ; पुरुषोत्तम=हे परम पुरुष ; अधिभूतम्=प्राकृत सृष्टि , च=तथा ; किम्=क्या ; प्रोक्तम्=कही जाती है ; अधिदैवम्=अधिदैव ; किम्=क्या ; उच्यते=कहा जाता है ।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे प्रभो ! हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्म क्या है ? आत्मतत्त्व क्या है ? कर्म का क्या स्वरूप है ? यह भौतिक सृष्टि क्या है ? तथा अधिदैव क्या है ? कृपया मेरे प्रति कहिये ।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की 'किं तद्ब्रह्म ?' आदि जिज्ञासाओं का समाधान किया है। श्रीभगवान् ने कर्म, भक्ति, योग और विशुद्ध भक्तियोग का भी वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीनों प्रकार से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा को भी ब्रह्म कहते हैं। अर्जुन ने 'आत्मा' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है। वैदिक विश्वकोष के अनुसार 'आत्मा' शब्द मन, आत्मा, देह तथा इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को 'पुरुषोत्तम' कहा है, जिसका अर्थ यह है कि वह उन्हें केवल अपना सखा समझ कर नहीं, वरन् निर्णायक उत्तर देने में समर्थ परम प्रमाण पुरुषोत्तम जानकर जिज्ञासा कर रहा था।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। २ ।।

अधियज्ञः=यज्ञ का अधीश्वर ; कथम्=कैसे हैं ; कः=कौन हैं ; अत्र=यहाँ ; देहे=देह में ; अस्मिन्=इस ; मधुसूदन=हे मधुसूदन ; प्रयाणकाले=अन्तकाल में ; च=तथा ; कथम्=किस प्रकार ; ज्ञेयः=जानने योग्य हैं ; असि=आप ; नियत-आत्मभिः=संयमी पुरुषों द्वारा ।

अनुवाद

हे मधुसूदन ! यज्ञपुरुष शरीर में कैसे हैं और किस अङ्ग में निवास

करते हैं ? तथा भक्तियोगी मनुष्य अन्तकाल में आपको कैसे जान सकते हैं ? ॥२॥

तात्पर्य

यज्ञाधिपति (अधियज्ञ) का अर्थ विष्णु भी हो सकता है और इन्द्र भी। श्रीविष्णु, ब्रह्मा-शिवादि के आदिदेव है तथा इन्द्र प्रधान देवता हैं। इन्द्र और विष्णु, दोनों की यज्ञों द्वारा आराधना की जाती है। परन्तु यहां अर्जुन की जिज्ञासा है कि यथार्थ मे अधियज्ञ कौन हैं तथा जीव की देह में किस प्रकार से अवस्थित हैं।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को मधुसूदन सम्बोधित किया है, यह स्मरण कराने के लिए कि एकदा उन्होंने मधु दैत्य का संहार किया था। वास्तव में अर्जुन के चित्त में इन सभी संदेहमूलक प्रश्नों का उदय नहीं होना चाहिए था, क्योंकि वह कृष्णभावनाभावित है। इसलिये ये सन्देह असुरों के ही समान हैं और श्रीकृष्ण असुर संहार मे अति कुशल हैं। इसी से अर्जुन ने उन्हें यहां 'मधुसूदन' कहकर पुकारा, जिससे वे उसके चित्त में उदित होने वाले सन्देह रूपी असुरों का विनाश कर दें।

इस श्लोक में आया 'प्रयाणकाले' पद बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम जीवन-भर जो कुछ भी करते है, उसकी अन्तकाल मे परीक्षा होती है। अर्जुन को भय है कि कृष्णभावनाभावित भक्तों को भी मृत्यु-समय श्रीभगवान् की विस्मृति हो जायगी, क्योंकि उस काल में देह के विविध कार्य अवरुद्ध हो जाते हैं और मन भी भय रूप मोह से अति व्याकुल हो उठता है। इसी से महाभागवत कुलशेखर महाराज ने प्रार्थना की है, 'प्रभो ! इस स्वस्थ अवस्था में हो मेरी तुरन्त मृत्यु हो जाय, जिससे मेरा मन रूपी राजहंस सुगमता से आपके चरणारविन्द की कर्णिका में प्रवेश करने में सफल हो जाय।" यहाँ राजहंस के रूपक का उल्लेख इसलिये है कि प्रायः कमल-कर्णिका में प्रवेश कर हंस आनन्दित होता है। इसी प्रकार शुद्ध भक्त का चित्त श्रीभगवान् के चरणारविन्द में प्रवेश करने को आतुर रहता है। महाराज कुलशेखर को भय है कि अन्त समय में उनका कण्ठ कफ और वात से इतना अधिक स्तभित हो जायगा

कि वे भवन्नाम का कीर्तन भी नहीं कर सकेंगे। इसलिए इसी समय देह का त्याग कर देना ही श्रेयष्कर होगा। अर्जुन की जिज्ञासा है कि ऐसे अवसर पर कृष्ण-चरणाम्बुज में मन का निश्चल रहना किस प्रकार सम्भव है।

श्रीभगवानुवाच।
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **अक्षरम्**=अविनाशी; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **परमम्**=परम; **स्वभावः**=जीव-स्वरूप; **अध्यात्मम्**=अध्यात्म; **उच्यते**=कहा जाता है; **भूतभाव-उद्भवकरः**=जीवों के पाञ्चभौतिक देहों की रचना करने वाला कार्य; **विसर्गः**=सृष्टि; **कर्म**=सकाम कर्म; **संज्ञितः**=कहलाता है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अविनाशी जीवात्मा को ब्रह्म कहते हैं, नित्य स्वभाव अध्यात्म है और इन प्राकृत देहों की सृष्टि-रूप कार्य कर्म कहलाता है ॥३॥

तात्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप अविनाशी, नित्य और अव्यय (अविकारी) है। परन्तु इस ब्रह्म से भी परे परमब्रह्म है। 'ब्रह्म' शब्द से जीवात्मा निर्दिष्ट है, जबकि 'परमब्रह्म' शब्द स्वयं भगवान् का वाचक है। जीव का स्वरूप उस स्थिति से भिन्न है जो उसने जगत् में ग्रहण कर रखी है। मोहावस्था में वह प्रकृति पर अधिकार करने का प्रयास करता है। परन्तु दिव्य कृष्णभावना से भावित हो जाने पर केवल भगवत्सेवा करना चाहता है। माया मोहित जीव संसार में विभिन्न देह धारण करने को बाध्य होता है यही 'कर्म' अथवा मोहमयी विषयैषणा से उत्पन्न होने वाली नानाविध सृष्टि है।

वैदिक शास्त्रों में जीवात्मा को ब्रह्म कहा है, उसके लिए 'परमब्रह्म' संज्ञा का प्रयोग कहीं नहीं है। जीवात्मा अनेक स्थितियां ग्रहण करता है—कभी माया के अन्धकारमय अवगाह में निमज्जित होकर जड़-तत्त्व को ही अपना स्वरूप मान बैठता है तो कभी पराशक्ति को। इसी कारण उसे श्रीभगवान् की 'तटस्था शक्ति' कहा गया है। अपरा अथवा परा प्रकृति में स्थित होने के अनुसार उसे पांचभौतिक अथवा अप्राकृत देह की प्राप्ति होती है। अपरा प्रकृति में ८४,००,००० योनियों में से कोई देह प्राप्त हो सकती है, जबकि परा प्रकृति में उसे एक ही प्रकार का (दिव्य) शरीर मिलता है। अपरा प्रकृति में उसे कर्मानुसार देव, पशु, पक्षी आदि का शरीर मिलता है। प्राकृत स्वर्गीय लोकों को प्राप्त होकर उनमें उपलब्ध विषय-सुख के उपभोग के लिए वह कभी-कभी यज्ञ भी करता है। किन्तु पुण्य के क्षीण हो जाने पर मानव योनि में पृथ्वी पर फिर से लौटता है।

यज्ञ-पद्धति में जीवात्मा अभीष्ट लोक की प्राप्ति के लिए विशिष्ट यज्ञ करता है, जिसके फलस्वरूप वह इच्छित लोक में पहुंच जाता है। यज्ञजन्य पुण्य के समाप्त हो जाने पर जीवात्मा वर्षा के रूप में पृथ्वी पर उतर कर अन्न का रूप धारण करता है। मनुष्य उस अन्न को खाता है और वीर्य में परिणत कर देता है, जिससे स्त्री मे गर्भाधान होता है। इस प्रकार, जीवात्मा फिर मनुष्य शरीर धारण कर यज्ञ करता है और इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। परिणाम स्वरूप वह जन्म-मृत्यु रूप भव-बन्धन में ही पड़ा रहता है। कृष्णभावनाभावित भक्त ऐसे यज्ञों को नहीं करता। वह सीधे-सीधे कृष्णभावना को अङ्गीकार कर लेता है और इस विधि से भगवद्धाम को पुनः लौटने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

गीता के निर्विशेषवादी व्याख्याकारों का अयुक्तियुक्त पूर्वाग्रह है कि प्राकृत जगत् में परमब्रह्म ही जीवत्व धारण कर लेता है। इसको प्रमाणित करने के लिए वे गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक को उद्धृत करते हैं। परन्तु इस श्लोक में भी जीव को 'ममैवांशो' अर्थात् 'श्रीभगवान् का नित्य भिन्न-अंश' कहा गया है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश जीव संसार में गिर सकता है, किन्तु अच्युत कहलाने वाले श्रीकृ

का अधःपतन कभी नहीं होता। अतः इस धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि परमब्रह्म जीव रूप ग्रहण करते हैं। स्मरणीय है कि वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म (जीवात्मा) और परमब्रह्म (परमेश्वर श्रीभगवान्) में स्पष्ट भेद किया गया है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अधिभूतम्=अधिभूत है; क्षरः=नश्वर; भावः=पदार्थ; पुरुषः=समष्टि-विराट; च=तथा; अधिदैवतम्=अधिदैव है; अधियज्ञः=अधियज्ञ हूं; अहम् एव=मैं (कृष्ण) ही हूं; अत्र=इस; देहे=देह में; देहभृताम् वर=हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन।

अनुवाद

नित्य परिवर्तनशील प्रकृति अधियज्ञ है और विराट पुरुष अधिदैव है। ब्रह्माण्ड परमेश्वर का विराटरूप है तथा हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जीवमात्र के हृदय में रहने वाला मैं ही अधियज्ञ हूं ॥४॥

तात्पर्य

भौतिक प्रकृति, नित्य विकारी है। प्राकृत शरीर छः अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं: जन्म लेते हैं, बढ़ते हैं, कुछ समय तक विद्यमान रहते हैं, प्रजनन करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं। इस भौतिक प्रकृति को 'अधिभूत' कहते हैं। परमेश्वर के उस विराट रूप की धारणा, जिसमें देवता और उनके लोकों का भी समावेश है, 'अधिदैवत' कहलाती है, क्योंकि उसका उद्भव-विनाश किसी निश्चित समय पर होता है। जीवात्मा शरीर का सहगामी है। जीव-हृदय में स्थित भगवान् श्रीकृष्ण के अंश परमात्मा ही 'अधियज्ञ' हैं। 'एव' शब्द इस श्लोक के सन्दर्भ में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा श्रीभगवान् ने यह दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया है कि ये परमात्मा उनसे भिन्न नहीं है।

जीव-हृदय में विद्यमान परमात्मा रूपधारी श्रीभगवान् जीवात्मा के कार्य-कलाप के साक्षी हैं और चेतना के स्रोत भी हैं। जीव को स्वतन्त्रता-पूर्वक क्रिया करने का अवसर देकर परमात्मा उसके कार्यकलाप की समीक्षा करते हैं। परमेश्वर- श्रीकृष्ण की इन विविध 'अभिव्यक्तियों के कार्य भगवद्भक्ति योग में तत्पर शुद्ध कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। 'अधिदैव' नाम प्रभु का विराट् रूप उन नवदीक्षितों के लिए ध्येय है, जो परमेश्वर के परमात्मा रूप को नहीं जानते। नव-दीक्षित भक्त के लिए उसी विराट् रूप के ध्यान का विधान है, जिसके चरण अधःलोक हैं, शशि-सूर्य चक्षु हैं तथा उच्च लोकों को जिनका शीर्ष माना जाता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्तकाले—जीवन के अन्त मे; च=भी, माम्=मेरा; एव=ही; स्मरन्=स्मरण करता हुआ; मुक्त्वा=त्याग कर; कलेवरम्=शरीर को; यः=जो; प्रयाति=जाता है; सः=वह; मद्भावम्=मेरे स्वभाव को; याति=प्राप्त होता है; न=नही; अस्ति=है; अत्र=इसमें; संशयः=सन्देह।

अनुवाद

जो कोई भी अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह का त्याग करता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी सन्देह नही है ॥५॥

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनामृत का माहात्म्य प्रकट हुआ है। कृष्ण-भावनाभावित दशा में देह त्याग करने वाला बिना विलम्ब दिव्य भग-वद्धाम में प्रविष्ट हो जाता है। 'स्मरन्' शब्द महत्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण

का स्मरण ऐसे अशुद्ध जीव को नहीं हो सकता, जिसने कृष्णभावनाभावित भक्तियोग का सम्पादन न किया हो। श्रीकृष्ण की शाश्वत् स्मृति के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु का अनुगमन करते हुए वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु और तृण से भी अधिक दीन होकर, दूसरों का सम्पूर्ण सम्मान देते हुए तथा अपने लिए मान की इच्छा न रखकर 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'—इस महामन्त्र का सतत कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार करने वाला सफलतापूर्वक श्रीकृष्ण का स्मरण करता हुआ देह से प्रयाण कर परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

यम् यम्=जिस ; वा=किसी ; अपि=भी ; स्मरन्=स्मरण करते हुए ; भावम्=प्रकृति का ; त्यजति=त्यागता है ; अन्ते=अन्त में ; कलेवरम्=शरीर को ; तम् तम्=उसको ; एव=ही ; एति=प्राप्त होता है ; कौन्तेय=हे कुन्ती पुत्र ; सदा=नित्य ; तत्=उस ; भाव=भाव का ; भावितः=स्मरण करता हुआ।

अनुवाद

जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए मनुष्य देह को त्यागता है, उस उसको ही निःसन्देह प्राप्त होता है ॥६॥

तात्पर्य

इस श्लोक में यह बताया गया है कि देहान्त के संकटपूर्ण काल में अपने स्वभाव को किस प्रकार बदला जा सकता है। यह जिज्ञासा बहुधा होती है कि किस साधन से सद्गति के अनुकूल मनोस्थिति में मनुष्य का देहान्त हो सकता है ? महाराज भरत ने अन्त समय में मृग-शावक का चिन्तन किया था, जिससे उन्हें उसी योनि में जाना पड़ा। परन्तु

मृग-वपु में भी उन्हें अपने पूर्व-कर्मों की स्मृति बनी रही। अवश्य ही, जीवन भर के कर्मों और विचारों का संचित संस्कार अन्तकाल के चिंतन को प्रभावित करता है। इस प्रकार वर्तमान जीवन के कार्य-कलाप भावी जीवन को निर्धारित करते हैं। इसलिए यदि मनुष्य दिव्य श्रीकृष्ण-सेवा में तन्मय हो जाय तो उसका अगला कलेवर चिन्मय होगा, प्राकृत नहीं। अतएव हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन मनुष्य के स्वभाव को भागवत-जीवन में परिणत करने का सर्वोत्तम साधन है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७॥

तस्मात्=इसलिए; सर्वेषु कालेषु=सब समय (प्रतिक्षण); माम्=मेरा; अनुस्मर=नित्य स्मरण कर; युध्य च=युद्ध भी कर; मयि=मेरे में; अर्पित=अर्पण किए हुए; मनः=मन; बुद्धिः=बुद्धि (से युक्त हुआ); माम्=मेरे को; एव=ही; एष्यसि=प्राप्त होगा; असंशयः=निःसन्देह।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! तू मेरे कृष्ण-रूप का निरन्तर चिन्तन कर और साथ ही युद्धरूपी स्वधर्म का भी आचरण कर। इस प्रकार अपनी क्रियाओं को मेरे प्रति अर्पित करके मन-बुद्धि को मुझमे एकाग्र करने से तू निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा ॥७॥

तात्पर्य

अर्जुन को भगवान् का यह उपदेश लौकिक कर्म के परायण रहने वाले सभी व्यक्तियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीभगवान् ने स्वधर्म त्याग करने का आदेश नहीं दिया है। कर्त्तव्य-पालन किया जा सकता है, परन्तु साथ ही हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन करते हुए श्रीकृष्ण का नित्य स्मरण रखना चाहिए। इससे सांसारिक दोषों से मुक्ति हो जायगी

और मन-बुद्धि श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो जाएंगे। कृष्णनाम-संकीर्तन करने से निःसन्देह परमधाम कृष्ण-लोक की प्राप्ति हो जाती है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अभ्यास योग युक्तेन=भगवान् के ध्यानरूप अभ्यास से युक्त हुआ; **चेतसा**=चित्त से; **न अन्य गामिना**=अनन्य (अचल); **परमम्**=परम; **पुरुषम्**=श्रीभगवान् को; **दिव्यम्**=अलौकिक; **याति**=प्राप्त होता है; **पार्थ**=हे पृथापुत्र; **अनुचिन्तयन्**=सतत चिन्तन करते हुए।

अनुवाद

हे पार्थ (अर्जुन)! जो पुरुष अनन्य चित्त से निरन्तर मेरे स्मरण का अभ्यास करता है, वह निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होता है ॥८॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्मरण के माहात्म्य पर बल दिया है। 'हरे कृष्ण' संकीर्तन से श्रीकृष्ण की स्मृति पुनः उद्भावित हो जाती है। भगवन्नाम-ध्वनि के श्रवण-कीर्तन के इस अभ्यास से कर्ण, रसना और चित्त भक्तियोग में तत्पर हो जाते हैं। यह यौगिक ध्यान बड़ा सुखसाध्य तथा भगवत्प्राप्ति के अनुकूल है। 'पुरुषम्' का तात्पर्य भोक्ता है। श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति होने पर भी जीव प्राकृत विकारों से ग्रस्त हैं। यद्यपि वे स्वयं को उपभोक्ता समझते हैं, परन्तु वास्तव में वे परम भोक्ता नहीं हैं। यहां स्पष्ट उल्लेख है कि नारायण, वासुदेव, आदि अपने विभिन्न अंश-प्रकाशों में श्रीभगवान् ही परम भोक्ता हैं।

भक्तगण 'हरे कृष्ण' महामन्त्र का संकीर्तन कर अपने आराध्य श्रीभगवान् का नारायण, कृष्ण, राम आदि किसी भी रूप में नित्य चिन्तन कर सकते हैं। इस अभ्यास से साधक शुद्ध हो जायगा और

जीवन के अन्त में, सतत कीर्तन के प्रताप से, उसे भगवद्धाम की प्राप्ति होगी। योगाभ्यास का अर्थ हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान करना है। इसी प्रकार, हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन करने से मन सदा श्रीभगवान् में ही एकाग्र रहता है। मन बड़ा चंचल है। इसलिए यह आवश्यक है कि उसे हठपूर्वक कृष्ण-स्मरण में लगाया जाय। इस सन्दर्भ में उस कीट का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो भृङ्ग बनने का चिन्तन करता हुआ उसी जीवन में भृङ्ग बन जाता है। ऐसे ही यदि हम श्रीकृष्ण का नित्य स्मरण करें, तो यह निश्चित है कि जीवन के अन्त में हमें श्रीकृष्ण के तुल्य दिव्य देह की प्राप्ति होगी।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

कविम्=सर्वज्ञ; पुराणम्=अनादि; अनुशासितारम्=नियन्ता; अणोः=अणु से भी; अणीयांसम्=लघु: अनुस्मरेत्=नित्य चिन्तन करता है; यः=जो; सर्वस्य=सबका; धातारम्=पालनकर्त्ता; अचिन्त्य=अतर्क्य स्वरूप; रूपम्=आकार; आदित्य वर्णम्=सूर्य के समान तेजोमय; तमसः=अन्धकार से; परस्तात्=परे।

अनुवाद

उन परम पुरुषोत्तम का ध्यान करे जो सर्वज्ञ, अनादि सबके नियन्ता और शिक्षक, अणु से भी सूक्ष्म, सर्वपालक, जगत् से परे अचिन्त्य पुरुष हैं। वे सूर्य के समान तेजोमय हैं और दिव्य स्वरूप होने के कारण इस भौतिक प्रकृति से सर्वथा परे हैं ॥९॥

तात्पर्य

इस श्लोक में अनन्य भगवच्चिन्तन करने की पद्धति का प्रतिपादन

हैं। सर्वप्रधान यह स्मरणीय है कि परमेश्वर निर्विशेष अथवा शून्य नहीं हैं। निर्विशेष अथवा शून्य वस्तु ध्येय नहीं हो सकती। निर्विशेष अथवा शून्य का ध्यान करना बहुत कठिन होगा। किन्तु श्रीकृष्ण का स्मरण अत्यन्त सुगम है, जैसा इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है। इसलिए सबसे पहिले यही जानना आवश्यक है कि वे राम तथा कृष्ण आदि रूपधारी दिव्य पुरुष हैं। यहां उन्हें 'कविम्' कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे त्रिकालज्ञ हैं। सबके आदि होने के कारण 'पुराण' हैं, प्रत्येक वस्तु का उद्भव उन्हीं से हुआ है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता हैं और मानवता के परिपालक तथा उपदेष्टा भी हैं। वे अणु से भी सूक्ष्मतर हैं। जीवात्मा केश के अग्रभाग के १०,००० वें भाग के तुल्य है, परन्तु प्रभु की सूक्ष्मता इतनी अचिन्त्य है कि वे इस जीवाणु के हृदय में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः उन्हें 'अणोरणीयांसम्' कहा गया है। इतने सूक्ष्म होने पर भी वे सर्वव्यापक एवं सर्वपालक हैं। वे ही इन सब लोकों को धारण करते हैं। हमें प्रायः आश्चर्य होता है कि ये बृहत्काय लोक अन्तरिक्ष में किस प्रकार स्थिर हैं। यहां उल्लेख है कि अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा श्रीभगवान् ही इन भीमकाय लोकों तथा नक्षत्रों को धारण कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में 'अचिन्त्य' शब्द महत्त्वपूर्ण है। हमारी धारणा तथा चिन्तन-परिधि से अतीत होने के कारण भगवत्-शक्ति को 'अचिन्त्य' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में कोई तर्क क्या करेगा ? जगत् में व्याप्त होने पर भी प्रभु इससे सर्वथा परे हैं। हमारे लिए तो यह जगत् भी, जो भगवद्धाम की तुलना में नगण्य है, बुद्धिगम्य नहीं; फिर इससे परे का तत्त्व किस प्रकार तर्क का विषय होगा ? 'अचिन्त्य' शब्द इस जगत् से अतीत उस तत्त्व का वाचक है, जिसका हमारे तर्क, न्याय-युक्ति तथा दार्शनिक मनोधर्म आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते। अतः सुधीजनों को चाहिए निरर्थक तर्क और मनोधर्मी करने के स्थान पर वेद, गीता, श्रीमद्भागवत, प्रभृति शास्त्रों के कथन को प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लें और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करें। इस साधन से ज्ञान-प्राप्ति हो जायगी।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्य-
क्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

प्रयाण काले=अन्तकाल में; मनसा=मन से; अचलेन=स्थिर; भक्त्या=पूर्ण भक्तिभाव से; युक्तः=युक्त पुरुष; योगबलेन=योगाभ्यास के बल से; च=और; एव=निस्सन्देह; भ्रुवोः=दोनों भृकुटी के; मध्ये=मध्य में; प्राणम्=प्राण-वायु को; आवेश्य=स्थापित कर; सम्यक्=भलीभांति; सः=वह; तम्=उस; परम्=परम; पुरुषम्=भगवान् को; उपैति=प्राप्त होता है; दिव्यम्=दिव्य भगवद्धाम में।

अनुवाद

जो पुरुष अन्तकाल में अपने प्राणों को भृकुटी के मध्य में स्थापित करके पूर्ण भक्तिभावपूर्वक भगवत्स्मरण करता है, वह निःसन्देह श्रीभगवान् को प्राप्त होता है ॥१०॥

तात्पर्य

इस श्लोक में निश्चित रूप से कहा है कि अन्तकाल में मन को भक्तिभाव से श्रीभगवान् में ही एकाग्र कर देना चाहिए। उत्तम योगियों के लिए प्राण का ऊर्ध्वारोहण कर उसे भृकुटी के मध्य-देश में स्थापित करने का विधान है। परन्तु इस प्रकार का योगाभ्यास न करने वाले शुद्ध-भक्त का चित्त सदा कृष्णभावना से ही भावित रहे, जिससे अन्त-काल में भगवत्कृपा से श्रीभगवान् की स्मृति अवश्य हो जाय। चौदहवें श्लोक में इसका विशद वर्णन है।

इस श्लोक में 'योगबलेन' पद का विशेष प्रयोग महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि योगाभ्यास के बिना अन्तकाल में इस भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी एक योग-पद्धति, विशेष रूप से भक्तियोग का अभ्यास किए बिना मरण-काल में सहसा भगवत्स्मरण नहीं हो सकता। मरणा-सन्न मनुष्य का चित्त अत्यन्त विक्षुब्ध हो जाता है। इसलिए योग के द्वारा भगवत्स्मरण का आजीवन अभ्यास करना चाहिए।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

यत्=जिस ब्रह्म को ; अक्षरम्=अविनाशी ओंकार ; वेद-विदः=वेदों को जानने वाले विद्वान् ; वदन्ति=कहते हैं ; विशन्ति=प्रवेश करते हैं ; यत्=जिसमें ; यतयः=महर्षि ; वीतरागाः=आसक्ति रहित ; यत्=जिसकी ; इच्छन्तः=इच्छा वाले ; ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचारी व्रत का ; चरन्ति=अभ्यास करते हैं ; तत्=उस ; ते=तेरे लिए ; पदम्=पद को ; संग्रहेण=संक्षेप से ; प्रवक्ष्ये=(मैं) कहूंगा ।

अनुवाद

ओंकार का उच्चारण करने वाले वेदवादी विद्वान् और आसक्ति रहित महर्षि जिस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं, जिसे संसिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का अनुशीलन किया जाता है, अब मैं तेरे लिए उसी मुक्ति-पथ का वर्णन करूंगा ॥११॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि यद्यपि ब्रह्म अद्वितीय है, परन्तु उसके विविध प्राकट्य एवं रूप हैं । निर्विशेषवादियों के लिए 'ओम्' शब्द ब्रह्म से अभिन्न है । श्रीकृष्ण यहां उसी निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन कर रहे हैं, जिसमें सर्वत्यागी महर्षिजन प्रवेश करते हैं ।

वैदिक-विद्या की परिपाटी के अनुसार, विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ओम् के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है । इस विधि से पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनुशीलन करते हुए आचार्य के सान्निध्य में रहकर वे निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं । इस प्रकार उन्हें ब्रह्म के दोनों स्वरूपों का बोध हो जाता है । यह पद्धति शिष्य की पारमार्थिक उन्नति के लिए बड़ी

आवश्यक है, परन्तु वर्तमान में ऐसा ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत करना प्रायः असम्भव सा हो गया है। विश्व के सामाजिक-गठन में इतना अधिक परिवर्तन आ चुका है कि विद्यार्थी-जीवन के प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य व्रत का अभ्यास करना सम्भव नहीं रहा है। सारे विश्व में ज्ञान के विविध क्षेत्रों के लिए अनेक संस्थान हैं, पर ऐसा एक भी प्रामाणिक संस्थान नहीं है, जहां विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य के नियमों में प्रशिक्षित किया जा सके। ब्रह्मचर्य का आचरण किए बिना परमार्थ में उन्नति बड़ी कठिन होती है। अतएव श्रीचैतन्य महाप्रभु का उद्घोष है कि वर्तमान कलियुग के लिए शास्त्र-विधान के अनुसार 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'—इस पावन कृष्णनाम का संकीर्तन करने के अतिरिक्त भगवत्प्राप्ति का कोई अन्य साधन नहीं है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणां ॥१२॥

सर्व द्वाराणि=सब इन्द्रिय रूप द्वारों को; संयम्य=विषय से हटाकर; मनः=चित्त को, हृदि=हृदय में; निरुध्य=स्थिर कर; च=और; मूर्ध्नि=मस्तक में; आधाय=स्थापित कर, आत्मनः=अपने; प्राणम्=प्राण-वायु को; आस्थितो=स्थित हुआ; योग-धारणाम्=मेरे आनन्द शिव ध्यान में।

अनुवाद

इन्द्रिय-क्रियाओं की निवृत्ति को योग-धारणा कहा जाता है। सम्पूर्ण इन्द्रिय-द्वारों को विषयों से हटाकर और मन को हृदय में तथा प्राण वायु को मस्तक में स्थापित करने वाला योग में स्थित हो जाता है ॥१२॥

तात्पर्य

यहां परामर्श दिया गया है कि योगाभ्यास के लिए इन्द्रिय-तृप्ति के सम्पूर्ण द्वारों को बन्द कर देना चाहिए। इस अभ्यास को 'प्रत्याहार'

कहते हैं, जिसका तात्पर्य है इन्द्रिय विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना। चक्षु, कर्ण, नासिका, रसना एवं स्पर्श—इन ज्ञानेन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करके इन्द्रिय-तृप्ति में प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए। इस विधि से मन हृदय में स्थित परमात्मा पर एकाग्र हो जाता है तथा प्राण का मस्तक में ऊर्ध्वारोहण होता है। छठे अध्याय में इस पद्धति का विस्तृत निरूपण है। परन्तु जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, इस युग में यह अभ्यास व्यावहारिक नहीं है। इसलिए सर्वोत्तम साधन कृष्णभावनामृत ही है। जो पुरुष भक्तिभाव से अपने चित्त को नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण में केन्द्रित रख सकता है, उसके लिए शाश्वत् समाधि में रहना अत्यन्त सुगम है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

ओम्=ओंकार; **इति**=इस प्रकार; **एक अक्षरम्**=परम अविनाशी; **ब्रह्म**=ब्रह्म का; **व्याहरन्**=उच्चारण करता हुआ; **माम्**=मुझ कृष्ण का; **अनुस्मरन्**=स्मरण करते हुए; **यः**=जो; **प्रयाति**=जाता है; **त्यजन्**=त्यागकर; **देहम्**=कलेवर; **सः**=वह; **याति**=प्राप्त होता है; **परमाम् गतिम्**=परम गति रूप मेरे लोक को।

में प्रविष्ट हो जायगा। कृष्णभक्त कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति में ही स्थित हो जाते हैं। साकारवादी यथाधिकार वैकुण्ठ नाम वाले परव्योम के असंख्य लोकों में भी प्रवेश करते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अनन्यचेताः=अनन्य मन से ; सततम्=नित्य ; यः=जो कोई भी ; माम्=मेरा (कृष्ण का) ; स्मरति=स्मरण करता है ; नित्यशः=सदा ; तस्य=उसके लिए ; अहम्=मैं ; सुलभः=सुलभ हूं ; पार्थ=हे अर्जुन ; नित्य युक्तस्य=निरन्तर मेरे मे युक्त हुए ; योगिनः=भक्त के (लिए)।

अनुवाद

नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा स्मरण करने वाले के लिए हे पार्थ ! मैं सुलभ हूं, क्योंकि वह नित्य मेरे भक्ति योग में तत्पर रहता है ॥१४॥

तात्पर्य

इस श्लोक में अनन्य भगवद्भक्तों के भक्तियोग का प्रतिपादन है। पूर्ववर्ती श्लोकों मे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी—इन चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया जा चुका है। भव बन्धन से मुक्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, आदि विविध पथों का भी वर्णन हुआ है। परन्तु यहां इनमें से किसी के भी सम्मिश्रण से शून्य विशुद्ध भक्तियोग का वर्णन है, भक्तियोग में भक्तों को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अभीप्सित नहीं रहता। शुद्ध-भक्त स्वर्गारोहण अथवा भव बन्धन से मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते। शुद्ध भक्त सर्वथा निस्पृह होता है। 'चैतन्य चरितामृत' में शुद्ध भक्त को 'निष्काम' कहा है, जिसका अर्थ है कि उसमें निजेन्द्रिय-तृप्ति वान्छा की गन्ध भी नहीं होती। पूर्ण शान्ति एकमात्र उसी की सम्पत्ति है ; स्वार्थ के निमित्त से चेष्टा करने वाले भी शान्त नहीं हो

सकते। शुद्ध भक्त केवल भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है। अतः श्रीभगवान् कहते हैं कि अनन्य भक्त के लिए वे सुलभ हैं। भक्त भगवान् के किसी भी दिव्य विग्रह की सेवा कर सकता है; अन्य योगों का अभ्यास करने वालों को प्राप्त होने वाले व्यवधान उसके मार्ग में कभी नहीं आते। भक्तियोग बड़ा सुगम, शुद्ध एवं सुख-साध्य है। हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन द्वारा इसका प्रारम्भ किया जा सकता है। अपने सेवकों के लिए कृपा से ओत प्रोत, अति द्रवित-हृदय होने के कारण श्रीकृष्ण पूर्णतया शरणागत भक्त की अनेक प्रकार से सहायता करते हैं जिससे वह उनके तत्त्व को जान जाता है। ऐसे भक्त को प्रभु पर्याप्त बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह अन्ततः भगवद्धाम में उन्हें प्राप्त कर ले।

शुद्ध भक्त का यह एक विशेष लक्षण (गुण) है कि वह देश-काल का विचार किए बिना सदा श्रीकृष्ण का चिन्तन करता रहता है। उसकी भगवत्स्मृति में कभी अन्तर नहीं आता। वह किसी भी देश-काल में भगवत्सेवा कर सकता है। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि भक्त के लिए वृन्दावन आदि तीर्थों अथवा प्रभु-वास-स्थलों में ही निवास करना उचित है। किन्तु शुद्ध भक्त तो जहां भी निवास करेगा, वहीं उसके भक्तियोग के प्रताप से वृन्दावनीय-परिवेश उद्भावित हो जायगा। इसी हेतु, श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव से निवेदन किया था, 'प्रभो! जहां भी आपका निवास है, वहीं वृन्दावन धाम है।'

शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के अभिराम स्मरण-ध्यान में ही अविराम तन्मय रहता है। यही वे सद्गुण हैं जिनसे युक्त रहने वाले शुद्ध भक्त के लिए प्रभु अति सुलभ हैं। भक्तियोग के पथ को गीता में अन्य सभी पथों से उत्तम कहा गया है। भक्ति योगी सामान्यतः पांच रसों में निष्ठ रहते हैं: (१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य, एवं (५) माधुर्य। इनमें से किसी भी रस में निष्ठ हुआ शुद्ध भक्त भगवत्सेवा में अनुक्षण तत्पर रहता है। वह क्षण भर के लिए अपने प्रियतम श्रीभगवान् को नहीं भूल सकता। इसी से उसके लिए श्रीभगवान् अति सुलभ हैं। श्री श्यामसुन्दर की क्षणमात्र की विस्मृति भी शुद्ध भक्त के लिए सर्वथा असह्य होती है। इसी प्रकार प्रभु भी अपने शुद्ध भक्त को क्षणभर के लिए

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

आब्रह्म भुवनात्=ब्रह्मलोक सहित ; **लोकाः**=सम्पूर्ण लोक ; **पुन-रावर्तिनः**=पुनरावर्ती हैं ; **अर्जुन**=हे अर्जुन ; **माम्**=मेरे को ; **उपेत्य**= प्राप्त होकर ; **तु**=किन्तु ; **कौन्तेय**=हे कुन्ती पुत्र ; **पुनः जन्म**=पुनर्जन्म ; **न**=कभी नहीं ; **विद्यते**=होता ।

अनुवाद

हे अर्जुन ! संसार में सबसे उच्चलोक (ब्रह्मलोक) सहित सभी लोक पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु से होने वाले क्लेश से पूर्ण हैं । परन्तु हे कुन्ती पुत्र ! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके संसार में कभी न लौटना पड़े, इसके लिए आवश्यक है कि कर्म, ज्ञान, हठ आदि अन्य सब योगों का अभ्यास करने वाले भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत की परम संसिद्धि को प्राप्त करलें । परमोच्च प्राकृत लोक अथवा देवलोकों में प्रवेश करने वाले भी जन्म-मृत्यु के चक्र के आधीन ही रहते हैं, उससे मुक्त नहीं हो पाते । जिस प्रकार पृथ्वी वासी उच्च लोकों में गमन करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म, चन्द्र, इन्द्र आदि उच्च लोकों के निवासियों का इस लोक में पतन होता है । 'कठोपनिषद्' में उल्लिखित 'पञ्चाग्नि विद्या' द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु यदि ब्रह्मलोक में कृष्णभावनामृत का अनु-शीलन नहीं किया जाय, तो पृथ्वी पर पुनः लौटना होगा । उच्च लोकों में कृष्णभावनामृत का आचरण करने वाले उत्तरोत्तर उच्चलोक प्राप्त करते हैं, और महाप्रलय होने पर नित्य भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं । प्राकृत जगत् में प्रलय हो जाने पर नित्य कृष्णभावनाभावित रहने वाले

ब्रह्मा एवं उनके भक्तों को [illegible]
भगवद्धामों की प्राप्ति होती है।

> सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
> रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

सहस्र=हजार ; युग=युगों ; पर्यन्तम्=[illegible] ; अहः=दिन ; यत्=जो , ब्रह्मणः=ब्रह्मा का ; विदुः=जानते हैं ; रात्रिम्=रात्रि ; युग=युग ; सहस्र-अन्ताम्=[illegible] वाली ; ते=वह ; अहःरात्र=दिन-रात के तत्त्व को ; विदुः=जानते हैं , जनाः=मनुष्य।

अनुवाद

मानवीय गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार युग है और इसी अवधि की उसकी रात्रि है॥१७॥

तात्पर्य

प्राकृत ब्रह्माण्ड की अवधि परिमित है। इसका प्राकट्य 'कल्पों' के सृष्टि-चक्र में होता है। ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। एक कल्प में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारों युग एक हजार बार व्यतीत हो जाते हैं। सतयुग के लक्षण हैं : सदाचार, बुद्धिमत्ता, धर्म तथा अज्ञान और पाप का अत्यन्त अभाव। यह युग १७,२८,००० वर्ष तक रहता है। त्रेता में पाप कर्म का प्रवर्तन होता है। इस युग की अवधि १२,९६,००० वर्ष है। द्वापर में धर्म का अधिक ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान होता है। यह युग ८,६४,००० वर्ष तक विद्यमान रहता है। अन्त में कलियुग (जिसका हम पिछले ५,००० वर्ष से अनुभव कर रहे हैं) प्रारम्भ होता है। इसमें कलह, अज्ञान, अधर्म और पापाचार का प्राबल्य रहता है तथा यथार्थ 'धर्माचरण' लुप्त प्रायः हो जाता है। इस युग का काल ४,३२,००० वर्ष है। कलियुग में अधर्म इतना अधिक बढ़ जाता है कि युग के अन्त में श्रीभगवान् स्वयं कल्कि अवतार ग्रहण

कर दैत्यों का मर्दन और निज भक्तों का परित्राण कर नवीन सत्य युग का सूत्रपात करते हैं। सृष्टा ब्रह्मा के एक दिन में ये चारों युग एक एक हजार वार व्यतीत हो जाते हैं। ब्रह्मा की रात्रि की भी यही परिधि है। इतने बड़े दिन-रात वाले सौ वर्ष तक जीवन-धारण कर ब्रह्मा का निधन हो जाता है। ये'सौ वर्ष' पृथ्वी के ३११;०००,०४०,०००,००० वर्षों के तुल्य हैं। इस गणना के अनुसार. ब्रह्मा की आयु विलक्षण और कभी न समाप्त होने वाली प्रतीत होती है, किन्तु नित्यता के दृष्टिकोण से तो वह विद्युत्वत् ही है। आन्ध्र महासागर में बुलबुले की भांति कारण समुद्र में असंख्य ब्रह्माओं का नित्य उदय-विलय होता रहता है। प्राकृत जगत् के अंश ब्रह्मा और उसकी सृष्टि नित्य निस्सरणशील है।

प्राकृत जगत् में ब्रह्मा भी जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के चक्र से मुक्त नहीं है। तथापि, इस जगत् की व्यवस्था करने के रूप में साक्षात् भगवत्सेवा के परायण होने से ब्रह्मा की सद्योमुक्ति हो जाती है। उच्च संन्यासियों को ब्रह्मा का वह विशिष्ट ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, जो प्राकृत जगत् में सर्वोच्च है तथा अन्य स्वर्गीय लोकों का विनाश हो जाने पर भी बचा रहता है। परन्तु भौतिक प्रकृति के नियमानुसार, ब्रह्मा और ब्रह्मलोक के समस्त वासियों की भी यथासमय मृत्यु हो जाती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अव्यक्तात्=अव्यक्त से ; **व्यक्तयः**=जीवात्मा ; **सर्वाः**=सब ; **प्रभवन्ति**=प्रकट होते हैं ; **अहः-आगमे**=दिन के प्रवेशकाल में ; **रात्रि-आगमे**=रात्रि के आने पर; **प्रलीयन्ते**=विलीन हो जाते हैं ; **तत्र**=उस ; **एव**=ही ; **अव्यक्त**=अप्रकट ; **संज्ञके**=कहे जाने वाले में।

अनुवाद

ब्रह्मा के दिन के आने पर यह जीव-समूह अव्यक्त से प्रकट होता है और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर फिर उसी में लय हो जाता है ॥१८॥

तात्पर्य

अल्पज्ञ जीव इसी संसार में रहने के लिये यत्न करते हैं, जिससे नाना लोकों में उनका उत्थान और पतन होता रहता है। ब्रह्मा के दिवस-काल में अपने कार्य-कलापों को प्रकट करते हैं और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर उनका अव्यक्त में पुनः विलय हो जाता है। ब्रह्मा के दिन में उन्हें विविध कलेवरों की प्राप्ति होती है और रात्रि होने पर यही कलेवर नष्ट हो जाते हैं। इस समय जीव श्रीविष्णु के विग्रह में रहते हैं। ब्रह्मा के दिवस की आवृत्ति के साथ वे ही पुनः अभिव्यक्त होते हैं। ब्रह्मा के जीवन-काल की समाप्ति होने पर वे सभी विलीन होकर करोड़ों वर्ष तक अव्यक्त रहते हैं। अन्त में, अगले युग में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होता है और वे भी फिर से व्यक्त होते हैं। इस प्रकार जीव प्राकृत जगत् द्वारा मोहित रहता है। परन्तु जो सुधीजन कृष्ण-भावनामृत को अंगीकार कर भक्तियोग से युक्त हुए 'हरे कृष्ण हरे राम' कीर्तन करते हैं, वे इसी जीवन में श्रीकृष्ण के दिव्य-धाम में प्रवेश कर पुनर्जन्म से मुक्त सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त कर लेते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

भूत-ग्रामः=चराचर जीवों का समूह; सः एव=वही; अयम्=यह; भूत्वा-भूत्वा=उत्पन्न हो होकर; प्रलीयते=लय होता है; रात्रि=रात्रि के; आगमे=आने पर; अवशः=कर्म के आधीन हुआ; पार्थ=हे पृथा-पुत्र; प्रभवति=व्यक्त होता है; अहः=दिन के; आगमे=उपस्थित होने पर;

अनुवाद

वही यह जीव-समुदाय प्रकट हो होकर रात्रि के आने पर लय होता है और दिन के आने पर कर्म के वश हुआ फिर व्यक्त होता है ॥१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परः=श्रेष्ठ है ; तस्मात्=उस ; तु=परन्तु ; भाव=प्रकृति ; अन्यः=भिन्न ; अव्यक्तः=अव्यक्त ; अव्यक्तात्=अव्यक्त से ; सनातनः=नित्य ; यः=जो ; सः=वह ; सर्वेषु=सब ; भूतेषु=भूतों की। नश्यत्सु=प्रलय होने पर भी ; न विनश्यति=नष्ट नहीं होता।

अनुवाद

इस व्यक्त और अव्यक्त होने वाली अव्यक्त जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति है। वह परम-स्वरूपा एवं नित्य है। इस संसार के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता ॥२०॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की परा (अंतरंगा) शक्ति दिव्य और नित्य है। ब्रह्मा के अहोरात्र में क्रमशः व्यक्त और अव्यक्त होने वाली अपरा प्रकृति के संपूर्ण विकारों से वह अति परे है। गुणों में श्रीकृष्ण की यह परा अंतरंगा शक्ति अपरा प्रकृति के ठीक विपरीत है। सातवें अध्याय में इन परा-अपरा शक्तियों का विशद विवेचन है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अव्यक्तः=अप्रकट ; अक्षरः=अविनाशी ; इति=इस प्रकार (जो); उक्तः=कहा गया है ; तम्=उसे ; आहुः=कहते हैं ; परमाम्=परम ; गतिम्=गति ; यम्=जिसे ; प्राप्य=प्राप्त हुआ ; न निवर्तन्ते=संसार में नहीं आते ; तत्=वह ; धाम=धाम है ; परमम्=परम ; मम=मेरा।

अनुवाद

वह परमधाम अव्यक्त अक्षर कहलाता है और वही परम गति है। जहां जाने वाला फिर संसार में नहीं आता, वही मेरा परमधाम है ॥२१॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम को 'ब्रह्मसंहिता' में 'चिन्तामणि धाम' कहा गया है, जहां सर्व कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। गोलोक वृन्दावन नामक श्रीकृष्ण का परमधाम चिन्तामणि से रचे गये प्रासादों से परिपूर्ण है। वहा के वृक्ष कल्पतरु हैं, जो इच्छामात्र से खाद्य पदार्थ देते हैं, एवं 'सुरभि' गाएं अपरिमित मात्रा में दुग्धामृत प्रदान करती हैं। इस धाम में प्रभु सहस्रों लक्ष्मियों द्वारा सेवित हैं और सब कारणों के कारण आदिपुरुष गोविन्द नाम से जाने जाते हैं। श्रीकृष्ण विदग्ध वेणु-वादन-निरत रहते हैं (वेणु क्वणन्तम्)। उनका दिव्य श्रीविग्रह त्रिभुवन में परमाकर्षक है—उनके नयन कमलदल के तुल्य हैं और विग्रह का वर्ण है नवोदित घनश्याम। उनकी सुरम्यांगता कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्प-दलन है। वे शरीर पर पीताम्बर, कण्ठ में वैजयन्ती माला एवं केश-राशि में मोर-मुकुट धारण करते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने परव्योम के परमलोक अपने निजधाम (गोलोक वृन्दावन) का किंचित् दिग्दर्शन ही कराया है। परन्तु 'ब्रह्मसंहिता' में उसका विशद वर्णन उपलब्ध है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार, भगवद्धाम से उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है, अतः वही परमगति है। उसमें प्रविष्ट हुआ प्राणी प्राकृत जगत् में कभी नहीं आता। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के परमधाम में भेद नहीं है, दोनों समान चिद्गुणों से युक्त हैं। इस पृथ्वी पर, दिल्ली से नब्बे मील दक्षिण-पूर्व में स्थित वृन्दावन परव्योम के उसी गोलोक वृन्दावन का प्रतिरूप है। श्रीकृष्ण ने धरा पर अवतरित होकर इसी वृन्दावन धाम में दिव्य लीलारस का परिवेषण किया था।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

पुरुषः=पुरुष ; **सः**=वह ; **परः**=परम ; **पार्थ**=हे पृथापुत्र ; **भक्त्या**=भक्तियोग द्वारा ; **लभ्यः**=प्राप्त होने योग्य है ; **तु**=परन्तु ; **अनन्यया**=शुद्ध तथा अविचल (अनन्य); **यस्य**=जिसके ; **अन्तःस्थानि** =भीतर ; **भूतानि**=सम्पूर्ण जीव हैं ; **येन**=जिसके द्वारा ; **सर्वम्**=सब कुछ ; **इदम्**=यह ; **ततम्**=व्याप्त है ।

अनुवाद

वे परम पुरुष भगवान् हैं, अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य हैं। अपने परमधाम में विराजमान होते हुए भी वे सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी कुछ उन्हीं में स्थित है ॥२२॥

तात्पर्य

यहां स्पष्ट कथन है कि वह परम लक्ष्य, जहां से पुनरागमन नहीं होता, परमपुरुष श्रीकृष्ण का धाम ही है । 'ब्रह्मसंहिता' में इस परमधाम को 'आनन्द-चिन्मय-रस' कहा गया है, अर्थात् वह स्थान जहां सभी कुछ दिव्य रस से पूर्ण है । वहां अभिव्यक्त रहने वाली सम्पूर्ण वैचित्री भौतिकता (जड़ता) से शून्य दिव्य रसमय है । यह सम्पूर्ण वैचित्री श्रीभगवान् का दिव्य आत्म-विस्तार है, क्योंकि वह धाम पूर्णरूप से अन्तरंगा शक्ति का कार्य है, जैसा सातवें अध्याय में प्रतिपादित हुआ है । जहां तक इस प्राकृत जगत् का सम्बन्ध है, अपने परमधाम में नित्य रहते हुए भी श्रीभगवान् अपनी अपरा शक्ति के रूप में सर्व-व्यापक हैं । इस प्रकार अपनी परा एवं अपरा शक्तियों के माध्यम से वे प्राकृत तथा अप्राकृत ब्रह्माण्डों में सर्वत्र विद्यमान हैं । **'यस्यान्तः स्थानि'** का तात्पर्य यह है कि सभी कुछ उन्होंने ही धारण कर रखा है, चाहे वह पराशक्ति हो अथवा अपरा शक्ति ।

यहां निश्चित रूप से कहा गया है कि भक्ति के द्वारा ही वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश हो सकता है । सम्पूर्ण वैकुण्ठ-धामों में एक भगवान् श्रीकृष्ण ही असंख्य अंश-रूप धारण कर अवस्थित हैं । ये सभी चतुर्भुज-धारी अंश असंख्य वैकुण्ठ-लोकों के अधिपति हैं । उनके विविध नाम हैं—पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, केशव, माधव, अनिरुद्ध, हृषिकेश, संकर्षण,

प्रद्युम्न, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, वामन, पद्मनाभ आदि। ये स्वांश रूप उस वृक्ष के पत्तों के समान हैं, जिसके मूल स्वयं श्रीकृष्ण हैं। अपने परमधाम गोलोक वृन्दावन में निवास करते हुए भी श्रीकृष्ण अपनी सर्वव्यापक शक्ति के द्वारा दोनों (प्राकृत तथा अप्राकृत ब्रह्माण्डों का त्रुटिशून्य पूर्ण सञ्चालन करते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

यत्र=जिस; काले=काल (मार्ग) में; तु=किन्तु; अनावृत्तिम्=पीछे न आने वाली गति को; आवृत्तिम्=पीछे आने वाली गति को; च=तथा; एव=निःसन्देह; योगिनः=योगी; प्रयाताः=शरीर त्याग कर जाने वाले; यान्ति=प्राप्त होते हैं; तम्=उस; कालम्=काल (मार्ग) को; वक्ष्यामि=कहूंगा; भरतर्षभ=हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन।

अनुवाद

हे भारत! अब मैं तेरे लिए उन दोनों कालों (मार्गों) का वर्णन करूंगा जिनमें से एक में संसार से प्रयाण करने पर संसार में पुनरागमन होता है और दूसरे काल में जाने पर संसार में फिर जन्म नहीं होता। ॥२३॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् के पूर्ण शरणागत अनन्य भक्त यह चिन्ता नहीं करते कि वे देह-त्याग किस समय और किस प्रकार करेंगे। वे सब कुछ श्रीकृष्ण की इच्छा पर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुगमता से सुखपूर्वक भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं, जो कर्म-योग, ज्ञान-योग, हठयोग आदि अन्य साधनों पर निर्भर रहते हैं, उनके लिए आवश्यक है कि वे ऐसे उपयुक्त काल में देह का त्याग करें, जिससे उन्हें निश्चित रूप से ज्ञात हो जाय कि जन्म-मृत्युमय संसार में उनका पुनरावर्तन नहीं होगा।

सिद्ध योगी स्वेच्छा के अनुकूल देशकाल में संसार से जा सकता है। परन्तु यदि वह सिद्ध नहीं हुआ है, तो उसे प्रकृति के इच्छानुसार ही देह-त्याग करना होगा। श्रीभगवान् ने इन श्लोकों में पुनरागमन से मुक्ति के लिए उपयुक्त देह-त्याग के काल का वर्णन किया है। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहां प्रयुक्त 'काल' शब्द कालाभिमानी देवता का द्योतक है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्निः=अग्नि का अभिमानी देवता; **ज्योतिः**=प्रकाशमय; **अहः**=दिन का अभिमानी देवता; **शुक्लः**=शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता; **षट्-मासाः उत्तरायणम्**=उत्तरायण के छः मासों का अभिमानी देवता; **तत्र**=उस मार्ग में; **प्रयाताः**=जो देह को त्याग कर प्रयाण करते हैं; **गच्छन्ति**=प्राप्त होते हैं; **ब्रह्म**=ब्रह्म को; **ब्रह्म-विदः**=ब्रह्मवेत्ता; **जनाः**=पुरुष ।

अनुवाद

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि का अभिमानी देवता, दिन का अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता और उत्तरायण का अभिमानी देवता है, इस मार्ग में देह त्याग कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं ॥२४॥

तात्पर्य

अग्नि, प्रकाश, दिन, चन्द्रमा आदि के उल्लेख से जाना जाता है कि इन सभी के अपने-अपने अभिमानी देवता हैं, जो आत्मा के गमन की व्यवस्था करते हैं। देहान्तकाल में जीव एक नूतन जीवन की ओर अग्रसर होता है। दैवयोग से अथवा साधन के बल से इस श्लोक में बताये काल में देह-त्याग करने वाला निर्विशेष ब्रह्म-ज्योति को प्राप्त कर सकता है। उत्तम योगी इच्छा के अनुसार देश-काल में देह-त्याग करने की

सामर्थ्य रखते हैं। दूसरों में यह सामर्थ्य नहीं होती। परन्तु यदि दैववश भद्रवेला में उनका देहान्त हो जाय, तो वे भी बार-बार जन्म-मृत्यु रूप चक्र से मुक्त हो सकते हैं। अन्यथा, उनका पुनरागमन अवश्य होगा। कृष्णभावनाभावित शुद्ध-भक्त के लिए पुनर्जन्म का भय कदापि नहीं हो सकता, चाहे उसका देह-परित्याग मंगल वेला में हो अथवा अमंगलमय समय में, दैववश हो अथवा स्वेच्छा से।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

धूमः=धूमाभिमानी देवता; **रात्रिः**=रात्रि का अभिमानी देवता; **तथा**=और; **कृष्णः**=कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता; **षट्-मासाः दक्षिणायनम्**=दक्षिणायन के छः मासों का अभिमानी देवता है; **तत्र**=उस मार्ग में; **चान्द्रमसम्**=चन्द्रलोक की; **ज्योतिः**=ज्योति को; **योगी**=योगी; **प्राप्य**=प्राप्त होकर; **निवर्तते**=फिर पीछे आता है।

अनुवाद

और जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि का अभिमानी देवता है, कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः मासों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में जाने वाला योगी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर संसार में फिर आता है॥२५॥

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध में उल्लेख है कि पृथ्वी पर सकाम कर्म एवं यज्ञ करने वाले देह का अन्त होने पर चन्द्रलोक को गमन करते हैं और वहां (देव गणना के अनुसार) १०,००० वर्ष निवास कर सोमरस पान का उपभोग करते हैं। परन्तु अन्त में उन्हें पृथ्वी पर लौटना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रमा पर ऐसे उच्चकोटि के जीवों का निवास है, जो स्थूल इन्द्रियों द्वारा ज्ञानगोचर नहीं हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥२६॥

शुक्ल=अर्चि ; कृष्णे=धूम ; गती=मार्ग ; हि=निःसन्देह ; एते =ये दोनों ; जगतः=जगत् के ; शाश्वते=वेदों में ; मते=माने गये हैं ; एकया=एक के द्वारा ; याति=प्राप्त होता है ; अनावृत्तिम्=मोक्ष को ; अन्यया=दूसरे से ; आवर्तते पुनः=संसार में फिर जन्म लेता है ।

अनुवाद

वेदों के मत में इस जगत् से प्रयाण करने के यही दो मार्ग हैं-- शुक्ल (प्रकाश) और कृष्ण (अन्धकार) । शुक्ल गति में जाने वाले का पुनरागमन नहीं होता, जबकि अन्धकारमय गति से प्रयाण करने वाला संसार में फिर आता है ॥२६॥

तात्पर्य

आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने 'छान्दोग्य उपनिषद्' से गमनागमन का यही विवरण उद्धृत किया है । इस प्रकार, ज्ञान और कर्म के अधिकारी अनादिकाल से संसार में गमनागमन कर रहे हैं । श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण में न जाने से उनकी मुक्ति नहीं होती ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

न=नहीं ; एते=इन दोनों ; सृती=मार्गों को ; पार्थ=हे पृथापुत्र अर्जुन ; जानन्=जानता हुआ ; योगी=भगवद्भक्त ; मुह्यति=मोहित होता ; कश्चन=कोई भी ; तस्मात्=इसलिए ; सर्वेषु कालेषु=नित्य-निरन्तर ; योग युक्तः=कृष्णभावनाभावित ; भव=हो ; अर्जुन=हे अर्जुन ।

अनुवाद

इन दोनों मार्गों को जानने वाला भक्त कभी मोहित नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन! तू सदा भक्तियोग से युक्त हो ॥२७॥

तात्पर्य

यहां श्रीकृष्ण अर्जुन को परामर्श देते हैं कि वह इस तथ्य से चिन्तित न हो कि संसार को त्याग कर जाता हुआ जीवात्मा इनमें से किसी भी मार्ग को ग्रहण कर सकता है। भगवद्भक्त को यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि संसार से उसका प्रयाण इच्छा के अनुसार होगा अथवा दैव-योग से होगा। उसे तो बस सदा कृष्णभावना में स्थित रहकर हरे कृष्ण कीर्तन करते रहना चाहिए। वह यह जान ले कि इनमें से किस मार्ग की प्राप्ति होगी, यह चिन्ता दु:खदायी ही सिद्ध होती है। कृष्णभावना-भावित होने का सर्वोत्तम साधन भगवत्सेवामृत में तन्मय हो जाना है। इससे भगवद्धाम-प्राप्ति का पथ निरापद, निश्चित और प्रत्यक्ष हो जायगा। इस श्लोक में आया 'योगयुक्त' पद विशेष रूप से सारगर्भित है। दृढ़तापूर्वक योग का अभ्यास करने वाला कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही लगा रहता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण का सदुपदेश है कि जगत् में अनासक्त रहे, जिससे सम्पूर्ण कार्य-कलाप कृष्णभावना-भावित हो जायं। इस रीति से परमसिद्धि सुलभ हो जाती है। अतएव आत्मा के गमन-पथों के विवरण से भक्त उद्विग्न नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि भक्तियोग के प्रताप से भगवद्धाम में उसका अवश्य प्रवेश होगा।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदेषु=वेद-स्वाध्याय में ; यज्ञेषु=यज्ञ करने में ; तपः सु=विविध तपों में ; च=भी ; एव=निःसन्देह ; दानेषु=दान देने में ; यत्=जो ; पुण्यफलम्=पुण्लफल ; प्रदिष्टम्=कहा है ; अत्येति=उल्लङ्घन कर जाता है ; तत्=उस ; सर्वम्=सवका ; इदम्=इस ज्ञान को ; विदित्वा=जानकर ; योगी=भक्त ; परम्=चरम ; स्थानम्=धाम को ; उपैति=प्राप्त हो जाता है ; च=तथा ; आद्यम्=अनादि ।

अनुवाद

भक्तियोग को ग्रहण करने वाला भक्त वेद-स्वाध्याय, तप, यज्ञ, दान तथा दार्शनिक एवं सकाम क्रियाओं के पुण्य फल का उल्लङ्घन कर जाता है और अन्त में वह मेरे अनादि परम धाम को प्राप्त होता है ॥२८॥

तात्पर्य

यह श्लोक कृष्णभावनामृत और भक्तियोग का विशेष रूप से वर्णन करने वाले सातवें और आठवें अध्याय का उपसंहार है। गुरु के आश्रय में वेदाध्ययन तथा तपश्चर्या के अनुशीलन को नितान्त आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचारी को सेवक की भांति गुरुकुल में निवास करते हुए द्वार-द्वार से मांगी भिक्षा गुरु को समर्पित करनी चाहिए। तत्पश्चात् ही वह गुरु की आज्ञानुसार भोजन करे। यदि किसी दिन गुरु उसे भोजन के लिए न कहें तो वह उपवास करे। ब्रह्मचर्य-व्रत के ये कतिपय वैदिक सिद्धान्त हैं।

पांच से वीस वर्ष की आयु के बीच गुरु के आश्रम में वेदाध्ययन करने के अनन्तर वह परम चरित्रवान् वन सकता है। वेदाध्ययन का प्रयोजन विपयी मनोधर्मियों का मनोरञ्जन करना न होकर चरित्र-निर्माण करना है। इस प्रशिक्षण के पश्चात्, ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है। गृहस्थाश्रम में भी अनेक यज्ञ और परमार्थ-साधन करना आवश्यक है। तदुपरान्त, गृहस्थ से निवृत्त होकर 'वानप्रस्थ' अङ्गीकार करने पर वनवास, छालवसन धारण, अक्षौर आदि तपश्चर्या का अनुशीलन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा अन्त में संन्यास आश्रम का पालन करने से जीवन की संसिद्धि प्राप्त होती है।

इनमें से कुछ स्वर्गीय लोकों में गमन करते हैं और अधिक उन्नति करने पर ये पुरुष परव्योम की निर्विशेष ब्रह्मज्योति अथवा वैकुण्ठ लोकों या कृष्णलोक में मुक्ति-लाभ करते हैं। वैदिक वाङ्मय में इस पथ का दिग्दर्शन कराया गया है। परन्तु कृष्णभावनामृत की यह अनुपम सुन्दरता है कि भक्त पुरुष केवल भक्ति करने से ही जीवन के इन सभी आश्रमों के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का अतिक्रमण कर जाता है।

गीता के सातवें और आठवें अध्यायों को विद्वत्ता अथवा मनोधर्म से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इन्हें शुद्ध-भक्तों के सत्सङ्ग में सुनकर हृदयङ्गम करने का प्रयास करे। छठे अध्याय से बारहवें अध्याय तक का षटक गीता का सार-सर्वस्व है। यदि कोई भाग्यवान् सत्सङ्ग में गीता को, विशेष रूप से इन छः अध्यायों को आत्मसात् कर ले, तो उसका जीवन सम्पूर्ण तप, यज्ञ, दान, मनोधर्मादि से सर्वथा दिव्य कीर्ति-सौष्ठव से सुवासित हो उठेगा। गीता का श्रवण महाभागवत के मुखारविन्द से ही करना योग्य है। चौथे अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि भक्तजन ही गीता के रहस्य को पूर्णरूप से जान सकते हैं। मनोधर्मियों के स्थान पर महाभागवतों के मुखारविन्द से गीता का श्रवण करना ही श्रद्धा-भाव है। भक्तों के प्रसङ्ग से भक्तियोग में प्रवृत्ति होती है। इस भगवत्सेवा से श्रीकृष्ण के लीला-विलास, रूप, कार्य-कलाप एवं नामादि हृदय में स्फुरित हो जाते हैं और सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति भी हो जाती है। इस प्रकार सब संशय-भ्रम के दूर हो जाने पर गीता का स्वाध्याय अतिशय आनन्दवर्धन हो जाता है और कृष्णभावनामृत के प्रति रसज्ञता एवं भाव का उदय होता है। आगे चलकर श्रीकृष्ण में ही पूर्ण अनुराग हो जाता है। इससे जीवन की उस परम सिद्ध अवस्था का आरम्भ होता है, जिससे भक्त परव्योम में स्थित श्रीकृष्ण के गोलोक वृन्दावन धाम में प्रविष्ट होकर सच्चिदानन्दमय जीवन की प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये अष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्यायः



राजविद्याराजगुह्ययोग

परम गोपनीय ज्ञान

श्रीभगवानुवाच ।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा ; इदम्=इस ; तु=केवल (शुद्ध भक्ति, लक्षण) ; ते=तेरे लिए ; गुह्यतमम्=परम गोपनीय ; प्रवक्ष्यामि=कहूंगा ; अनसूयवे=ईर्ष्या न करने वाले ; ज्ञानम्=ज्ञान को ; विज्ञान सहितम्=विज्ञान के साथ ; यत्=जिसे ; ज्ञात्वा=जान कर ; मोक्ष्यसे=मुक्त हो जायगा ; अशुभात्=इस दुःखमय संसार से ।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! तुझ ईर्ष्या से रहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूंगा, जिसको जानकर तू संसार के क्लेशों से मुक्त हो जायगा ॥१॥

तात्पर्य

भक्त भगवान् की कथा का जितना भी अधिक श्रवण करता है, उतना ही अधिक प्रवुद्ध हो जाता है। इस श्रवण-पद्धति की महिमा का श्रीमद्भागवत में भी गान हुआ है, 'श्रीभगवान् की कथा दिव्य शक्ति से पूर्ण है, जिसकी अनुभूति भक्तों की गोष्ठी में उत्सुकतापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण-कीर्त्तन करने से होती है। मनोधर्मियों अथवा लोकिक विद्वानों के संग से इस विज्ञान को नहीं जाना जा सकता।'

भगवद्भक्त नित्य निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। कृष्ण-भावनामृत के परायण हुए जीव के मनोभाव और निष्कपटता को जानने वाले श्रीभगवान् उसे वह बुद्धि देते हैं, जिससे वह भक्तों के संग में कृष्ण-विज्ञान को हृदयङ्गम कर ले। श्रीकृष्ण विषयक चर्चा में अलौकिक शक्ति है। यदि किसी सौभाग्यशाली को ऐसा सत्संग प्राप्त है और वह ज्ञान के लिए प्रयत्नशील है, तो भगवत्प्राप्ति के पथ में वह अवश्य प्रगति करेगा। अर्जुन को अपनी सर्वसमर्थ सेवा के उत्तरोत्तर उत्तम स्तर को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण इस नवम अध्याय में उस रहस्य का वर्णन कर रहे हैं, जो सम्पूर्ण पूर्व-विषय से अधिक गोपनीय है।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रन्थ का उपोद्धात है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में आये मोक्षोपयोगी ज्ञान को 'गुह्य' कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय का विषय विशेष रूप से भक्ति योग से सम्बन्धित है। कृष्णभावनामृत का प्रकाशक होने से यह प्रकरण 'गुह्यतर' है। परन्तु नवम् अध्याय में तो केवल शुद्ध भक्ति का ही वर्णन है। इसी से यह अध्याय 'परम गुह्यतम' है। श्रीकृष्ण के परम गोपनीय ज्ञान से युक्त महानुभाव निस्सन्देह प्रकृति से परे हो जाता है। इस कारण प्रापञ्चिक

जगत् में रहते हुए भी उसे कोई सांसारिक दुःख नहीं होता। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कथन है जो पुरुष श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए यथार्थ में सदा उत्कण्ठित रहता है, वह संसार के बन्धन में प्रतीत होने पर भी वास्तव में मुक्त ही है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि इस प्रकार भक्तियोग में तत्पर पुरुष जीवन्मुक्त है।

इस प्रथम श्लोक का विशेष महत्त्व है। ज्ञान 'इदं ज्ञानम्' का अर्थ शुद्ध भक्तियोग से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं सर्वात्म-समर्पण-भक्तियोग के इन नौ अङ्गों के आचरण से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति होती है। हृदय-शुद्धि हो जाने पर इस कृष्ण-विज्ञान को जाना जा सकता है। यह जानना ही पर्याप्त नहीं कि जीवात्मा अप्राकृत है। इससे तो भगवत्प्राप्ति के पथ का केवल आरम्भ होता है। वास्तव में जीव के लिए शारीरिक क्रियाओं और अप्राकृत क्रियाओं के भेद को जानना आवश्यक है, इससे यह बोध होता है कि 'मैं देह नहीं हूं।'

सातवें अध्याय मे श्रीभगवान् की ऐश्वर्य-शालिनी सामर्थ्य, परा तथा अपरा आदि विविध शक्तियों और इस प्राकृत सृष्टि का वर्णन हुआ है। सम्प्रति नौवें और दसवें अध्याय में भगवद्-कीर्ति का गान है।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'अनसूयवे' पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः उच्च विद्वान् होने पर भी गीता के प्रायः सभी व्याख्याकार भगवान् श्री कृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। बड़े से बड़े विद्वान भी भगवद्गीता की अत्यन्त अशुद्ध व्याख्या करते हैं। उनके भाष्य सर्वथा निरर्थक हैं, क्योंकि वे श्री कृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हैं। भगवद्भक्तों द्वारा रचित टीकाएं ही वस्तुतः प्रामाणिक हैं। कोई भी ईर्ष्यालु व्यक्ति न तो भगवद्गीता का वर्णन कर सकता है और न श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान ही दे सकता है। श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानते हुए उनके चरित्र पर आक्षेप करने वाला मूढ़ है। अतः ऐसे भाष्यों को बड़ी सावधानी से त्याग देने से ही कल्याण होगा। जो पुरुष श्रीकृष्ण को शुद्ध दिव्य पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् जानता है, उसके लिए ये अध्याय परम कल्याणकारी हैं।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! तुझ ईर्ष्या से रहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूंगा, जिसको जानकर तू संसार के क्लेशों से मुक्त हो जायगा ॥१॥

तात्पर्य

भक्त भगवान् की कथा का जितना भी अधिक श्रवण करता है, उतना ही अधिक प्रवुद्ध हो जाता है। इस श्रवण-पद्धति की महिमा का श्रीमद्‌भागवत में भी गान हुआ है, 'श्रीभगवान् की कथा दिव्य शक्ति से पूर्ण है, जिसकी अनुभूति भक्तों की गोष्ठी में उत्सुकतापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण-कीर्त्तन करने से होती है। मनोधर्मियों अथवा लौकिक विद्वानों के संग से इस विज्ञान को नहीं जाना जा सकता।'

भगवद्‌भक्त नित्य निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। कृष्ण-भावनामृत के परायण हुए जीव के मनोभाव और निष्कपटता को जानने वाले श्रीभगवान् उसे वह बुद्धि देते हैं, जिससे वह भक्तों के संग में कृष्ण-विज्ञान को हृदयङ्गम कर ले। श्रीकृष्ण विषयक चर्चा में अलौकिक शक्ति है। यदि किसी सौभाग्यशाली को ऐसा सत्संग प्राप्त है और वह ज्ञान के लिए प्रयत्नशील है, तो भगवत्प्राप्ति के पथ में वह अवश्य प्रगति करेगा। अर्जुन को अपनी सर्वसमर्थ सेवा के उत्तरोत्तर उत्तम स्तर को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण इस नवम अध्याय में उस रहस्य का वर्णन कर रहे हैं, जो सम्पूर्ण पूर्व-विषय से अधिक गोपनीय है।

भगवद्‌गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रन्थ का उपोद्‌घात है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में आये मोक्षोपयोगी ज्ञान को 'गुह्य' कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय का विषय विशेष रूप से भक्ति योग से सम्बन्धित है। कृष्णभावनामृत का प्रकाशक होने से यह प्रकरण 'गुह्यतर' हैं। परन्तु नवम् अध्याय में तो केवल शुद्ध भक्ति का ही वर्णन है। इसी से यह अध्याय 'परम गुह्यतम' है। श्रीकृष्ण के परम गोपनीय ज्ञान से युक्त महानुभाव निस्सन्देह प्रकृति से परे हो जाता है। इस कारण प्रापञ्चिक

जगत् में रहते हुए भी उसे कोई सांसारिक दुःख नहीं होता। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कथन है जो पुरुष श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए यथार्थ में सदा उत्कण्ठित रहता है, वह संसार के बन्धन में प्रतीत होने पर भी वास्तव में मुक्त ही है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि इस प्रकार भक्तियोग में तत्पर पुरुष जीवन्मुक्त है।

इस प्रथम श्लोक का विशेष महत्त्व है। ज्ञान 'इदं ज्ञानम्' का अर्थ शुद्ध भक्तियोग से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं सर्वात्म-समर्पण-भक्तियोग के इन नौ अङ्गों के आचरण से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति होती है। हृदय-शुद्धि हो जाने पर इस कृष्ण-विज्ञान को जाना जा सकता है। यह जानना ही पर्याप्त नहीं कि जीवात्मा अप्राकृत है। इससे तो भगवत्प्राप्ति के पथ का केवल आरम्भ होता है। वास्तव में जीव के लिए शारीरिक क्रियाओं और अप्राकृत क्रियाओं के भेद को जानना आवश्यक है; इससे यह बोध होता है कि 'मैं देह नहीं हूं।'

सातवें अध्याय में श्रीभगवान् की ऐश्वर्य-शालिनी सामर्थ्य, परा तथा अपरा आदि विविध शक्तियों और इस प्राकृत सृष्टि का वर्णन हुआ है। सम्प्रति नौवें और दसवें अध्याय में भगवद्-कीर्ति का गान है।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'अनसूयवे' पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः उच्च विद्वान् होने पर भी गीता के प्रायः सभी व्याख्याकार भगवान् श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। बड़े से बड़े विद्वान् भी भगवद्गीता की अत्यन्त अशुद्ध व्याख्या करते हैं। उनके भाष्य सर्वथा निरर्थक हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हैं। भगवद्भक्तों द्वारा रचित टीकाएं ही वस्तुतः प्रामाणिक हैं। कोई भी ईर्ष्यालु व्यक्ति न तो भगवद्गीता का वर्णन कर सकता है और न श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान ही दे सकता है। श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानते हुए उनके चरित्र पर आक्षेप करने वाला मूढ़ है। अतः ऐसे भाष्यों को बड़ी सावधानी से त्याग देने से ही कल्याण होगा। जो पुरुष श्रीकृष्ण को शुद्ध दिव्य पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् जानता है, उसके लिए ये अध्याय परम कल्याणकारी हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

राज्य विद्या=सब विद्याओं का अधीश्वर; राज्य-गुह्यम्=सब गोपनीय ज्ञान का राजा; पवित्रम्=सबसे अधिक पावन; इदम्=यह; उत्तमम्=श्रेष्ठ; प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष अवगमम्=जिसका फल प्रत्यक्ष अनुभव में आता है; धर्म्यम्=धर्ममय; सुसुखम्=अति सुगम है; कर्तुम्=साधन में; अव्ययम्=अविनाशी है।

अनुवाद

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा और समस्त गोपनी का भी राजा है। यह परम शुद्ध है और स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाला होने से परम धर्म है। यह अविनाशी है और साधन करने में बड़ा सुगम भी है ॥२॥

तात्पर्य

भगवद्गीता के इस अध्याय को 'राजविद्या' कहा गया है क्योंकि सभी पूर्ववर्णित मतों एवं दर्शनों के सार-तत्त्व का इसमें प्रतिपादन है। सात प्रधान दर्शनवेत्ता हुए हैं : गौतम, कणाद, कपिल, याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्य, वैश्वानर तथा वेदान्त सूत्र के रचयिता व्यासदेव। इस प्रकार दर्शन अथवा दिव्य ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त संवृद्ध है। सम्प्रति, श्रीभगवान् कहते हैं कि यह नौवां अध्याय सम्पूर्ण विद्याओं का राजा तथा वेदाध्ययन और विभिन्न दर्शन से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण ज्ञान का सार-तत्त्व है। यह भगवद्ज्ञान परम गोपनीय है, क्योंकि इससे आत्मा और देह में भेद का बोध होता है। इस सम्पूर्ण गोपनीय ज्ञान की स्वामिनी राजविद्या का पर्यवसान भक्तियोग है।

सामान्यतः लोगों को इस राजविद्या की शिक्षा नहीं दी जाती जिससे उनकी शिक्षा बाह्य ज्ञान तक ही सीमित रहती है। जहाँ तक साधारण शिक्षा का सम्बन्ध है, राजनीति, समाज-शास्त्र, भौतिकी, रसायन-शास्त्र,

गणित, खगोल, यन्त्र-शास्त्र, आदि क्षेत्रों में अनेक व्यक्ति व्यस्त हैं। विश्व में ज्ञान के अनेक विभाग और बहुतविश्वविद्यालय विद्यमान हैं। दुर्भाग्य-वश ऐसा कोई विश्वविद्यालय अथवा विद्या-संस्थान नहीं है जो आत्म-तत्त्व की शिक्षा देता हो,जबकि देह में आत्मा का सबसे अधिक महत्व है, क्योंकि उसके बिना देह सर्वथा निरर्थक हो जाती है। तथापि, लोग प्राण के आधार इस आत्मा की उपेक्षा कर शारीरिक आवश्यकताओं को ही महत्त्व दे रहे हैं।

द्वितीय अध्याय से आत्म-तत्त्व के माहात्म्य को विशेष रूप से गौरवा-न्वित किया गया है। श्रीभगवान् ने प्रारम्भ में ही इस देह को नश्वर और आत्मा को नित्य कहा है। देह से भिन्न आत्मा निर्विकार, अविनाशी एवं सनातन है—यह गोपनीय ज्ञान है। परन्तु इससे आत्मा के सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। कदाचित् लोग इस असद् धारणा में रहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न तो है, परन्तु देहान्त अथवा देह से मुक्ति हो जाने पर वह शून्य अथवा निर्विशेष में लीन हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं। यह किस प्रकार सम्भव है कि देह में अत्यन्त क्रियाशील रहने वाला आत्मा देह-मुक्ति होने पर निष्क्रिय हो जाय। आत्मा नित्य क्रियाशील रहता है। नित्य आत्मा नित्य ही क्रिया-शील रहता है और भगवद्धाम में उसके द्वारा सम्पादित कार्य-कलाप का ज्ञान परम गोपनीय है। आत्मा की इन क्रियाओं को ही यहां राजविद्या कहा गया है।

यह ज्ञान परम विशुद्ध क्रिया है, जैसा वैदिक वाङ्मय में उल्लेख है। 'पद्म-पुराण' में मनुष्य के पाप कर्मों का विश्लेषण कर उन्हें पाप का ही परिणाम सिद्ध किया गया है। सकाम कर्म करने वाले नाना प्रकार के पापों के बन्धन में पड़ जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब किसी वृक्ष के बीज का आरोपण किया जाता है तो तत्काल बढता प्रतीत नहीं होता। उसे कुछ समय लगता है। सर्वप्रथम वह छोटे से अंकुर के रूप में दृष्टिगोचर होता है, तत्पश्चात् तरु का रूप धारण कर पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है। इस क्रम के पूर्ण होने पर बीज बोने वाला उसके फल-फूल का उपभोग करता है। बीज के समान, मनुष्य द्वारा किये गए पापकर्म को भी फलित होने में समय लगता है। कर्मफल को

विविध अवस्थाएं होती हैं। कर्त्ता के पाप-कर्म से निवृत्त हो जाने पर भी उसे पाप-कर्म के फल प्राप्त होते रहते हैं। अनेक पाप-कर्म अभी बीज-रूप में ही होते हैं, कि दूसरे पापों का फल सुख-दुःख के रूप में फलित हो जाता है, जैसा सातवें अध्याय के बीसवें श्लोक में उल्लेख है।

पाप-कर्म से पूर्णतया निवृत्त होकर और संसार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर पूर्ण रूप से सत्कर्म परायण हुआ सज्जन भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति में निष्ठ हो जाता है। भाव यह है कि जो भक्तियोग के परायण हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो चुके हैं। भगवद्-भक्ति से भगवद्दासों का प्रारब्ध, संचित बीज और क्रियमाण—सब प्रकार का पाप-कर्म-फल शनैः-शनैः नष्ट हो जाता है। अतः भगवद्भक्ति में बड़ी पावनकारी शक्ति है। इसी कारण इसे 'पवित्रं उत्तमम्' अर्थात् परम पवित्र कहा है। 'तमस' का अर्थ अंधकारमय संसार होता है। अतः उत्तम का अर्थ है वह तत्त्व जो प्राकृत क्रियाओं से परे हो। भक्तिभावमय क्रियाओं को प्राकृत कदापि नहीं समझना चाहिए, यद्यपि कभी-कभी भक्त विषयी व्यक्तियों के समान ही क्रियाशील प्रतीत होते हैं। परन्तु भक्तियोग को जानने वाला तत्त्वद्रष्टा जानता है कि भक्तों की क्रियाएं प्राकृत नहीं होतीं। वे सभी मायिक गुणों के विकार से सर्वथा मुक्त, अप्राकृत तथा भगवत्परायण हैं।

कहा जाता है कि भगवद्भक्ति का साधन इतना पूर्ण है कि परिमाण प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। हमें स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है कि श्रीकृष्ण के पावन नाम (हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे) का कीर्तन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यथासमय चिन्मय रसानुभूति होती है, जिससे वह अतिशीघ्र सम्पूर्ण सांसारिक दोषों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। यह वास्तव में देखा गया है। इससे अधिक श्रवण केसाथ ही जो पुरुष भक्तियोग की क्रियाओं के प्रसार-प्रचार अथवा कृष्णभावना की धर्म प्रसारिणी क्रियाओं में सहयोग करता है, वह उत्तरोत्तर पारमार्थिक उन्नति का अनुभव करता है। ऐसी पारमार्थिक उन्नति किसी भी प्रकार की पूर्व-शिक्षा अथवा योग्यता पर निर्भर नहीं करती। यह पथ स्वरूप से ही इतना पावन है कि इसके परायण हुआ मनुष्य स्वतः शुद्ध हो जाता है।

'वेदान्त सूत्र' में भी इस सिद्धान्त का निरूपण है : *'प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्'* अर्थात् भक्ति इतनी समर्थ है कि भक्तियोगमयी क्रियाओं के परायण होने से ही सन्देह रहित ज्ञान हो जाता है। नारदजी जो त्रिभुवन में भक्तों के अग्रणी हैं उनका पूर्व जन्म एक दासी के घर हुआ था। उनमें शिक्षा अथवा कुलीनता का अभाव था। परन्तु जब उनकी जननी महाभागवतों की सेवा करती, तो वे भी तन्निष्ठ हो जाते थे। इस प्रकार कभी-कभी मां की अनुपस्थिति में वे स्वयं भी महाभागवतों की सेवा करने लगे। नारदजी ने स्वयं कहा : 'उनकी आज्ञा से एक बार मैंने उनका उच्छिष्ट भोजन किया था। इससे मेरी सम्पूर्ण पाप-राशि तत्काल नष्ट हो गई। भक्तिनिष्ठ हुआ हृदय शीघ्र शुद्ध हो गया और उस समय मुझे योगी का स्वभाव अति रमणीय लगने लगा।' (भागवत १.५.२५) अपने शिष्य व्यासदेव से नारदजी ने कहा कि पूर्व जन्म के बाल्यकाल में वे चातुर्मास के दिनों मे महाभागवतों की सेवा करते थे, जिससे उनका अन्तरङ्ग सग उन्हे सुलभ हो गया। कभी वे ऋषि अपने पात्रों में उच्छिष्ट भोजन छोड़ देते। पात्र-धावन करते हुए बालक के हृदय में उस उच्छिष्ट के आस्वादन की इच्छा होती। अतः उसने इसके लिए उन महाभागवतों से अनुमति की याचना की। महज्जनों की अनुमति से उसने अवशिष्ट भोजन को ग्रहण किया, जिसके परिणाम में सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो गया। महज्जनों के प्रसाद को ग्रहण करने के प्रताप से वह शनैः शनैः उन्ही के समान शुद्ध हृदय हो गया तया उसमें भी वही रुचि जागृत हो गई। महाभागवत नित्य-निरन्तर भक्ति-भाव से श्रवण, कीर्तन, आदि का रसास्वादन करते थे। उसी रुचि का उन्मेष होने से नारद भी भगवत्कथा के श्रवण-कीर्तन के लिये अति उत्कंठित हो गये। इस प्रकार, साधु-संग से उनमे भगवद्भक्ति के लिये लौल्य का उदय हुआ। इसमें वे 'वेदान्त-सूत्र' से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। *'प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्'* : *भगवद्भक्ति में अनन्यभाव से निष्ठ हुए भक्त* के हृदय में सम्पूर्ण तत्त्व स्वतः स्फुरित हो जाता है। यही 'प्रकाशः' अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति है।

जैसा कहा जा चुका है नारद पूर्व में एक दासी के पुत्र थे। इसलिये उन्हें विद्यालय जाने का कोई अवसर प्राप्त नही हुआ। वे केवल माता

की सहायता करते थे। सौभाग्यवश उनकी मां ने भक्तों का कुछ सेवा-कार्य कर लिया। बालक नारद को भी यह अवसर प्राप्त हुआ और इस प्रसंग में प्राप्त हुए सत्संग के द्वारा ही उन्हें धर्म के परम लक्ष्य, भक्तियोग की उपलब्धि हो गई। श्रीमद्भागवत् का कथन है कि धार्मिक मनुष्य भी सामान्यत: यह नहीं जानते कि धर्म की परम सिद्धि भक्तियोग की प्राप्ति हो गई। 'श्रीमद्भागवत' की वाणी है कि धर्म-परायण व्यक्ति भी प्राय: यह नहीं जानते कि धर्म का परम लक्ष्य भक्तियोग की प्राप्ति ही है। साधारणतया आत्मानुभूति के पथ को जानने के लिए वैदिक ज्ञान आवश्यक है। परन्तु नारदजी को वैदिक सिद्धान्तों में शिक्षित न होने पर वैदिक स्वाध्याय के परम प्रयोजन की प्राप्ति हो गयी। यह भक्ति-पथ इतना समर्थ है कि धार्मिक पद्धति का नियमित पालन किए विना भी परम संसिद्धि हो सकती है। वेद में प्रमाण है। **"आचार्यवान् पुरुषो वेद"** : विद्या अथवा वेदाध्ययन विहीन पुरुष भी महान् आचार्यों है सत्संग द्वारा भगवत्प्राप्ति के पर्याप्तज्ञान प्राप्त कर सकता है।

भक्ति पथ वड़ा सुखसाध्य है। भक्तियोग का स्वरूप है : **'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः'**। श्रीभगवान् का श्रवण-कीर्तन करने अथवा प्रामाणिक आचार्यों के भक्ति-ज्ञानपरक दार्शनिक प्रवचनों को सुनने से ही भक्ति का सम्पादन हो जाता है। सत्संग करने से यह सब शिक्षा सुलभ हो जाती है। फिर श्रीभगवान् के स्वादिष्ट प्रसाद का आस्वादन किया जा सकता है। इस प्रकार, भक्तियोग प्रत्येक अवस्था में आह्लादायी है। परम अकिंचनता में भी भक्तियोग का साधन हो सकता है। श्रीभगवान् की वाणी है, **'पत्रं पुष्पं फलम्'** : भक्त के किसी भी समर्पण को ग्रहण करने के लिए भगवान् नित्य उत्कण्ठित रहते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल, आदि पदार्थ विश्व में सर्वत्र उपलब्ध हैं; इतना ही नही, किसी भी वर्ण का व्यक्ति इन्हें श्रीभगवान् को अर्पण कर सकता है। भक्तिभवमय समर्पण को प्रभु अवश्यमेव अंगीकार करते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। भगवच्चरणारविन्द में अर्पित तुलसी की सौरभ के आघ्राण से ही सनत्कुमार आदि महर्षि महाभागवत बन गए। इस प्रकार भक्ति-मार्ग अति उत्तम भी है और सुख-साध्य भी। श्रीमाधव तो बस भावग्राही हैं।

यहाँ भक्तियोग को शाश्वत (नित्य) कहा गया है। इससे मायावादी दार्शनिकों का मत निराकृत हो जाता है। मायावादी कभी-कभी नाम मात्र की भक्ति को अंगीकार कर लेते हैं और मोक्ष होने तक उसका आचरण करते रहते हैं। परन्तु, अन्त में भक्ति को त्यागकर वे 'भगवान् से एक हो जाते हैं'। ऐसी क्षणिक स्वार्थ-प्रेरित भक्ति को शुद्ध भक्तियोग नहीं कहा जा सकता। यथार्थ भक्तियोग का अनुशीलन तो मोक्ष हो जाने पर भी पूर्ववत् होता रहता है। वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट हुआ भक्त वहाँ भी भगवत्सेवा के ही परायण रहता है। वह भगवान् से एक होने के लिए प्रयत्न नहीं करता।

जैसा आगे वर्णन है, यथार्थ भक्तियोग का आरम्भ मुक्ति हो जाने पर होता है। इसी कारण 'भगवद्गीता' में भक्त को 'ब्रह्मभूत' कहा गया है। मुक्त अथवा ब्रह्मभूत हो जाने पर ही भक्तियोग का प्रारम्भ होता है। भक्तियोग से भगवत्-तत्त्व का ज्ञान होता है। वस्तुत: भक्ति के बिना कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग अथवा किसी अन्य योग का स्वतन्त्र रूप से साधन करने से श्रीभगवान् के तत्त्व का बोध नहीं होता। भक्तियोग में तत्पर हुए बिना श्रीभगवान् का तत्त्व दुर्बोध ही रहता है। श्रीमद्-भागवत में भी कहा है कि भक्तियोग के साधन से, विशेषत: महाभागवतों से मुखपद्म से श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्गीता को सुनने से हृदय के शुद्ध हो जाने पर ही श्रीकृष्ण का तत्त्व जाना जाता है। 'एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्ति योगतः।' जब हृदय सम्पूर्ण अनर्थों से शुद्ध हो जाता है तो भगवद्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भक्ति अथवा कृष्णभावना-मृत का पथ राजविद्या और राजगुह्य है। यह परम विशुद्ध धर्म बड़ा सुखसाध्य है। अत: इस पथ को अवश्य ग्रहण करे।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

अश्रद्दधाना:=अश्रद्धालु; पुरुषा:=व्यक्ति; धर्मस्य=धर्म-पथ के; अस्य=इस; परंतप=हे शत्रु-मर्दन अर्जुन; अप्राप्य=प्राप्त न होकर; माम्=मुझे; निवर्तन्ते=भटकते रहते हैं; मृत्यु=मृत्युरूप; संसार=संसार; वर्त्मनि=चक्र में।

अनुवाद

हे शत्रु विजयी अर्जुन ! भक्तियोग में श्रद्धाहीन व्यक्ति मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस मृत्यु रूप संसार में ही बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥३॥

तात्पर्य

अश्रद्धालुओं के लिए यह भक्ति-पथ सर्वथा असाध्य है—ऐसा इस श्लोक का तात्पर्य है। श्रद्धा की उद्भावना भक्त-सङ्ग से होती है। किन्तु अभागे व्यक्तियों के हृदय में महत्पुरुषों के मुखारविन्द से वेद के सकल प्रमाणों का श्रवण करने पर भी श्रीभगवान् में श्रद्धा जागृत नहीं होती। सन्देहशील होने के कारण वे भक्तियोग में स्थिर नहीं रह सकते। अतः कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए श्रद्धा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है कि भक्त में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से ही उसे सम्पूर्ण संसिद्धि-लाभ हो जायगा। यथार्थ श्रद्धा का स्वरूप यही है। श्रीमद्भागत (३.४.१२) में कथन है कि वृक्ष के मूल का अभिसिंचन करने से उसकी शाखा प्रशाखा, पल्लवादि की स्वतः तुष्टि हो जाती है तथा उदर-पूर्ति से सम्पूर्ण इन्द्रियों का तोषण होता है। उसी प्रकार चिन्मयी भगवत्सेवा करने से सब देवता और जीव स्वतः सन्तुष्ट हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्-गीता का स्वाध्याय करने वाले को भगवद्गीता के इस निष्कर्ष को अवि-लम्ब धारण कर लेना चाहिए कि अन्य सब कार्यों को त्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करना ही कर्त्तव्य है। जीवन के इस दर्शन में विश्वास ही यथार्थ श्रद्धा है। कृष्णभावना इसी श्रद्धा का अभिवर्धन करने की पद्धति है।

कृष्णभावनाभावित मनुष्यों की तीन कोटियां हैं। कनिष्ठ श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं, जिनमें श्रद्धा का अभाव है। वे किसी निहित स्वार्थ के लिए औपचारिक रूप से भक्ति करते हैं, इसलिए भक्तियोग की परम संसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते। अधिकांश में कुछ समय बाद वे

स्खलित हो जायेंगे। वे भक्ति-मार्ग में लग सकते हैं, परन्तु पूर्ण श्रद्धा-विश्वास से युक्त न होने के कारण उनके लिए कृष्णभावनामृत में अधिक समय तक रहना अत्यन्त कठिन है। अपनी धर्मप्रसारिणी क्रियाओं में हमें यह प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है कि कुछ व्यक्ति निहित स्वार्थ से कृष्णभावनामृत को अंगीकार करते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से उपेक्षाकृत सम्पन्न हो जाने पर इसको त्याग कर पुन: पूर्ववत् आचरण करने लगते हैं। कृष्ण-भावनामृत में प्रगति श्रद्धा से ही हो सकती है। जहां तक श्रद्धा की अभिवृद्धि का सम्बन्ध है, भक्तियोग के शास्त्रों में पारंगत दृढ़ श्रद्धावान् भक्त उत्तम अधिकारी है। मध्यम अधिकारी वह है जो शास्त्र-ज्ञान में अधिक पारंगत नहीं है, परन्तु स्वभाविक रूप में इस दृढ़ विश्वास से युक्त है कि कृष्णभक्ति (कृष्ण सेवा) सर्वोत्तम मार्ग और इसलिए शुद्धभाव से उसे अङ्गीकार कर लेता है। मध्यम अधिकारी उस कनिष्ठ अधिकारियों से श्रेष्ठ है जिसमें शास्त्र-ज्ञान और श्रद्धा दोनों का अभाव है, परन्तु जो सत्संग एवं निष्कपटता के द्वारा गुरु-आज्ञा-पालन का प्रयत्न करता है। कृष्णभावनामृन के कनिष्ठ अधिकारियों का पतन हो सकता है, परन्तु मध्यम अथवा उत्तम भक्त अपनी स्थिति से नहीं गिरता। उत्तम अधिकारी निश्चित रूप से उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ अन्त में लक्ष्य को प्राप्त हो जायगा। कनिष्ठ अधिकारी में यह श्रद्धाभाव तो होता है कि भगवद्भक्ति बड़ी कल्याणकारी है, परन्तु श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता आदि शास्त्रों के आधार पर श्रीकृष्ण का तत्त्व-ज्ञान उसे नहीं होता। कृष्णभावना के इन कनिष्ठ अधिकारियों की कर्मयोग तथा ज्ञानयोग में भी कुछ-कुछ प्रवृत्ति होती है और कभी-कभी वे भक्ति-मार्ग से विचलित भी हो जाते हैं। परन्तु कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि दूषणों से मुक्त होते ही वे कृष्णभावना के मध्यम अथवा उत्तम अधिकारी बन जाते हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण में श्रद्धाभाव को भी तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। भागवत के एकादश स्कन्ध में उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ अनुरक्ति का विशद विवरण है। कृष्ण-कथा तथा भक्तियोग की अनुपमेयता का श्रवण करने पर भी जिनमें श्रद्धा का उदय नहीं होता, जो इनके माहात्म्य को अर्थ-वाद (स्तुति-मात्र) समझते हैं, उन्हें यह पथ अति दुर्गम लगता है, चाहे वे नाममात्र की भक्ति में तत्पर भी क्यों न हों। उनके लिए संसिद्धि-

लाभ की कोई आशा नहीं। अस्तु, भक्तियोग के साधन में श्रद्धा बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मया=मेरे द्वारा; **ततम्**=व्याप्त है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **जगत्**=सृष्टि; **अव्यक्त मूर्तिना**=मेरे इन्द्रियों से अतीत स्वरूप द्वारा; **मत्स्थानि**=मुझ में है; **सर्व-भूतानि**=सम्पूर्ण चराचर प्राणी; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अहम्**=मैं; **तेषु**=उनमें; **अवस्थितः**=स्थित हूं।

अनुवाद

प्राकृत इन्द्रियों से अतीत मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है। सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूं ॥४॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् स्थूल (कुंठित) प्राकृत इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य नहीं हैं। यह सिद्धान्त है कि भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीला-विलास आदि को प्राकृत इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। प्रामाणिक आचार्य के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण रहने वाले भक्त के हृदय में ही वे प्रकट होते हैं। 'ब्रह्म संहिता' में उल्लेख है, **'प्रेमाञ्जनच्छुरित'**, भगवान् गोविन्द के प्रति अनुरागमय प्रेमभाव का अनुशीलन करने से अपने अन्तर में तथा बाहर भी उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। अतः जनसाधारण के लिए वे अगोचर हैं। यहां कहा गया है कि यद्यपि वे सर्वव्यापक हैं तथा सर्वत्र विद्यमान हैं, तथापि प्राकृत इन्द्रियों से उनकी अनुभूति नहीं होती। परन्तु यद्यपि हम उन्हें देख नहीं सकते हैं, तथापि सब कुछ वस्तुतः उन्हीं के आश्रय में स्थित है। सातवें अध्याय के अनुसार सम्पूर्ण विश्वीय सृष्टि उनकी परा-अपरा नामक शक्तियों का समुच्चय-मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्य-किरण-राशि के विस्तार के समान

ही भगवत्-शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में विस्तारित हो रही है तथा सभी कुछ उसी के आश्रय में विद्यमान है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सर्वव्याप्त होने के कारण श्रीभगवान् का निजी अस्तित्व समाप्त हो गया है। इस कुतर्क का निराकरण करने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं सर्वव्यापक हूं और सब कुछ मेरे ही आश्रित है, तथापि इस सम्पूर्ण सृष्टि से मैं असंग हूं।' उदाहरणस्वरूप, राजा अपने प्रशासन का अधीश्वर होता है, जो उसकी शक्तियों का एक प्रकाश-मात्र है। विविध प्रशासकीय विभाग राजा की विभिन्न शक्तियां हैं तथा प्रत्येक विभाग राजा की सामर्थ्य पर आश्रित है। तथापि राजा से यह आशा नहीं की जाती कि प्रत्येक विभाग में स्वयं उपस्थित रहेगा। यह एक स्थूल उदाहरण है। इसी प्रकार हम जो कुछ भी देखते हैं, प्राकृत-अप्राकृत जितनी सृष्टि है, वह सब श्रीभगवान् की शक्ति पर आश्रित है। उनकी विभिन्न शक्तियों के विसरण से सृष्टि होती है और जैसा भगवद्गीता में कहा है, अपनी विविध शक्तियों के विसरण अर्थात् स्वांश-प्रकाश के रूप में वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न=नहीं (हैं); च=तथा; मत्स्थानि=मुझ में स्थित; भूतानि=सम्पूर्ण सृष्टि; पश्य=देख; मे=मेरी; योगम् ऐश्वरम्=अचिन्त्य योग शक्ति को; भूतभृत्=सम्पूर्ण जीवों का भर्ता; न=नहीं; च=तथा; भूतस्थः=प्राकृत सृष्टि में स्थित; मम=मेरा; आत्मा=स्वरूप; भूतभावनः=सम्पूर्ण सृष्टि का उद्गम।

अनुवाद

और यह सृष्टि भी मुझमें स्थित नहीं है। मेरे इस [illegible] देख! सम्पूर्ण जीवों को धारण-पोषण और उत्पन्न [illegible] आत्मा उनमें स्थित नहीं है ॥५॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् का कथन है कि सम्पूर्ण सृष्टि उन पर अविलम्बित है। इस भगवत्-वचन को सन्देहात्मक दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। इस सृष्टि के पालन-पोषण से श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। चित्र में पृथ्वी को स्कन्धों पर उठाए हुए ग्रीक-देवता एटलस इस वृहत्काय लोक के भार से अति श्रान्त प्रतीत होता है। किन्तु श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड को इस प्रकार धारण नहीं करते। उनका कहना है कि यद्यपि सब कुछ उन्हीं के आश्रय में स्थित है, तथापि वे सृष्टि से सर्वथा असंग हैं। लोक-समूह अन्तरिक्ष में विचरण कर रहे हैं। यह अन्तरिक्ष भी एक भगवत्-शक्ति है, परन्तु श्रीभगवान् इससे भिन्न हैं। उनका अपना निजी अस्तित्व है। इसी कारण उन्होंने कहा है कि, 'यद्यपि ये सब रचित पदार्थ मेरी अचित्य शक्ति में स्थित हैं, तथापि भगवान् के रूप में मैं इन सबसे असंग (अतीत) हूं।' श्रीभगवान् का यह अचिन्त्य वैभव है।

वेद में उल्लेख है, 'अपनी शक्ति-वैचित्र्य को प्रकट करते हुए श्रीभगवान् अद्भुत अचिन्त्य लीलामृत का परिवेषण कर रहे हैं। वे विविध शक्तियों से सम्पन्न एवं सत्यसंकल्प हैं। श्रीभगवान् के तत्त्व को इसी प्रकार जानना चाहिए।' हम कितने ही कार्य करना चाहते हैं, परन्तु मार्ग में इतने अधिक व्यवधान आते रहते हैं कि कभी-कभी तो इच्छा को कार्यान्वित करना असम्भव सा हो जाता है। परन्तु जब श्रीकृष्ण को कोई कार्य करना अभीष्ट होता है, तो उनके संकल्पमात्र से सम्पूर्ण कार्य कल्पनातीत कुशलता से पूर्ण हो जाता है। श्रीभगवान् ने इसी सत्य का वर्णन किया है: यद्यपि वे सम्पूर्ण सृष्टि का धारण-पोषण करते हैं, परन्तु फिर भी इसका स्पर्श नहीं करते। उनकी परम बलवती इच्छा-शक्ति के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन, धारण, पालन एवं संहार होता है। हमारे प्राकृत चित्त और स्वयं हममें भेद है, जबकि उनके चित्त और उनमें सर्वथा अभेद है, क्योंकि वे अद्वय-चेतन हैं। श्रीभगवान् एक ही साथ सर्वव्यापक भी हैं और अपने निजी स्वरूप में विद्यमान भी हैं। सामान्य मनुष्य के लिए यह सत्य सर्वथा दुर्बोध्य है। प्रभु इस सृष्टि से भिन्न हैं, तथापि सब कुछ उन्हीं के आश्रित है—इसी अचिन्त्य सत्य को यहां 'योगैश्वरम्' अर्थात् श्रीभगवान् की योग-शक्ति कहा गया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यथा=जैसे; आकाशस्थितः=आकाश में स्थित; नित्यम्=सदा-सर्वदा; वायुः=पवन; सर्वत्रगः=सर्वत्र विचरणशील; महान्=महान्; तथा=वैसे ही; सर्वाणि=सब; भूतानि=प्राणी; मत्स्थानि=मुझ में स्थित हैं; इति=इस प्रकार; उपधारय=जान ।

अनुवाद

जैसे सर्वत्र विचरणशील वायु नित्य आकाश में रहता स्थित है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को मुझ में स्थित जान ॥६॥

तात्पर्य

जन-साधारण के लिए यह सत्य प्रायः अचिन्त्य ही है कि वृहत् प्राकृत सृष्टि किस प्रकार भगवान् के आश्रित है। अतएव लोकबुद्धि में यह सत्य प्रवेश कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आकाश का दृष्टान्त दे रहे हैं। इस सृष्टि में हमारी कल्पना शक्ति के लिए आकाश सब से बड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश पर अवलम्बित है। इस आकाश में अणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि बड़े से बड़े ग्रह परिभ्रमण कर सकते हैं। महान् वायु भी आकाश में ही स्थित है, वह आकाश से अतीत नहीं है।

इसी प्रकार, सम्पूर्ण आश्चर्यमयी सृष्टि श्रीभगवान् के संकल्प के आधार पर स्थित है और पूर्ण रूप से उसी के आधीन है। जैसा लोक-प्रसिद्ध है, भगवत्-इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार सब कुछ उन्हीं के संकल्प के अनुसार हो रहा है। उनके संकल्प से सम्पूर्ण सृष्टि होती है, सबका पालन होता है और अन्त में नाश भी होता है। फिर भी, वे सबसे असंग हैं, उसी भांति जैसे गगन वायु-मण्डल से सदा असंग है। उपनिषद्-वाणी है : 'वायु श्रीभगवान् के भय से ही विचरता है।' गार्गोपनिषद् में कहा है, 'श्रीभगवान् की आज्ञा की आधीनता में ही

चन्द्र, सूर्य आदि बृहत् ग्रह परिभ्रमण कर रहे हैं।' ब्रह्म संहिता में भी इसका उल्लेख है। सूर्य के भ्रमण के सन्दर्भ में वहां कहा गया है कि तेज और प्रकाश के विस्तार की अनन्त शक्ति वाला सूर्य श्रीभगवान् का एक चक्षु है। श्रीगोविन्द की आज्ञा और संकल्प के अनुसार वह अपनी निश्चित कक्षा में ही घूम रहा है। इस प्रकार, वैदिक वाङ्मय से प्रमाणित होता है कि अति अद्‌भुत एवं महान् प्रतिभासित होने वाली यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के नियन्त्रण में है। अनुवर्ती श्लोकों में इस तथ्य का अधिक विशद वर्णन है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सर्व-भूतानि=सब प्राणी; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **प्रकृतिम्**=प्रकृति में; **यान्ति**=प्रवेश करते हैं; **मामिकाम्**=मेरी; **कल्पक्षये**=कल्प का अन्त होने पर; **पुनः**=फिर; **तानि**=उन सब को; **कल्प-आदौ**=कल्प के प्रारम्भ में; **विसृजामि**=रचता हूं; **अहम्**=मैं ।

अनुवाद

हे अर्जुन ! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है और नए कल्प के आरम्भ में अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूं ।।७।।

तात्पर्य

इस प्राकृत सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार पूण रूप से श्रीभगवान् के परम संकल्प पर निर्भर करता है। 'कल्पांत' का अर्थ ब्रह्मा की मृत्यु से है। ब्रह्मा के जीवन की अवधि सौ वर्ष है, जिसका एक दिन पृथ्वी के ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। उसकी रात्रि की भी यही परिधि है। इस परिमाण के तीस दिवा-रात्रि से उसका एक मास बनता है और बारह मास का एक वर्ष होता है। इस परिमाण के सौ वर्ष के बाद ब्रह्मा का देह शान्त होने पर प्रलय हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि श्रीभगवान् द्वारा अभिव्यक्त शक्ति पुनः उन्हीं में लय हो जाती है। समय

आने पर उनकी इच्छानुसार फिर सृष्टि-प्रकाश होता है। वैदिक सूक्ति है, 'एक होने पर मैं बहुरूप धारण करूंगा।' इस संकल्प से वे माया शक्ति में अपना विस्तारकरते हैं और सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि पुनः प्रकट हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८॥

प्रकृतिम्=अपरा प्रकृति में; **स्वाम्**=अपनी; **अवष्टभ्य**=प्रवेश कर; **विसृजामि**=रचता हूं; **पुनः-पुनः**=बारम्बार; **भूत ग्रामम्**=प्राकृत सृष्टि को; **इमम्**=इस; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **अवशम्**=परतन्त्र; **प्रकृतेः**=प्रकृति के; **वशात्**=वश से।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि मेरे आधीन है। मेरे संकल्प से ही यह सृष्टि बारंबार प्रकट होती है और मेरे ही संकल्प से अन्त में इसका नाश होता है॥८॥

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, यह जड़-तत्त्व श्रीभगवान् की अपरा (निकृष्ट) शक्ति की अभिव्यक्ति है। सृष्टि-काल में अपरा शक्ति 'महत्तत्व' के रूप में अभिव्यक्ति होती है और प्रथम पुरुषावतार, महाविष्णु रूपधारी श्रीभगवान् उसमें प्रवेश करते हैं। वे कारणार्णव में लेट कर असंख्य ब्रह्माण्डों को उच्छ्वसित करते हैं और पुनः प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। इस विधि से ब्रह्माण्ड-संरचना होती है। तदनन्तर वे क्षीरोदकशायी विष्णु रूप धारण कर सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हो जाते हैं। इस श्लोक में यही निरूपण है।

जहां तक जीवात्माओं का सम्बन्ध है, अपरा प्रकृति में उनका गर्भाधान किया जाता है, जिससे पूर्व कर्म के अनुसार उन्हें विभिन्न योनियों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह जगत क्रियान्वित हो उठता है।

चन्द्र, सूर्य आदि बृहत् ग्रह परिभ्रमण कर रहे हैं।' ब्रह्म संहिता में भी इसका उल्लेख है। सूर्य के भ्रमण के सन्दर्भ में वहां कहा गया है कि तेज और प्रकाश के विस्तार की अनन्त शक्ति वाला सूर्य श्रीभगवान् का एक चक्षु है। श्रीगोविन्द की आज्ञा और संकल्प के अनुसार वह अपनी निश्चित कक्षा में ही घूम रहा है। इस प्रकार, वैदिक वाङ्मय से प्रमाणित होता है कि अति अद्भुत एवं महान् प्रतिभासित होने वाली यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के नियन्त्रण में है। अनुवर्ती श्लोकों में इस तथ्य का अधिक विशद वर्णन है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७॥

सर्व-भूतानि=सब प्राणी; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **प्रकृतिम्**=प्रकृति में; **यान्ति**=प्रवेश करते हैं; **मामिकाम्**=मेरी; **कल्पक्षये**=कल्प का अन्त होने पर; **पुनः**=फिर; **तानि**=उन सब को; **कल्प-आदौ**=कल्प के प्रारम्भ में; **विसृजामि**=रचता हूं; **अहम्**=मैं।

अनुवाद

हे अर्जुन ! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है और नए कल्प के आरम्भ में अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूं ॥७॥

तात्पर्य

इस प्राकृत सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार पूण रूप से श्रीभगवान् के परम संकल्प पर निर्भर करता है। 'कल्पांत' का अर्थ ब्रह्मा की मृत्यु से है। ब्रह्मा के जीवन की अवधि सौ वर्ष है, जिसका एक दिन पृथ्वी के ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। उसकी रात्रि की भी यही परिधि है। इस परिमाण के तीस दिवा-रात्रि से उसका एक मास बनता है और बारह मास का एक वर्ष होता है। इस परिमाण के सौ वर्ष के बाद ब्रह्मा का देह शान्त होने पर प्रलय हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि श्रीभगवान् द्वारा अभिव्यक्त शक्ति पुनः उन्हीं में लय हो जाती है। समय

आने पर उनकी इच्छानुसार फिर सृष्टि-प्रकाश होता है। वैदिक सूक्ति है, 'एक होने पर मैं बहुरूप धारण करूंगा।' इस संकल्प से वे माया शक्ति में अपना विस्तारकरते हैं और सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि पुनः प्रकट हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८॥

प्रकृतिम्=अपरा प्रकृति में; **स्वाम्**=अपनी; **अवष्टभ्य**=प्रवेश कर; **विसृजामि**=रचता हूं; **पुनः-पुनः**=बारम्बार; **भूत ग्रामम्**=प्राकृत सृष्टि को; **इमम्**=इस; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **अवशम्**=परतन्त्र; **प्रकृतेः**=प्रकृति के; **वशात्**=वश से।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि मेरे आधीन है। मेरे संकल्प से ही यह सृष्टि बारंबार प्रकट होती है और मेरे ही संकल्प से अन्त में इसका नाश होता है॥८॥

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, यह जड़-तत्त्व श्रीभगवान् की अपरा (निकृष्ट) शक्ति की अभिव्यक्ति है। सृष्टि-काल में अपरा शक्ति 'महत्तत्त्व' के रूप में अभिव्यक्ति होती है और प्रथम पुरुषावतार, महाविष्णु रूपधारी श्रीभगवान् उसमें प्रवेश करते हैं। वे कारणार्णव में लेट कर असंख्य ब्रह्माण्डों को उच्छ्वसित करते हैं और पुनः प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। इस विधि से ब्रह्माण्ड-संरचना होती है। तदनन्तर वे क्षीरोदकशायी विष्णु रूप धारण कर सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हो जाते हैं। इस श्लोक में यही निरूपण है।

जहां तक जीवात्माओं का सम्बन्ध है, अपरा प्रकृति में उनका गर्भाधान किया जाता है, जिससे पूर्व कर्म के अनुसार उन्हें विभिन्न योनियों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह जगत क्रियान्वित हो उठता है।

सृष्टि के आदि-काल से ही सभी भिन्न-भिन्न जीव योनियों के कार्य-कलाप प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा नहीं कि ये सभी योनियां क्रमशः प्रकट होती हों। सब जीव-योनियों की सृष्टि ब्रह्माड-रचना के साथ होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि की एक साथ सृष्टि होती है, क्योंकि प्रलय के समय जीव जिस-जिस योनि की इच्छा रखते हैं, अगली सृष्टि होने पर वे उसी योनि में प्रकट होते हैं। यहां निश्चित रूप से कहा गया है कि जीव इस प्रक्रिया में सर्वथा परवश हैं। उनकी प्राचीन (पूर्व सृष्टिगत जीवन की) वासना ही भगवत्-संकल्प के अनुसार फिर प्रकट होती है। यह श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है कि विभिन्न जीव-योनियों की सृष्टि करने पर भी वे उनसे असंग रहते हैं। ज़ीव की कर्म-वासना के कारण ही सृष्टि होती है, अतएव श्री भगवान् स्वयं उसके संसर्ग में नहीं आते।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न=नहीं; **च**=तथा; **माम्**=मुझे; **तानि**=वे सब; **कर्माणि**=कार्य-कलाप; **निबध्नन्ति**=बांधते; **धनंजय**=हे वैभव-विजयी अर्जुन; **उदासीन-वत्**=तटस्थ की भांति; **आसीनम्**=स्थित हूं; **असक्तम्**=अनासक्त-भाव से; **तेषु**=उन; **कर्मसु**=कर्मों में।

अनुवाद

हे धनंजय! यह सब कार्य मेरे लिए बन्धनकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं उदासीन के समान अनासक्त-भाव से स्थित हूं ॥९॥

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीभगवान् निष्क्रिय हैं। अपने वैकुण्ठधाम में वे नित्य क्रीड़ारत हैं। ब्रह्म संहिता में उल्लेखहै : "प्राकृत क्रियाओं से सर्वथा असंग होते हुए भी वे अपनी आनन्द-चिन्मय-रसात्मिका लीला में नित्य तत्पर हैं।" प्राकृत क्रियाएं उनकी विविध

शक्तियों द्वारा सम्पन्न होती हैं, अतः श्रीभगवान् स्वयं सृष्ट जगत् की संपूर्ण प्राकृत क्रियाओं से नित्य उदासीन रहते हैं। यहां उनकी इसी उदासीनता का वर्णन है। यद्यपि जड़-प्रकृति पूर्ण रूप से उनके आधीन है, तथापि वे उदासीन के सदृश स्थित हैं। इस सन्दर्भ में न्यायाधीश का दृष्टान्त उल्लेखनीय है। वह स्वयं अपने आसन पर बैठा रहता है, परन्तु उसकी आज्ञा से कितनी ही घटनाएं घटित होती हैं—किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, किसी को कारावास तो किसी को विपुल लक्ष्मी परन्तु इस सबसे वह स्वयं सर्वथा असंग है। उस हानि-लाभ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे ही, यद्यपि प्रभु का हाथ हर कार्य-क्षेत्र में रहता है, फिर भी वे सबसे असंग हैं। 'वेदान्त सूत्र' में उल्लेख है कि वे इस जगत् के द्वन्द्वों से अतीत हैं। इस संसार के सृजन-संहार में भी उनकी आसक्ति नहीं है। जीवों को पूर्व कर्म के अनुसार विविध योनियों की प्राप्ति होती है, श्रीभगवान् इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मया=मेरी; **अध्यक्षेण**=अध्यक्षता में; **प्रकृतिः**=माया शक्ति; **सूयते**=रचती है; **स**=सहित; **चराचरम्**=चर-अचर; **हेतुना अनेन**= इस कारण से; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **जगत्**=प्राकृत सृष्टि; **विपरिवर्तते** उत्पत्ति-विनाश के चक्र में क्रियाशील है।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र ! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में काय करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है ॥१०॥

तात्पर्य

यहां स्पष्ट कथन् है कि प्राकृत जगत् की समस्त क्रियाओं से पूर्णतः असंग होते हुए भी श्रीभगवान् परम नियन्ता हैं। सत्यसंकल्प परमेश्वर

सृष्टि के आदि-काल से ही सभी भिन्न-भिन्न जीव योनियों के कार्य-कलाप प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा नहीं कि ये सभी योनियां क्रमशः प्रकट होती हों। सब जीव-योनियों की सृष्टि ब्रह्माड-रचना के साथ होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि की एक साथ सृष्टि होती है, क्योंकि प्रलय के समय जीव जिस-जिस योनि की इच्छा रखते हैं, अगली सृष्टि होने पर वे उसी योनि में प्रकट होते हैं। यहां निश्चित रूप से कहा गया है कि जीव इस प्रक्रिया में सर्वथा परवश हैं। उनकी प्राचीन (पूर्व सृष्टिगत जीवन की) वासना ही भगवत्-संकल्प के अनुसार फिर प्रकट होती है। यह श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है कि विभिन्न जीव-योनियों की सृष्टि करने पर भी वे उनसे असंग रहते हैं। जीव की कर्म-वासना के कारण ही सृष्टि होती है, अतएव श्री भगवान् स्वयं उसके संसर्ग में नहीं आते।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न=नहीं; **च**=तथा; **माम्**=मुझे; **तानि**=वे सब; **कर्माणि**=कार्य-कलाप; **निबध्नन्ति**=बांधते; **धनंजय**=हे वैभव-विजयी अर्जुन; **उदासीन-वत्**=तटस्थ की भांति; **आसीनम्**=स्थित हूं; **असक्तम्**=अनासक्त-भाव से; **तेषु**=उन; **कर्मसु**=कर्मों में।

अनुवाद

हे धनंजय! यह सब कार्य मेरे लिए बन्धनकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं उदासीन के समान अनासक्त-भाव से स्थित हूं ॥९॥

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीभगवान् निष्क्रिय हैं। अपने वैकुण्ठधाम में वे नित्य क्रीड़ारत हैं। ब्रह्म संहिता में उल्लेख है : "प्राकृत क्रियाओं से सर्वथा असंग होते हुए भी वे अपनी आनन्द-चिन्मय-रसात्मिका लीला में नित्य तत्पर हैं।" प्राकृत क्रियाएं उनकी वि

शक्तियों द्वारा सम्पन्न होती हैं, अतः श्रीभगवान् स्वयं सृष्ट जगत् की संपूर्ण प्राकृत क्रियाओं से नित्य उदासीन रहते हैं। यहां उनकी इसी उदासीनता का वर्णन है। यद्यपि जड़-प्रकृति पूर्ण रूप से उनके आधीन है, तथापि वे उदासीन के सदृश स्थित हैं। इस सन्दर्भ में न्यायाधीश का दृष्टान्त उल्लेखनीय है। वह स्वयं अपने आसन पर बैठा रहता है, परन्तु उसकी आज्ञा से कितनी ही घटनाएं घटित होती है—किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, किसी को कारावास तो किसी को विपुल लक्ष्मी परन्तु इस सबसे वह स्वयं सर्वथा असंग है। उस हानि-लाभ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे ही, यद्यपि प्रभु का हाथ हर कार्य-क्षेत्र में रहता है, फिर भी वे सबसे असंग है। 'वेदान्त सूत्र' में उल्लेख है कि वे इस जगत् के द्वन्द्वों से अतीत हैं। इस संसार के सृजन-संहार में भी उनकी आसक्ति नहीं है। जीवों को पूर्व कर्म के अनुसार विविध योनियों की प्राप्ति होती है, श्रीभगवान् इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मया=मेरी; अध्यक्षेण=अध्यक्षता में; प्रकृतिः=माया शक्ति; सूयते=रचती है; स=सहित; चराचरम्=चर-अचर; हेतुना अनेन=इस कारण से; कौन्तेय=हे अर्जुन; जगत्=प्राकृत सृष्टि; विपरिवर्तते उत्पत्ति-विनाश के चक्र में क्रियाशील है।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र ! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है ॥१०॥

तात्पर्य

यहां स्पष्ट कथन् है कि प्राकृत जगत् की समस्त क्रियाओं से पूर्णतः असंग होते हुए भी श्रीभगवान् परम नियन्ता हैं। सत्यसंकल्प परमेश्वर

इस प्राकृत सृष्टि के परम अध्यक्ष हैं; परन्तु इसकी व्यवस्था अपरा प्रकृति (माया) द्वारा संचालित है। भगवद्गीता में ही श्रीकृष्ण ने अन्यत्र कहा है कि "विभिन्न रूप-योनियों में स्थिति सम्पूर्ण जीवों का मैं पिता हूं।" संतान प्राप्ति के लिए पिता माता में गर्भाधान करता है। इसी प्रकार, परमेश्वर अपने दृष्टि-निक्षेप मात्र से अपरा प्रकृति में अखिल जीव-समूह का गर्भाधान कर देते हैं, जिससे वे सभी जीव अपनी पूर्व कर्म वासना के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप योनि ग्रहण करते हैं। अतः श्रीभगवान् का इस प्राकृत सृष्टि से सीधा सम्बन्ध नहीं है। उनके दृष्टिपात करने से ही अपरा प्रकृति क्रियान्वित हो जाती है, जिसके परिणाम में तत्क्षण संपूर्ण सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। माया पर दृष्टिपात करने के कारण यद्यपि श्रीभगवान् सृष्टि के निमित्त सिद्ध होते हैं, परन्तु प्राकृत सृष्टि से उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं है। स्मृति में यह दृष्टान्त दिया गया है : सौरभमय कुसुम की सौष्ठव को घ्राणेन्द्रिय ग्रहण करती है, फिर भी ये दोनों परस्पर असंग हैं। प्राकृत जगत् एवं श्रीभगवान् में ऐसा ही सम्बन्ध है। इस जगत् से वस्तुतः सर्वथा असंग होते हुए भी वे दृष्टिपात करके सृजन और निर्देशन करते हैं। सारांश में, श्रीभगवान् की अध्यक्षता के बिना अपरा प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। तथापि, श्रीभगवान् सम्पूर्ण लौकिक क्रियाओं से असंग हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अवजानन्ति=उपहास करते हैं; **माम्**=मेरा; **मूढाः**=बुद्धिहीन मनुष्य; **मानुषीम्**=नराकार; **तनुम्**=विग्रह; **आश्रितम्**=नित्य प्राप्त; **परम**=दिव्य; **भावम्**=स्वभाव को; **अजानन्तः**=न जानते हुए; **मम**= मुझ; **भूत**=सम्पूर्ण सृष्टि के; **महेश्वरम्**=परम स्वामी (का)।

अनुवाद

मेरे नराकार रूप में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं, क्योंकि वे मुझ परमेश्वर के दिव्य-स्वभाव को नहीं जानते ॥११॥

तात्पर्य

इस अध्याय के पूर्ववर्ती श्लोकों की व्याख्या से स्पष्ट है कि नररूप में अवतरित होने पर भी श्रीभगवान् साधारण मनुष्य नहीं हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार करने वाले श्रीभगवान् मनुष्य-तुल्य नहीं हो सकते। तथापि, अनेक मूढ़ व्यक्ति श्रीकृष्ण को केवल एक शक्तिशाली मनुष्य मानते हैं। वास्तव में तो वे आदि पुरुष परमेश्वर हैं, जैसा ब्रह्म संहिता में प्रमाण है—**'ईश्वर परमः कृष्णः'**

सृष्टि में एक से अधिक नियन्ता हैं, जिनमें एक एक से बड़ा प्रतीत होता है। प्राकृत जगत् में सामान्यतः प्रत्येक प्रशासक पर सचिव, सचिव पर मन्त्री तथा मन्त्री पर राष्ट्रपति शासन करता है। इनमें से प्रत्येक नियन्ता है; परन्तु साथ ही अन्य द्वारा स्वयं भी नियन्त्रित है। 'ब्रह्म संहिता' में कहा है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं। यह सत्य है कि प्राकृत जगत् तथा वैकुण्ठ जगत्, दोनों में अनेक ईश्वर हैं, परन्तु श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं **'ईश्वरः परमः कृष्णः'** तथा उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दघन अर्थात्, अप्राकृत है।

पूर्व श्लोकों में वर्णित अद्भुत कार्य-कलापों का सम्पादन प्राकृत कलेवर के लिए सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् का विग्रह सच्चिदानंदमय है। निःसंदेह वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, तथापि मूढ़ व्यक्ति उनका उपहास करते हैं और उन्हें साधारण मनुष्य ही मानते हैं। उनके विग्रह को यहाँ 'मानुषीम्' कहा गया है, क्योंकि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में एक राजनीतिज्ञ और अर्जुन के सखा के रूप में ठीक नरवत् लीला कर रहे हैं। विविध प्रकार से साधारण मनुष्य के समान करते हुए भी उनका विग्रह वास्तव में सच्चिदानन्द मय है। वैदिक वाङ्मय में भी इनकी संपुष्टि है **सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय :** "मैं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करता हूं।" वेदों में इस सत्य के अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं: **"तमेकं गोविन्दम्"** . आप इन्द्रियों और गोधन को रस का परिवेषण करने वाले श्रीगोविन्द हैं।" **"सच्चिदानन्द विग्रहम्"** : "आपका विग्रह सांग़ोपांग सच्चिदानन्दघन है।"

श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह में इन चिद्गुणों के होते हुए भी 'भगवद्गीता' अनेक तथाकथित विद्वान एवं व्याख्याकार श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य

कहकर उनका उपहास करते हैं। पूर्वजन्म के पुण्यकर्म के फलस्वरूप ऐसा विद्वान असाधारण प्रतिभावान हो सकता है, परन्तु श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ऐसी भ्रान्त धारण अल्पज्ञता की स्पष्ट परिचायक है। अतः उन्हें 'मूढ़' कहा गया है, क्योंकि परमेश्वर श्रीकृष्ण की अंतरंग लीलाओं एवं शक्ति-वैचित्र्य को न जानने वाला मूर्ख व्यक्ति ही उन्हें सामान्य मनुष्य मानेगा। ऐसे मूढ़ नहीं जानते कि श्रीकृष्ण का विग्रह समग्र सत्, चित् और आनन्द का उत्स (निधान) है और वे ही सकल सृष्टि के स्वामी एवं जीवमात्र को मुक्त करने में समर्थ हैं। श्रीकृष्ण के इन चिन्मय गुणों से अनिभिज्ञ होने के कारण ही मूढ़-मनुष्य उनका उपहास करते हैं।

मूढ़ यह भी नहीं जानते कि इस संसार में श्रीभगवान् का अवतरण उनकी आतममाया(अंतरंगा शक्ति)का प्रकाश है। वे अपरा माया शक्ति के स्वामी हैं। जैसा बहुधा कहा गया है, **'मम माया दुरत्यया'**; उनकी घोषणा है कि अति प्रबला अपरा शक्ति माया उनके सर्वथा आधीन हैं; अतः उनके चरणारविन्द के शरणागत हुआ जीव इसके नियन्त्रण से मुक्त हो सकता हैं। यदि श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ जीव भी माया से मुक्त हो जाता है, तो सम्पूर्ण अपरा प्रकृति के सृजन, पोषण एवं संहार के संचालक स्वयं उन परमेश्वर का विग्रह हमारे समान पाञ्चभौतिक कैसे हो सकता है ? अतः श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ऐसी असद्-धारणा सर्वथा मूढ़तापूर्ण है। तथापि, मूर्ख यह हृदयंगम नहीं कर सकते कि निराकार रूप में भगवान् श्रीकृष्ण अणु से लेकर विराट् विश्वरूप तक के नियन्ता हैं। बृहत्तम और अणुतम तत्त्व उनके लिये अचिन्त्य है, इसलिए वे यह कल्पना नहीं कर सकते कि एक नराकार विग्रह एक साथ अनन्त और अणु नियन्ता कैसे हो सकता है। वस्तुस्थिति यह है, कि अनन्त और अणु का नियन्त्रण करते हुए भी श्रीभगवान् इस समूची सृष्टि से असंग हैं। यही उनका योगैश्वर्य अर्थात्, अचिन्त्य दिव्य शक्ति है। यद्यपि मूढ़ यह कल्पना नहीं कर सकते कि नराकार श्रीकृष्ण अणु-अनन्त के परमेश्वर हैं, परन्तु शुद्ध भक्तों को इसमें सन्देश नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं भगवान् हैं (**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**)। अतएव वे भगवत्-चरणारविन्द में ही सर्वात्म-समर्पण करके कृष्णभावनामृत अथवा भगवद्-भक्ति के परायण हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण के नरावतार के सम्बन्ध में निर्विशेषवादियों तथा सविशेषवादियों में गम्भीर मतभेद हैं। परन्तु यदि हम कृष्ण-विज्ञान के प्रामाणिक शास्त्रों, भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत् का आश्रय लें, तो ज्ञात हो जायगा कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इस धराधाम पर नर-रूप में अवतरित होने पर भी वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं। श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्याय में श्रीकृष्ण की लीलाओं के सम्बन्ध में ऋषियों की जिज्ञासा है, जिसके उत्तर में कहा गया है कि उनका नरावतार मूढ़ों के लिए विडम्बनाकारी है। पृथ्वी पर अपने अवतरण काल में श्रीकृष्ण ने जो अद्भुत कार्य किये, कोई भी साधारण मनुष्य उनका आचरण नहीं कर सकता। जननी-जनक वसुदेव-देवकी के समक्ष श्रीकृष्ण सर्वप्रथम चतुर्भुज रूप से ही प्रकट हुए थे। परन्तु माता-पिता की वात्सल्य प्रेममयी स्तुति से प्रेरित होकर उन्होंने बाल-रूप धारण कर लिया। सामान्य मनुष्य के रूप में प्रकट होना उनके चिन्मय श्रीविग्रह का एक मधुर विलास है। गीता के एकादश अध्याय में भी 'तेनैव रूपेण' आदि उल्लेख हैं। अर्जुन ने चतुर्भुज रूप को फिर देखने के लिए श्रीभगवान् से प्रार्थना की तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना आद्य द्विभुज रूप पुनः धारण कर लिया। श्रीभगवान् के ये विविध रूप निःसन्देह साधारण मनुष्यों से विलक्षण हैं।

कुछ मूढ़, जो मायावाद से कलुषित होने के कारण श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं, श्रीकृष्ण को सामान्य मनुष्य सिद्ध करने के उद्देश्य से श्रीमद्भागवत से इस श्लोक को उद्धृत करते हैं: "अहं सर्वेषु भूतात्मावस्थितः सदा" : "परतत्त्व जीवमात्र में विद्यमान है" (श्रीमद्भागवत ३.२९.२१) श्रीकृष्ण का उपहास करने वाले अप्रामाणिक व्यक्तियों की मनोकल्पित व्याख्याओं का अनुसरण करने की अपेक्षा इस श्लोक का तात्पर्य श्रील जीव गोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों के अनुसार ही ही समझना चाहिए। इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए श्रील जीव गोस्वामिचरण कहते हैं कि श्रीकृष्ण परमात्मा-रूप से चराचर जीवमात्र में स्थित हैं। इसलिए जो प्राकृत-भक्त केवल मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीभगवान् को 'अर्चामूर्ति' की परिचर्या में संलग्न रहता है, अन्य जीवों को सम्मान नहीं देता, उसकी अर्चा-पूजा व्यर्थ है। भगवद्भक्तों की

तीन श्रेणियों में प्राकृत भक्त सबसे कनिष्ठ श्रेणी में आता है। वह अन्य भक्तों की उपेक्षा कर अर्चा-विग्रह के प्रति ही एकाग्र रहता है। श्रील जीव गोस्वामिपाद की चेतावनी है कि इस मनोदशा को शुद्ध करना आवश्यक है। भक्त को जीवमात्र के हृदय में श्रीकृष्ण के परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। प्राणी-मात्र भगवान् का निवास अर्थात् मन्दिर है अतः जिस प्रकार भगवद्-मन्दिर का अभिवादन किया जाता है, वैसे ही परमात्मा के निलयस्वरूप प्राणीमात्र का यथोचित सम्मान करे; किसी का भी अपमान कभी न करे।

वर्तमान काल में ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हैं, जो मन्दिर-अर्चन का उपहास करते हैं। उनका तर्क है कि ईश्वर सर्वव्यापक है, अतः उसे मन्दिर पूजन तक ही सीमित क्यों किया जाय? इसके उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तो क्या वह मन्दिर अथवा अर्चा-विग्रह में नहीं है? सविशेषवादी एवं निर्विशेषवादी इस प्रकार नित्य तर्क करते रहें, परन्तु कृष्णभावनाभावित शुद्ध भक्त यथार्थ में जानता है कि पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् होने के साथ श्रीकृष्ण सर्व-व्यापक भी हैं, जैसा 'ब्रह्म संहिता' द्वारा समर्थित है। अपने परमधाम गोलोक वृन्दावन में नित्य अवस्थित रहते हुए भी विविध शक्तियों और अंशों के रूप में वे प्राकृत और अप्राकृत सृष्टियों में सर्वत्र व्याप्त हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

मोघाशाः=व्यर्थ मनोरथ; **मोघकर्माणः**=निष्फल सकाम कर्म; **मोघज्ञानाः**=निष्फल ज्ञान; **विचेतसः**=मोहित; **राक्षसीम्**=राक्षस; **आसुरीम्**=अनीश्वरवादी; **च**=तथा; **एव**=निस्संदेह; **प्रकृतिम्**=स्वभाव को; **मोहिनीम्**=मोहकारी; **श्रिताः**=धारण किए हुए।

अनुवाद

इस प्रकार संमोहित हुए जीव आसुरी तथा अनीश्वरवादी स्वभाव को धारण किये रहते हैं। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा,

सकाम कर्म और उनके द्वारा अर्जित ज्ञान आदि सभी कुछ निष्फल हो जाता है ॥१२॥

तात्पर्य

ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अपने को कृष्णभावनाभावित एवं भक्तियोग से युक्त हुआ तो समझते हैं, परन्तु हृदय से भगवान् श्रीकृष्ण को परतत्त्व नहीं मानते। उन्हें भक्तियोग के फल—भगवद्धाम की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसी समान, जो भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं, वे सकाम-कर्मनिष्ठ व्यक्ति और मुमुक्षु ज्ञानी भी कृतार्थ नहीं हो सकेंगे। भाव यह है कि श्रीकृष्ण का तिरस्कार करने वालों को असुर अथवा अनीश्वरवादी जानना चाहिए। सातवें अध्याय के अनुसार, ऐसे आसुर-भाव वाले दुष्ट श्रीकृष्ण के शरणागत नहीं होते। परतत्त्व की प्राप्ति के लिए वे जो कुछ भी मनोधर्मी करते हैं, उससे इसी असत् निर्णय पर पहुंचते हैं कि जीव और श्रीकृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। इस भ्रान्त धारणा के कारण वे समझते हैं कि मनुष्य की देह इस समय केवल माया से आवृत हो गई है और जैसे ही जीव इस देह से मुक्त होता है, वैसे ही उसमें और ईश्वर में कोई भेद नहीं रहता। श्रीकृष्ण से एक होने की यह मोहमयी चेष्टा अवश्य असफल रहेगी। ज्ञान का ऐसा अनीश्वरवादी अथवा आसुरी अनुशीलन सदा निष्फल सिद्ध होता है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा 'वेदान्त सूत्र' तथा 'उपनिषद्' आदि वैदिक वाङ्मय से अर्जित ज्ञान भी सदा निष्फल (व्यर्थ) ही रहता है।

अस्तु, भगवान् श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानना घोर अपराध है। जो ऐसा मानते हैं, वे अवश्य भ्रान्त हैं; वे श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रह को तत्त्व से नहीं जानते। 'बृहद् वैष्णव मन्त्र' में तो यहां तक कहा गया है कि जो श्रीकृष्ण के विग्रह को प्राकृत मानता हो, उसे स्मृति के सम्पूर्ण विधान से बहिष्कृत कर देना चाहिए; यदि दैववश उसके मुख का दर्शन हो जाय, तो दोष निवृत्ति के लिए तत्क्षण वस्त्रों सहित गंगा-स्नान करे। भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास वही लोग करते हैं, जो उनके प्रति ईर्ष्यालु हैं। ऐसे व्यक्तियों को आसुरी तथा अनीश्वरवादी योनियों में ही बारंबार जन्म की प्राप्ति होती है। उनका यथार्थ ज्ञान

सदा मोह से विलुप्त रहता है, जिससे उत्तरोत्तर अधम योनियों में ही ही उनका पतन होता है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

महात्मानः=महात्मा जन; **तु**=तो; **माम्**=मुझे; **पार्थ**=हे पृथा पुत्र; **दैवीम्**=दिव्य; **प्रकृतिम्**=प्रकृति के; **आश्रितः**=आश्रित हुए; **भजन्ति**=सेवा करते हैं; **अनन्य-मनसः**=अविचल भाव से; **ज्ञात्वा**= जानकर; **भूत**=सृष्टि का; **आदिम्**=आदि कारण; **अव्ययम्**=अमोघ ।

अनुवाद

परन्तु हे पार्थ ! संमोह से मुक्त हुए महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रय में ही स्थित हैं। मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर वे अनन्य भाव से भगवद्भक्ति के ही परायण रहते हैं ॥१३॥

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि महात्मा वास्तव में कौन है। यथार्थ महात्मा का प्रथम लक्षण यह है कि वह नित्य दिव्य प्रकृति में स्थित रहता है; अतः वह माया के आधीन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का निर्देश सातवें अध्याय में है। भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ जीव अविलम्ब माया-मुक्त हो जाता है। यही उसकी पात्रता है। भगवच्चरणारविन्द में सर्वात्म-समर्पण करने वाला तत्क्षण माया के बन्धन से मुक्ति-लाभ करता है। यही मुक्ति का ऐकान्तिक उपाय है। जीव श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है। अतः माया से मुक्त होते ही उसे दैवी प्रकृति का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् के चरणारविन्द में शरणागति के फलस्वरूप जीव महात्मा-पद पर आरूढ़ हो जाता है।

महात्मा का ध्यान श्रीकृष्ण से अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं जाता, क्योंकि वह भली-भांति जानता है कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष और सब

कारणों के परम कारण हैं। उसे इसमें किञ्चित् भी संदेह नहीं रहता। ऐसे महात्मा का उद्भव अन्य महात्माओं अथवा शुद्ध भक्तों के संग से ही होता है। देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शुद्ध भक्त तो श्रीकृष्ण के चतुर्भुज महाविष्णु आदि अन्य रूपों के प्रति भी आकृष्ट नहीं होते। वे तो बस, श्रीकृष्ण के वेणुवादन निरत द्विभुज रूप में ही नित्य अनुरक्त रहते हैं। अतएव उन्हें किसी देवरूप अथवा मनुष्य से कोई अपेक्षा नही रहती। ऐसे कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण के ध्यान और अचल भगवत्सेवा में ही नित्य तन्मय रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ताउपासते ॥१४॥

सततम्=नित्य; **कीर्तयन्तः**=कीर्तन करते हुए; **माम्**=मुझे; **यतन्तः च**=पूर्ण चेष्टा करते हुए भी; **दृढव्रताः**=निश्चयपूर्वक; **नमस्यन्तः च**= प्रणाम करते हुए; **माम्**=मेरे को; **भक्त्या**=भक्ति भाव से; **नित्ययुक्ताः** =सदा तत्पर; **उपासते**=आराधना करते हैं।

अनुवाद

ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चय-पूर्वक चेष्टा करते हुए तथा प्रणाम करते हुए, भक्तिभाव से नित्य मेरी आराधना करते हैं ॥१४॥

तात्पर्य

किसी साधारण व्यक्ति को नाममात्र देकर महात्मा नहीं बनाया जा सकता। यथार्थ महात्मा के स्वरूप लक्षणों का यहां वर्णन है: महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के कीर्तन में ही नित्य तन्मय रहता है। नित्य भगवत्-कीर्त्तन करने के अतिरिक्त उसे कोई और काम नहीं होता। दूसरे शब्दों में महात्मा निर्विशेषवादी नहीं हो सकता, क्योंकि यथार्थ महात्मा वही है, जो भगवद्धाम, भगवन्नाम, भगवत्-रूप, भगवद्गुण तथा अद्भुत भगवच्चरित्र की स्तुति के रूप में श्रीभगवान् का कीर्त्तन

करे। ये सब भगवत्-तत्त्व सदा कीर्त्तनीय हैं। अतः यथार्थ महात्मा श्रीभगवान् में ही अनुरक्त रहता है।

जो श्रीभगवान् के निर्विशेष रूप—ब्रह्म ज्योति में आसक्त है, उसे 'भगवद्गीता' में महात्मा नहीं कहा गया है। ऐसे व्यक्ति का अगले श्लोक में पृथक रूप से उल्लेख है। महात्मा किसी देवता अथवा मानव को नहीं पूजता, वरन् स्वयं श्रीविष्णु के श्रवण कीर्त्तन, आदि भक्तियोग के साधनों में ही तत्पर रहता है जैसा श्रीमद्भागवत् में वर्णन है। उस भक्ति का स्वरूप यह है: **'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्...।'** यथार्थ महात्मा पांच दिव्य रसों में से किसी एक रस में श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने के दृढ़ निश्चय से युक्त रहता है। तत्सम्बन्धी सफलता के लिए वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं द्वारा भगवत्सेवा-निष्ठ हो जाता है। इसी का नाम पूर्ण कृष्णभावना है।

भक्तियोग में कुछ क्रियाएं अनिवार्य हैं, जैसे एकादशी, अवतार-जयन्ती, आदि उपवास-व्रतों का पालन। ये विधि-विधान महान् आचार्यों द्वारा उन्हीं के लिए कहे गये हैं, जो भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त करने के लिए यथार्थ रुचिवान् हैं। महात्माजन इन विधानों का सम्पूर्ण रूप से पालन करते हैं। अतएव उनके लिए अभिलाषित लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है।

जैसा अध्याय के द्वितीय श्लोक में वर्णन किया गया है, यह भक्तियोग सुगम होने के साथ ही आह्लादपूर्वक सम्पादित किया जा सकता है। इसके लिए किसी कठोर तप-त्याग की अपेक्षा नहीं है। विदग्ध सद्गुरु के आश्रय में गृहस्थी, सन्यासी अथवा ब्रह्मचारी किसी भी स्थिति में, विश्व के किसी भी स्थान में, भक्तिभावित जीवन व्यतीत करने वाला कोई भी मनुष्य इस भगवद्भक्तियोग के द्वारा यथार्थ महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

ज्ञानयज्ञेन=ज्ञान के अनुशीलन से; **च**=भी; **अपि**=निस्सन्देह; **अन्ये**=दूसरे; **यजन्तः**=यज्ञ से; **माम्**=मुझे; **उपासते**=उपासते हैं; **एकत्वेन**=एकत्व में; **पृथक्त्वेन्**=द्वैत भाव मे; **बहुधा**=अनेक प्रकार से; **विश्वतः-मुखम्**=विश्व रूप (में)।

अनुवाद

दूसरे जो ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर हैं; परमेश्वर को अद्वय-रूप में, विविध-रूपों में और विश्वरूप में भी मुझे उपासते हैं ॥१५॥

तात्पर्य

यह श्लोक इस प्रकरण के पूर्ववर्ती श्लोकों का उपसंहार है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि जो अनन्य भक्त उन (कृष्ण) के अतिरिक्त और कुछ नही जानते और विशुद्ध कृष्णभावना से भावित है, वे महात्मा कहलाते है। परन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं, जो यथार्थ में महात्मा तो नहीं है, पर वे भी विविध रीतियों से श्रीकृष्ण की आराधना करते हैं। उनमे से कतिपय का उल्लेख पूर्व मे हो चुका है, जैसे—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनसे भी न्यून मनुष्यों की तीन अन्य कोटियां है : (१) अहग्रहोपासक (परमेश्वर और अपने में एकीभाव मानकर उपासना करने वाले), (२) प्रतीकोपासक (परमेश्वर के किसी मनोकल्पित रूप के उपासक), और (३) विश्वरूपोपासक (जो श्रीभगवान् के विश्वरूप को स्वीकार कर उसकी आराधना करते हैं)। इन तीनों में, अपने को परमेश्वर से अभिन्न समझ कर उपासना करने वाले अद्वैतवादी सबसे न्यून हैं। मनुष्यों में इन्ही की प्रधानता है। ऐसे व्यक्ति अपने को परमेश्वर मानकर अपनी ही उपासना करते हैं। यह भी एक प्रकार से ईश्वर की उपासना है, क्योंकि इससे वे यह जान सकते हैं कि उनका स्वरूप प्राकृत देह न होकर चिन्मय आत्मा है; उनमें कम से कम इस विवेक का अतिरेक तो रहता ही है। सामान्यतः निर्विशेषवादी परमेश्वर को इसी विधि से उपासते हैं। द्वितीय कोटि के अन्तर्गत देवोपासक आते हैं, जो मनोकल्पना के अनुसार किसी भी रूप को भगवत्-रूप मान लेते हैं। तृतीय कोटि में वे मनुष्य हैं, जो इस प्राकृत ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति

(विश्वरूप) से अतीत किसी भी तत्त्व का चिन्तन नहीं कर सकते। अतः वे परमतत्त्व के रूप में उसी की आराधना में तत्पर रहते हैं। ब्रह्माण्ड भी श्रीभगवान् का ही एक रूप है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

अहम्=मैं; **क्रतुः**=कर्मकाण्ड हूं; **अहम्**=मैं ही; **यज्ञः**=यज्ञ हूं; **स्वधा**=तर्पण; **अहम्**=मैं; **अहम्**=मैं; **औषधम्**=रोगहारी ज़ड़ी; **मन्त्रः**=चिन्मय ध्वनि; **अहम्**=मैं; **अहम् एव**=मैं ही; **आज्यम्**=घृत; **अहम्**=मैं; **अग्निः**=अग्नि; **अहम्**=मैं ही; **हुतम्**=आहुति हूं।

अनुवाद

क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूं, यज्ञ अर्थात् स्मार्त्तकर्म मैं हूं, पितृ-तर्पण मैं हूं, औषधि और मन्त्र भी मैं हूं तथा मैं ही घृत, अग्नि और हवन रूप क्रिया हूं ॥१६॥

तात्पर्य

'ज्योतिष्टोम' नामक यज्ञ भी श्रीकृष्ण का रूप है। इसी से श्रीकृष्ण का एक नाम 'महायज्ञ' है। पितृलोक को अर्पित स्वधा अथवा औषधि के रूप में घृत का हवन भी श्रीकृष्ण का रूप है। इस क्रिया में उच्चारित मन्त्र श्रीकृष्णमय हैं। यज्ञ में जिन दुग्ध-निर्मित पदार्थों की आहूति दी जाती है, वे भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। अग्नि को श्रीकृष्ण कहा गया है, क्योंकि पञ्चमहातत्त्वों में से एक होने के कारण वह श्रीकृष्ण की भिन्ना-शक्ति है। भाव यह है कि वैदिक कर्म-काण्ड में प्रतिपादित विविध यज्ञ पूर्ण रूप से कृष्णमय हैं। प्रकारान्तर से, ऐसा जानना चाहिये कि जो पुरुष कृष्णभक्तिनिष्ठ हैं, वे समस्त वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान कर चुके हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥१७॥

पिता=जन्मदाता; अहम्=मैं (हूं); अस्य=इस; जगतः=ब्रह्माण्ड का; माता=मां; धाता=पोषक; पितामहः=पितामह; वेद्यम्=जानने योग्य; पवित्रम्=पावन; ओंकारः=ओम् शब्द ब्रह्म; ऋक्=ऋग्वेद; साम=सामवेद; यजुः=यजुर्वेद; एव=भी; च=तथा।

अनुवाद

मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला और पितामह हूं। मैं ही जानने योग्य परम पावन ओंकार हूं तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं ॥१७॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण-शक्ति की विविध क्रियाओं से ही चराचर सम्पूर्ण सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। संसार में हम अलग-अलग जीवों से नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। ये सभी जीव वस्तुतः श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति हैं, परन्तु प्रकृति की सृष्टि के अन्तर्गत हमारे पिता, माता आदि के रूप में भासते हैं। यथार्थ में ये सब श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। इस न्याय से माता, पिता आदि के रूप में प्रतीत होने वाले ये सब जीव श्रीकृष्ण के ही रूप हैं और इस कारण गुणतः श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। श्लोक में आए 'धाता' शब्द का अर्थ पोषण करने वाला है। केवल हमारे माता-पिता ही श्रीकृष्ण के भिन्न अंश नहीं हैं; वरन्, उनको जन्म देने वाले माता-पिता आदि भी श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश होने के कारण वस्तुतः जीवमात्र श्रीकृष्ण का रूप है। अतएव सम्पूर्ण वेद के लक्ष्य एकमात्र श्रीकृष्ण हैं। अस्तु, वेद से जो कुछ भी जिज्ञासा की जायगी, वह हमें क्रमशः श्रीकृष्ण के तत्त्व की ओर ही अग्रसर करेगी। वह तत्त्व, जो अन्तंशुद्धि के द्वारा स्वरूप को पुनः प्राप्त करने में हमारी सहायता करता है, विशेषरूप से श्रीकृष्ण का स्वरूप है। इसी के

सदृश, सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्तों को जानने की इच्छावाला भी श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश होने से उनका रूप है। ऋक्, साम, यजुः और अथर्व—इन चारों वेदों के समस्त मन्त्रों में 'प्रणव' नामक चिन्मय नाद-ब्रह्म, 'ओम्' का प्रयोग होता है। अतः वह भी श्रीकृष्ण का स्वरूप है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिः=लक्ष्य; **भर्ता**=पालनकर्ता; **प्रभुः**=ईश्वर; **साक्षी**=शुभ-अशुभ का देखने वाला; **निवासः**=धाम; **शरणम्**=शरण; **सुहृत्**=परम अन्तरंग सखा; **प्रभवः**=सृष्टि; **प्रलयः**=प्रलय; **स्थानम्**=आधार; **निधानम्**=विश्राम-स्थल; **बीजम्**=वीज (कारण); **अव्ययम्**=अविनाशी।

अनुवाद

प्राप्त होने योग्य (गति), सब का पालन करने वाला परम ईश्वर, शुभ-अशुभ का साक्षी, परमधाम, शरण लेने योग्य, जीवमात्र का सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, विश्राम-स्थल और अविनाशी वीज भी मैं हूं ॥१८॥

तात्पर्य

'गति' शब्द उस स्थान का वाचक है, जहां हम जाना चाहते हैं। यद्यपि जन-साधारण यह नहीं जानता, परन्तु सबके परम लक्ष्य श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण को न जानने वाला निश्चित रूप से पथभ्रष्ट है; उसका तथाकथित उत्थान श्रीकृष्ण वास्तव में या तो एकांगी है अथवा भ्रमात्मक है। ऐसा होते हुए भी, अनेक मनुष्य विभिन्न देवताओं को ही अपना गन्तव्य बना लेते हैं। ध्येय देवता के अनुसार दृढ़ साधन करने से उन्हें चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक, महलोक आदि विभिन्न लोकों की प्राप्त भी हो जाती है। किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा रचित ये सब लोक श्रीकृष्ण के रूप होने पर भी वस्तुतः उनसे भिन्न हैं। भाव यह है कि कृष्ण-शक्ति द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण यद्यपि ये लोक श्रीकृष्ण के रूप हैं, परन्तु उसके रूप में

श्रीकृष्ण की पूर्ण प्राप्ति नही हो सकती। देव-लोक की प्राप्ति श्रीकृष्ण की अनुभूति के पथ में केवल एक चरण आगे बढ़ाने के समान है। श्रीकृष्ण की नाना शक्तियों के उन्मुख होना श्रीकृष्ण की ओर परोक्ष रूप से बढ़ने जैसा है। अतएव समय और सामर्थ्य का व्यर्थ अपव्यय न कर प्रत्यक्ष रूप से श्रीकृष्ण के ही उन्मुख हो जाना अधिक श्रेयस्कर है। उदाहरणार्थ, यदि किसी भवन के ऊपर जाने के लिए उत्थापनयन्त्र (लिफ्ट) की सुविधा उपलब्ध है तो एक-एक पग रखकर सीढ़ियों से क्यों जाया जाय? सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति के आश्रय में स्थित है, श्रीकृष्ण के आश्रय के अभाव में किसी भी सत्त्व का अस्तित्व नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सब कुछ उन्ही की सम्पत्ति है और उन्ही की शक्ति के आश्रय में स्थित है। जीवमात्र के अन्तर्यामी रूप में श्रीकृष्ण परम साक्षी हैं। हमारे निवास, देश, लोकादि, भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। श्रीकृष्ण परम शरण्य हैं, अतएव अपनी रक्षा के लिए अथवा विपत्ति निवारण के लिए उन्हीं की शरण ले। त्राणदाता शरण्य-तत्त्व चैतन्य ही हो सकता है; अतः श्रीकृष्ण परम चैतन्य सिद्ध होते हैं। वे हम सभी के जन्मदाता परमपिता हैं और जीव के परम श्रेष्ठ सखा एवं सुहृद हैं। श्रीकृष्ण सृष्टि के आदि कारण और प्रलय के अनन्तर परम निधान हैं। इस सम्पूर्ण विवरण से सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

तपामि=सूर्य के रूप में तपता हूं; अहम्=मैं; अहम्=मैं; वर्षम्=वर्षा (का); निगृह्णामि=आकर्षण करता हूं; उत्सृजामि च=फिर बरसाता हूं; अमृतम्=अमृत; च=तथा; एव=निःसन्देह; मृत्युः=मृत्यु; च=भी (मैं हूं); सत्=सत्ता; असत्=सत्ता का अभाव; च=भी; अहम्=मैं (हूं); अर्जुन=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूप से जगत् को तपाता हूं, वर्षा का आक-

र्षण करता हूं उसे बरसाता हूं। मूर्तिमान अमृत और मृत्यु रूप भी मैं हूं तथा मैं ही सत् और असत् हूं ॥१९॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अपनी विविध शक्तियों के द्वारा विद्युत् और सूर्य के माध्यम से तेज और प्रकाश का प्रसारण करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वे वर्षा को आकाश से गिरने नहीं देते और वर्षा ऋतु वे ही अविराम प्रचण्ड परिवर्षण कराते हैं। हमारी जीवन-अवधि को परिवर्द्धित कर हमें धारण करने वाली शक्ति भी श्रीकृष्ण का ही रूप है और जीवन के अन्त में मृत्यु के रूप में श्रीकृष्ण से ही हमारा मिलन होता है। श्रीकृष्ण की इन नाना शक्तियों के विश्लेषण से जाना जाता है कि उनकी दृष्टि में आत्मा और जड़ प्रकृति (अनात्मा) में भेद नहीं है। प्रकारान्तर से, श्रीकृष्ण आत्मा और अनात्मा दोनों हैं। कृष्णभावना की उत्तम अवस्था में ऐसे सम्पूर्ण भेद समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुए महानुभाव को सर्वत्र सबमें श्रीकृष्ण ही दृष्टिगोचर होते हैं।

ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि जड़ प्रकृति एवं आत्मतत्त्व-दोनों श्रीकृष्ण के रूप हैं। अतएव जिस विश्वरूप में सब प्राकृत-तत्त्वों का समावेश है, वह भी श्रीकृष्ण का रूप है। वेणुधारी द्विभुज-श्यामसुन्दर रूप में उनकी वृन्दावन लीला तो भगवदीय है ही।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

त्रैविद्याः=तीनों वेदों में वर्णित सकम कर्म करने वाले; **माम्**=मुझे; **सोमपाः**=सोम रस को पीने वाले; **पूत**=पवित्र हुए मनुष्य; **पापाः**=पापों से; **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा; **इष्ट्वा**=पूजकर; **स्वर्गतिम्**=स्वर्ग की प्राप्ति के लिए; **प्रार्थयन्ते**=प्रार्थना करते हैं; **ते**=वे; **पुण्यम्**=पुण्य; **आसाद्य**=प्राप्त होकर; **सुरेन्द्र लोकम्**=इन्द्र लोक को; **अश्नन्ति**=भोगते हैं; **दिव्यान्**=दिव्य; **दिवि**=स्वर्ग में; **देव-भोगान्**=देव-भगों को।

अनुवाद

जो मनुष्य, तीनों वेदों में निहित सकाम कर्म करते हैं और सोम-

रस का पान करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञ द्वारा मेरी अविधि पूर्वक आराधना करते हैं। ऐसे पुण्यात्मा स्वर्गलोक को प्राप्त होकर देवताओं के भोगों को भोगते हैं ॥२०॥

तात्पर्य

'त्रैविद्याः' शब्द साम, यजु एवं ऋक् नामक तीनों वेदों का वाचक है। वह ब्राह्मण, जिसने इन तीनों वेदों का स्वाध्याय किया हो त्रिवेदी कहलाता है और इन से उपलब्ध होने वाले ज्ञान में प्रीतिवाला मनुष्य समाज में प्रतिष्ठित होता है। दुर्भाग्यवश, वेदों के अनेक महान् विद्वान उनके स्वाध्याय के परम तात्पर्य को नहीं जानते। अतएव श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में घोषित किया है कि त्रिवेदियों का परम लक्ष्य मैं ही हूं। यथार्थ त्रिवेदी श्रीकृष्ण-चरणारविन्द की शरण लेकर उनकी प्रीति के लिए विशुद्ध भक्तियोग में तत्पर रहते हैं। इस भक्तियोग का आरम्भ हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन और श्रीकृष्ण-तत्त्व को जानने के लिए प्रयत्न करने से होता है। दुर्दैववशात्, वे मनुष्य, जो वेदों के केवल औपचारिक अध्येता हैं, इन्द्र, चन्द्र आदि देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करने मे अधिक आसक्त हो जाते हैं। ऐसा प्रयास करने वाले देवोपासक प्रकृति के अधम गुणों के दोष से शुद्ध होकर महर्लोक, जन-लोक, तपोलोक, आदि उच्चीय लोको को प्राप्त हो जाते हैं। इन स्वर्गीय लोकों में इस लोक की अपेक्षा इन्द्रिय-तृप्ति के लक्ष-लक्ष गुणा श्रेष्ठ साधन सुलभ हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते=वे; तम्=उस; भुक्त्वा=भोग कर; स्वर्ग लोकम्=स्वर्ग को; विशालम्=वृहत्; क्षीणे=क्षीर्ण होने पर; पुण्यम्=पुण्य के; मर्त्यलोकम् =मृत्यु लोक पृथ्वी में; विशन्ति=गिरते हैं; एवम्=इस प्रकार; त्रयी=तीनों वेदों के; धर्मम्=सकाम कर्म-मत के; अनुप्रपन्नाः=अनुगामी; गत-

अगतम्=जन्म-मृत्यु को; कामकामाः=भोग कामना वाले; लभन्ते=प्राप्त होते हैं।

अनुवाद

वे उस स्वर्गीय विषय-सुख को भोग कर पुण्य क्षीर्ण होने पर इस मृत्युलोक को फिर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड से उन्हें क्षणभंगुर सुख की ही प्राप्ति होती है ॥२१॥

तात्पर्य

स्वर्गीय लोकों को प्राप्त हुआ जीव अपेक्षाकृत अधिक जीवन और इन्द्रिय तृप्ति की श्रेष्ठ सुविधाओं को भोगता है। परन्तु वह वहां सदा नहीं रह सकता। पुण्य-कर्मफल के क्षीर्ण होने पर उसे फिर इस मृत्यु लोक में भेज दिया जाता है। 'वेदान्त सूत्र' में निर्दिष्ट पूर्णज्ञान (**जन्माद्यस्य यतः**) की प्राप्ति जिसे नहीं हुई है, अथवा जो सब कारणों के परम कारण श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानता, वह मनुष्य जीवन के परम-लक्ष्य की प्राप्ति में विफल रहता है। वह बार-बार उच्च लोकों में जाने और फिर मृत्यु संसार में लौटते चक्र रूप में ही भटकता रहता है। भाव यह है कि देवोपासक को उस वैकुण्ठ-जगत् की प्राप्ति नहीं होती, जहां से फिर कभी पतन नहीं होता। वरन्, वह तो उच्च-निम्न लोकों में आवागमन रूपी जन्म-मृत्यु के चक्र में ही भ्रमण करता रहता है। अतएव, उत्तम होगा यदि वैकुठ-जगत् को गमन कर सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन किया जाय, जिससे इस दुःखमय मृत्युलोक में फिर कभी पुनरागमन न हो।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्याः=अनन्य भाव से; चिन्तयन्तः=चिन्तन करते हुए; **माम्**=मुझे; ये=जो; जनाः=मनुष्य; पर्युपासते=भली-भांति निष्काम भाव से भजते हैं; तेषाम्=उन; नित्य=निरन्तर; अभियुक्तानाम्=भक्ति

निष्ठ मनुष्यों की; योग-क्षेमम्=समस्त आवश्यकताओं को; वहामि=प्राप्ति कराता हूं; अहम्=मैं (स्वयं)।

अनुवाद

परन्तु जो मनुष्य अनन्य भाव से मेरे दिव्य विग्रह का चिन्तन करते हुए भक्तिभाव से मेरा भजन करते हैं, उनके योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूं ॥२२॥

तात्पर्य

जिसे क्षण भर के लिये भी कृष्णभावना का विरह असह्य है, ऐसा भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, अर्चन, दास्य, सेवन, सख्य भाव और आत्मनिवेदन, इस नवधा भक्ति के परायण हुआ चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के अनन्य चिन्तन में ही तन्मय रहता है। भक्ति की ये सारी क्रियाएं परम मंगलमय और दिव्य शक्ति सम्पन्न हैं। इस भक्ति योग से भक्त आत्म-स्वरूप को पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाता है। तब उसमें श्रीभगवान् को संग प्राप्त कर लेने की अभिलाषा ही रहती है। यही 'योग' है। श्री गोविन्द के अनुग्रह से उस भक्त का इस संसार में कभी पुनरागमन नहीं होता। 'क्षेम' का अर्थ है, श्रीभगवान् का कृपामय संरक्षण। श्रीभगवान् योग द्वारा कृष्णभावना की प्राप्ति में भक्त की सहायता करते हैं और उसके पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाने पर दुःखमय बद्ध-जीवन में गिरने से वे ही उसकी रक्षा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

ये=जो; अपि=भी; अन्य=दूसरे; देवता=देवताओं को; भक्ताः=भक्त; यजन्ते=पूजते हैं; श्रद्धया-अन्विताः=श्रद्धा भाव से; ते=वे; अपि=भी; माम्=मुझे; एव=ही; कौन्तेय=हे कुन्तीनन्दन अर्जुन; यजन्ति=यज्ञ रूप से भजते हैं; अविधिपूर्वकम्=अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञान से।

अनुवाद

हे अर्जुन ! जो सकाम भक्त श्रद्धा सहित अन्य देवताओं को यज्ञ द्वारा उपासते, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु उनकी वह आराधना अविधिपूर्वक है, अर्थात् यथार्थ ज्ञान से युक्त नहीं है ॥२३॥

तात्पर्य

श्रीकृष्ण का कथन है, "देवताओं के उपासक अल्पज्ञ हैं, यद्यपि ऐसी उपासना भी अविधि से मेरी ही उपासना है।" उदाहरणार्थ, वृक्ष के मूल का सिंचन करने के स्थान पर जब मनुष्य पत्ते, शाखा आदि को जल से सींचत है, तो वह ऐसा अल्पज्ञता के कारण अथवा विधान के प्रमादवश ही करता है। ऐसे ही, केवल उदर की पूर्ति करने से देह के सभी अंग-प्रत्यंगों की सेवा हो जाती है। परमेश्वर श्रीकृष्ण के सार्वभौम प्रशासन में देवता अलग-अलग पदाधिकारी और निदेशक हैं। प्रजा के लिए शासन के विधान पालनीय हैं, पदाधिकारियों अथवा निदेशकों के कल्पित विधान नहीं। इसी प्रकार, एकमात्र श्रीभगवान् ही जीवमात्र के आराध्य हैं। श्रीभगवान् की आराधना से उनके विभिन्न पदाधिकारी एवं निदेशक देवता स्वतः तुष्ट हो जायेंगे। शासन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने वाले अधिकारियों को घूस देना अवैध है। इसी को यहां 'अविधिपूर्वकम्' कहा है। भाव यह है कि अनावश्यक रूप से देवोपासना करना श्रीकृष्ण को प्रिय नहीं है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अहम्=मैं; **हि**=ही; **सर्व**=सारे; **यज्ञानाम्**=यज्ञों का; **भोक्ता**=भोक्ता; **प्रभुः**=स्वामी; **एव**=भी (हूं); **च**=तथा; **न**=नहीं; **तु**=परन्तु; **माम्**=मुझे; **अभिजानन्ति**=जानते; **तत्त्वेन**=तत्त्व से; **अतः**=इसलिए; **च्यवन्ति**=गिरते हैं; **ते**=वे।

अनुवाद

यथार्थ में एकमात्र मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी (लक्ष्य) हूं। जो मेरे इस यथार्थ दिव्य स्वरूप को तत्त्व से नहीं जानते वे ही गिरते हैं, अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

तात्पर्य

यहां स्पष्ट कहा है कि वेदों में नाना यज्ञ विहित हैं, परन्तु उन सबका यथार्थ लक्ष्य श्रीभगवान् को प्रसन्न करता है। 'यज्ञ' शब्द श्रीविष्णु का वाचक है। द्वितीय अध्याय में निश्चित रूप से कहा गया है कि कर्म का आचरण यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु की प्रीत के लिए ही करे। 'वर्णाश्रम-धर्म' नामक मानव संस्कृति की सिद्ध व्यवस्था का प्रयोजन विशेष रूप से श्रीविष्णु का तोषण करना है। अतएव श्रीकृष्ण स्वयं इस श्लोक में कहते हैं, "सम्पूर्ण यज्ञों का एकमात्र भोक्ता मैं हूं, क्योंकि मैं ही परमेश्वर हूं।" तथापि, यह न जानने वाले अल्पज्ञ मनुष्य क्षणिक-लाभ के लिए देवोपासना करते है। इसी कारण वे संसार में गिरते हैं और जीवन के वांछनीय लक्ष्य को प्राप्त नही होते। यद्यपि यह शुद्ध भक्ति नही होगी, परन्तु लौकिक इच्छा के लिए भी परमेश्वर श्रीभगवान् से ही याचना करना अधिक श्रेयस्कर है। इससे अवश्य अभीष्ट सिद्धि हो जायगी।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

यान्ति=प्राप्त होते हैं; **देवव्रताः**=देवताओं की उपासना करने वाले; **देवान्**=देवताओं को; **पितॄन्**=पितरों को; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **पितृव्रताः**=पितरों को पूजने वाले; **भूतानि**=भूतों को; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **भूतेज्याः**=भूतों के उपासक; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **मत्**=मेरे; **याजिनः**=भक्त; **अपि**=ही; **माम्**=मेरे को।

अनुवाद

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मुझ को ही प्राप्त होते हैं ॥२५॥

तात्पर्य

यदि किसी मनुष्य को चन्द्र, सूर्य, आदि लोकों में करके गमन की अभीप्सा हो, तो लक्ष्य के अनुसार वैदिक विधान का पालन करने से वांछित लोक प्राप्त किया जा सकता है। इन विधानों का वेदों के 'दर्श-पौर्णमासी' नामक कर्मकाण्डीय विभाग में विशद वर्णन है। वहां नाना लोकों के अधिपति देवताओं की अलग-अलग उपासना का विधान किया गया है। इसी प्रकार, विहित यज्ञ के द्वारा पितृ-लोक प्राप्त हो सकता है। ऐसे ही प्रेतलोकों में जाकर यक्ष, रक्ष अथवा पिशाच योनि को प्राप्त किया जा सकता है। पिशाचोपासन को अभिचार एवं तिमिर इन्द्रजाल कहा जाता है। इस तामसिक विद्या का अभ्यास करने वाले अनेक मनुष्य हैं, इसे जो आध्यात्मिकता समझते हैं। परन्तु वास्तव में ये पूर्णतया क्रियाए भौतिक हैं। इसी प्रकार, अनन्य भाव से श्रीभगवान् की आराधना के परा-यण हुआ, शुद्ध भक्त निस्सन्देह वैकुण्ठ और कृष्णलोक को प्राप्त हो जाता है। इस महत्त्वपूर्ण श्लोक से यह सुगमतापूर्वक हृदयंगम किया जा सकता है कि यदि देवोपासना से स्वर्ग-प्राप्ति हो जाती है, पितरों की पूजा से पितृलोक सुलभ हो जाता है और तिमिर इन्द्रजाल के अभ्यास से प्रेतलोक प्राप्त होते है, तो शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के अथवा विष्णु के लोक को प्राप्त क्यों नहीं हो सकता ? दुर्भाग्यवश, बहुत से मनुष्य श्रीकृष्ण और विष्णु के इन अलौकिक धामों से अवगत नहीं हैं। धाम-तत्त्व से अनिभिज्ञ होने के कारण ही संसार में उनका बराबर, पतन होता है। निर्विशेषवादी तो 'ब्रह्मज्योति' से भी गिर जाते हैं। अतः कृष्ण भावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण मानव समाज में इस परम कल्याणकारी ज्ञान का मुक्त-वितरण कर रहा है कि हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्त्तन करने मात्र से मनुष्य इस जीवन को सार्थक करते हुए अपने यथार्थ आवास—भगवद्धाम को फिर प्राप्त कर सकता है।

शाक, अन्न, फल, दुग्ध और जल मनुष्य के योग्य आहार हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इनका विधान किया है। इन सात्त्विक पदार्थों के अतिरिक्त हम जो कुछ भी खायेंगे, वह श्रीकृष्ण के भोग नहीं लगाया जा सकता, वे उसे स्वीकार नहीं करते। अतएव यदि हम मांस आदि निषिद्ध पदार्थों का अर्पण करेंगे तो यह प्रेममयी भक्ति के प्रतिकूल होगा।

तीसरे अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है कि एकमात्र यज्ञ से शेष बचा अन्न ही शुद्ध होता है। अतएव जीवन में अभ्युदय और माया-बन्धन से मुक्ति के अभिलाषियों के लिए यही अन्न खाने योग्य है। अन्न को भगवत्-अर्पित न करने वालों को उन्होंने उसी श्लोक में पाप खाने वाला कहा है। भाव यह है कि उनके द्वारा खाया हुआ अन्न का प्रत्येक ग्रास उनके लिए माया-जाल में अधिक बन्धनकारी सिद्ध होता है। दूसरी ओर, स्वादु शाकाहारी व्यंजन बनाने और श्रीकृष्ण के चित्र अथवा अर्चा-विग्रह को अर्पित करके वन्दनापूर्वक ऐसी तुच्छ भेंट को स्वीकार करने के लिए उनके निवेदन करने से जीवन की उत्तरोत्तर उन्नति होती है, देह की शुद्धि होती है और शुद्ध चिन्तन के उपयुक्त सूक्ष्म बौद्धिक कोशिकाओं का गठन होता है। सबसे अधिक महत्त्व इसी बात का है कि भोग प्रेमपूर्वक लगाया जाय। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के एकमात्र स्वामी हैं। अतएव उन्हें भोजन की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी वे उस मनुष्य के नैवेद्य-अर्पण को अंगीकार कर लेते हैं, जो उन्हें इस रीति से प्रसन्न करना चाहता है। वस्तुतः श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का भाव ही भोग को बनाने और भगवान् को अर्पण करने की क्रिया का सार है।

निर्विशेषवादी दार्शनिकों के लिए, जो परतत्त्व को हठपूर्वक इन्द्रिय शून्य कहते हैं, भगवद्गीता का यह श्लोक बुद्धिगम्य नहीं है। उनके लिये यह एक अलंकार-मात्र है अथवा यही सिद्ध करता है कि गीतागायक श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य हैं। सत्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य इन्द्रियों से युक्त हैं शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है कि उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य संपूर्ण इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। श्रीकृष्ण को अद्वय परतत्त्व कहने का यही तात्पर्य है। इन्द्रियों के बिना वे षडैश्वर्यपूर्ण नहीं कहलाते। सातवें

अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे अपरा प्रकृति में सम्पूर्ण जीव-समवाय का गर्भाधान करते हैं, ऐसा वे प्रकृति पर दृष्टिपात द्वारा करते हैं। इसी प्रकार, वर्तमान सन्दर्भ में श्रीकृष्ण द्वारा भोग अर्पण करते हुए भक्त की प्रेममयी प्रार्थना को सुनना भोग को आरोगना ही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वे परतत्त्व हैं, अतएव उनके श्रवण करने, भोजन करने और चखने में कोई भेद नहीं है। जो भक्त श्रीकृष्ण का ठीक उसी प्रकार मानता है, जैसा श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने विषय में वर्णन किया है, अर्थात् जो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोधर्मी नहीं करता है, वही यह समझ सकता है कि अद्वय परतत्त्व श्रीकृष्ण अर्पित भोजन को खाते हैं और इससे उन्हें आनन्द की अनुभूति भी होती है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

यत्=जो; करोषि=(तू) करता है; यत्=जो भी; अश्नासि=खाता है; यत्=जो कुछ; जुहोषि=अर्पण करता है; ददासि=दान देता है; यत्=जो; तपस्यसि=तप करता है; कौन्तेय=हे कुन्तीपुत्र; तत्=वह सब; कुरुष्व=कर; मत्=मेरे; अर्पणम्=अर्पण।

अनुवाद

इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन और दान करता है तथा जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ॥२७॥

तात्पर्य

मनुष्य-मात्र का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार ढाल ले कि किसी भी परिस्थिति में श्रीकृष्ण की विस्मृति न हो। प्राणधारण के लिए कर्म करना सभी के लिए आवश्यक है, अतएव श्रीकृष्ण यहां आदेश दे रहे हैं कि उन्ही के लिए सारे कर्म करे। जीवन-धारण के लिए भोजन करना पड़ेगा; अतएव श्रीकृष्ण का प्रसाद

ही था। । सभ्य मनुष्य के लिए कुछ धार्मिक कर्मकाण्ड आवश्यक हैं, अतः श्रीकृष्ण की आज्ञा है, "यह सब मेरे अर्पण कर।" इसी को अर्चन कहा जाता है। दान देने की प्रवृत्ति सब में रहती है; श्रीकृष्ण कहते हैं, "धन का दान मुझे करो।" इसका तात्पर्य यह है कि सारे संचित धन का सदुपयोग कृष्णभावना आन्दोलन को अधिकाधिक प्रसारित करने में ही करे। आजकल ध्यान योग की पद्धति में लोगों की अभिरुचि अधिक हो रही है, जो इस युग में व्यावहारिक नहीं है। परन्तु जो पुरुष जप-माला पर हरे कृष्ण महामन्त्र का जप करते हुए चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के ध्यान में निमग्न रहने का अभ्यास करते हैं, वे निश्चित रूप से परम योगी हैं, जैसा छठे अध्याय से प्रमाणित होता है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

शुभ=शुभ; **अशुभ**=अशुभ; **फलैः**=फलों से; **एवम्**=इस प्रकार; **मोक्ष्यसे**=मुक्त हो जायगा; **कर्म बन्धनैः**=बन्धन से; **संन्यास**=संन्यास (त्याग) के; **योग**=योग से; **युक्त-आत्मा**=युक्त हुए मन वाला; **विमुक्तः**=मुक्त हुआ; **माम्**=मुझे (ही); **उपैष्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

इस प्रकार तू सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मफलों से मुक्त हो जायगा और इस संन्यासयोग से युक्त हुआ चित्तवाला मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥२८॥

तात्पर्य

आचार्य के आश्रय में कृष्णभावनाभावित कर्म करने के परायण हुए मनुष्य को 'युक्त' कहा जाता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने 'युक्त वैराग्य' नामक इस अवस्था का विशद विवेचन किया है।

श्रील रूप गोस्वामिचरण कहते हैं कि जबतक हम इस संसार में हैं, तब तक कर्म करना ही होगा, हम क्रियाहीन कभी नहीं हो सकते। अतएव यदि

कर्म किए जायं और उनका फल श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया जाय, तो उसे 'युक्त वैराग्य' कहा जायगा। ये संन्यासयोगमयी क्रियाएं चित्त रूपी दर्पण का मार्जन कर देती हैं। इसके फलस्वरूप, शनैः शनैः भागवत पथ पर अग्रसर होता हुआ साधक पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के शरणागत हो जाता है और अन्त में विशिष्ट मुक्ति-लाभ करता है। उसकी मुक्ति का यह अर्थ नहीं कि 'ब्रह्मज्योति' से एकत्त्व को प्राप्त होता है; वरन् वह तो श्रीभगवान के धाम में प्रवेश करता है। स्पष्ट कहा है : "मामुपैष्यसि"—"वह अपने यथार्थ आवास—मेरे को ही प्राप्त होता है।" मुक्ति पांच प्रकार की होती है। परन्तु यहां कहा गया है कि सम्पूर्ण जीवन में भगवत्-आज्ञा का पालन करने वाला भक्त उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जहां से देह का अन्त होने पर वह भगवद्धाम में प्रविष्ट होकर साक्षात् श्रीभगवान् का संग कर सकता है।

जो भगवत्सेवा में जीवन समर्पित कर देने की अनन्य रुचि से युक्त है, वह मनुष्य वास्तव में 'संन्यासी' ही है। ऐसा मनुष्य अपने को श्रीभगवान् का नित्यदास मानता है, सदा भगवत्-संकल्प के आश्रित रहता है। इसलिए वह कुछ भी कर्म करता है, श्रीभगवान् के परितोष के लिये ही करता है। इससे उसका प्रत्येक कर्म भगवत्सेवामय बन जाता है। वह वेद-विहित सकाम-कर्म और स्वधर्म को महत्त्व नही देता। सामान्य पुरुषों के लिए ही वैदिक स्वधर्म का पालन अनिवार्य है। परन्तु पूर्णतया भगवत्सेवानिष्ठ शुद्ध भक्त वैदिक-विधान के विपरीत आचरण नही करता, यद्यपि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है।

वैष्णव आचार्यों का कथन है कि मूर्धन्य मनीषी भी शुद्ध भक्त के संकल्प और क्रिया-कलाप के भाव को समझ नहीं सकता—**"वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञे न बुझय"** इस प्रकार, जो मनुष्य भगवत्सेवा में नित्य तत्पर रहता है, अथवा तत्सम्बन्धी चिन्तन में संलग्न रहता है, वह देहान्त होने पर ही मुक्ति-लाभ करता हो, ऐसा नहीं; वह तो वर्तमान में भी पूर्णरूप से मुक्त ही है। उसके लिए अपने यथार्थ आवास—भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है। श्रीकृष्ण के समान वह भी किसी लौकिक आलोचना का विषय नही हो सकता।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

समः=सम भाव रखता हूं; **अहम्**=मैं; **सर्व भूतेषु**=सब जीवों में; **न**=न (कोई); **मे**=मेरा; **द्वेष्यः**=अप्रिय; **अस्ति**=है (और); **न**=न; **प्रियः**=प्रिय (है); **ये**=जो; **भजन्ति**=सेवा करते हैं; **तु**=परन्तु; **माम्**=मेरी; **भक्त्या**=भक्तिभाव से; **मयि**=मेरे में; **ते**=वे (हैं); **तेषु**=उन में; **च**=तथा; **अपि**=भी; **अहम्**=मैं (हूं)।

अनुवाद

मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूं; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो भी प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय में ही स्थित हैं, तथा मैं भी उनका प्रेमी हूं, उनमें हूं ॥२९॥

तात्पर्य

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि श्रीकृष्ण का जीवमात्र में समभाव है और कोई भी उनका विशेष प्रिय नहीं है, तो फिर वे अपनी भक्ति में नित्य तत्पर रहने वाले भक्तों का विशेष ध्यान क्यों रखते हैं ? वास्तव में यह भेद-भाव नहीं है; यह तो स्वाभाविक ही है। कोई मनुष्य महादानी हो सकता है, परन्तु वह भी अपनी सन्तान में विशेष रुचि रखता है। श्रीभगवान् कहते है कि जीवमात्र, चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो, उनका पुत्र है और यही कारण है कि वे सम्पूर्ण प्राणियों की आवश्यकताओं की उदारता से पूर्ति करते हैं। वे उस मेघ के सदृश हैं जो पाषाण, थल अथवा जल में भेद किये बिना सर्वत्र समान रूप से परिवर्षण करता है। परन्तु भक्त अवश्य उनके विशेष कृपा-पात्र हैं, अर्थात् श्रीभगवान् विशेषरूप से भक्त-वत्सल हैं। ऐसे भक्तों का यहां वर्णन है। नित्य कृष्णभावनाभावित रहने वाले ये भक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण में ही स्थित रहते हैं। 'कृष्णभावना' शब्द से ही यह प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार भावित मति वाले मनुष्य श्रीभगवान् में स्थित हुए जीवन्मुक्त

योगी हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कहा है : 'मय ते'—'वे मुझ में हैं।' अतएव भगवान् श्रीकृष्ण भी उनमें स्थिति हैं। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इससे श्रीभगवान् के इन शब्दों का तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है : "अस्ति न प्रियः", "ये भजन्तिः"। "अपने प्रति जीव की शरणागति के अनुपात में ही मैं उसका ध्यान रखता हूं।" श्रीभगवान् एवं भक्त—दोनों चेतन हैं। इसी से यह चिन्मय रस-विनिमय होता है। यह स्वर्णमणि न्याय से समझा जा सकता है। मुद्रिका में लगी हुई मणि अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। एक साथ होने पर दोनों स्वर्ण और मणि की शोभा बढ़ जाती है। श्रीभगवान् और जीव में शाश्वत् प्रभा (द्युति) है। भगवत्-सेवा के उन्मुख हुआ जीव स्वर्ण के समान है और श्रीभगवान् मणि हैं। इस प्रकार यह जोड़ी अभिराम लगती है। शुद्धान्तःकरण जीव भक्त कहलाते हैं। श्रीभगवान् भी अपने भक्त के भक्त बन जाते हैं। भक्त और भगवान् में इस विनिमय-सम्बन्ध के बिना भागवत-दर्शन (सविशेषवाद) तो सिद्ध ही नही होता। निर्विशेषवाद में परतत्त्व और जीव में परस्पर कोई रस-विनिमय नही होता, जबकि सविशेषवाद में ऐसा अवश्य होता है।

यह अति प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि श्रीभगवान् कल्पवृक्ष के सदृश हैं। सामान्य रूप से माना जाता है कि कल्पवृक्ष के समान प्रभु सबकी इच्छा-पूर्ति करते हैं। परन्तु यहाँ इस तत्त्व का विशेष विवेचन किया गया है। यहां श्रीभगवान् को अपने भक्तों का पक्षपाती कहा गया है, जो उनकी विशिष्ट भक्तवत्सलता को ही प्रकट करता है। भक्तों के साथ श्रीभगवान् के रस-विनिमय को कर्म-सिद्धान्त के आधीन नही समझना चाहिए वह तो उस दिव्य अवस्था में होता है, जिसमें श्रीभगवान् एवं उनके भक्त क्रियाशील हैं। भगवद्भक्ति इस प्राकृत-जगत् की क्रिया नही है, वह उस वैकुण्ठ-जगत् की अंगभूता है, जहां सच्चिदानन्द रसमयिता का अधिकार है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अपि=भी; चेत्=यदि; सुदुराचारः=अतिशय दुराचारी; भजते =भक्ति योग में तत्पर हो जाता है; माम्=मेरे; अनन्य भाक्=अनन्य भाव से; साधुः=सन्त; एव=ही; सः=वह; मन्तव्यः=मानने योग्य है; सम्यक्=यथार्थ; व्यवस्थितः=निष्ठा वाला है; हि=क्योंकि; सः=वह ।

अनुवाद

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्य भक्ति के परायण हो जाय, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि वह मेरी एकान्त निष्ठा रूप श्रेष्ठ निश्चय वाला है ।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में 'सुदराचारः' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है; इसके अर्थ को भली-भांति समझना चाहिए । बद्ध-जीव की क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं—सांसारिक और स्वरूपभूता । देह-धारण अथवा समाज और राष्ट्र के विधान के पालनार्थ विभिन्न सांसारिक क्रियाएं होती हैं । बद्ध-जीवन में भक्तों के लिये भी ये कार्य हैं । इन बद्ध क्रियाओं के अतिरिक्त, दिव्य स्वरूप को पूर्ण रूप से जानकर भक्तियोग अथवा कृष्णभावना के परायण हुआ जीव दिव्य क्रियाओं का सम्पादन भी करता है । इन स्वरूपभूता क्रियाओं को ही भक्तियोग कहते हैं । बद्धावस्था में सामान्यतः भक्तियोगमयी सेवा और देह-सम्बन्धी सेवा समानान्तर रूप में एक साथ सम्पादित होती रहती हैं । परन्तु कभी-कभी इन दोनों कार्यों में परस्पर विरोध भी उत्पन्न हो सकता है । भक्त यथासम्भव पूरा ध्यान रखता है कि वह कोई ऐसा कार्य न कर बैठे जिससे उसकी हितावह अवस्था में बाधा आए । वह जानता है कि कृष्णभावना की शनैः शनैः उत्तरोत्तर अनुभूति पर ही उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं की सफलता निर्भर करती है । ऐसा होने पर भी, कदाचित् देखा जाता है कि कृष्णभावनाभावित मनुष्य कोई ऐसा कर्म कर बैठता है, जो समाज अथवा राज की दृष्टि से अति विगर्हित है; किन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह भक्ति के अयोग्य नहीं हो जाता है । 'श्रीमद्भागवत' में

कहा है कि अनन्यभाव से भगवद्भक्ति के परायण हुआ मनुष्य यदि पतित भी हो जाय, तो अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि उसका परिष्कार करके पाप से मुक्त कर देते हैं। माया इतना प्रबल है कि पूर्णतया भगवद्-भक्ति-निष्ठ योगी भी कदाचित् उसे ग्रस्त हो जाता है। किन्तु कृष्णभावना अधिक शक्ति-सम्पन्न है, जिससे इस प्रकार के प्रासंगिक स्खलन-पतन का तत्काल परिशोधन हो जाता है। अस्तु, भक्तिमार्ग की सफलता नित्यसिद्ध है। यदि भक्त अकस्मात् आदर्श भागवत-पथ से कदाचित् च्युत भी हो जाय, तो कोई उसका उपहास न करे। जैसा अनुवर्ती श्लोक में स्पष्ट किया गया है, उसके पूर्णतया कृष्णभावना-भावित होते ही ऐसे आकस्मिक पतन समाप्त हो जायेंगे।

अतएव जो पुरुष कृष्णभावना में स्थित हुआ निश्चयपूर्वक 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' महामन्त्र का जप करता है वह यदि प्रसंगवश अथवा अकस्मात् दुर्घटना के कारण अपनी स्थिति से गिर भी जाय, तो भी उसे महात्मा ही समझना चाहिए। इस संदर्भ में 'साधुरेव' (वह महात्मा है) शब्द अति निश्चयात्मक है। इससे अभक्तों को चेतावनी दी गयी है कि वे आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास न करें; वरन्, उसे साधु ही मानें। 'मन्तव्यः' शब्द तो और भी अधिक सशक्त है। इस श्लोक के विधान को न मानकर आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास करना भगवत्-आज्ञा की अवहेलना होगी। भक्त से केवल इसी एक योग्यता की अपेक्षा है कि भक्तियोग में उसकी अनन्य निष्ठा हो।

चन्द्रमा पर दिखायी देने वाले कलंक से चन्द्रिका प्रतिहत नहीं होती। ऐसे ही, साधु-पथ से भक्त का प्रासंगिक स्खलन उसे पापात्मा नहीं बना देता। परन्तु साथ ही, इस भ्रान्त धारणा में न रहे कि भग-वत् परायण भक्त सब प्रकार के निन्द्य कर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। इस श्लोक का तात्पर्य विषय-संसर्ग की प्रबलता के कारण घटित हुई दुर्घटना से ही है। भगवद्भक्ति करना वस्तुत: माया पर आक्रमण करना है। जब तक भक्त माया से लड़ने में समर्थ नहीं है, तब तक इस प्रकार की दुर्घटनाओं का घटित होना सर्वथा सम्भव है। किन्तु, जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, पूर्ण सशक्त हो जाने पर उसका फिर कभी पतन नहीं होता।

कोई भी मनुष्य इस श्लोक के बल पर पापाचार में प्रवृत्त होते हुए भी अपने को भक्त न समझे। यदि भगवद्भक्ति के साधन से भी चरित्र शुद्ध नहीं होता तो यह समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ भक्त नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

क्षिप्रम्=अति शीघ्र; **भवति**=हो जाता है; **धर्मात्मा**=धर्म परायण; **शश्वत्-शान्तिम्**=सदा रहने वाली परम शान्ति को; **निगच्छति**=प्राप्त होता है; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **प्रतिजानीहि**=निश्चयपूर्वक उद्घोष कर; **न**=कभी नहीं; **मे**=मेरा; **भक्तः**=भक्त; **प्रणश्यति**=नष्ट होता।

अनुवाद

वह शीघ्र ही धर्मात्मा बनकर सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक घोषिणा कर कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता॥३१॥

तात्पर्य

इस का भ्रान्त अर्थ नहीं लगाना चाहिए। सातवें अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं कि दुष्ट कर्म करने वाले उनके भक्त नहीं बन सकते। जो भक्त नहीं है, उसमें कोई सद्गुण नहीं होता। अतएव इस प्रकार यह प्रश्न रहता है कि स्वेच्छा से, अर्थात् दुर्घटना के कारण पापकर्म में प्रवृत्त हुआ मनुष्य शुद्ध भक्त कैसे हो सकता है? वर्तमान सन्दर्भ में यह जिज्ञासा समीचीन भी है। सातवें अध्याय के अनुसार, जो दुष्ट सदा भगवद्भक्ति से विमुख रहते हैं, उनमें कोई सद्गुण नहीं होता, जैसा श्रीमद्भागवत में कहा गया है। नवधा भक्ति करने वाला समस्त प्राकृत दोषों से हृदय को शुद्ध करने में प्रवृत्त रहता है। वह श्रीभगवान् को अपने हृदय-कमल पर अभिराजित कर लेता है, जिससे सभी पापमय दोषों का स्वतः परिमार्जन हो जाता है। निरन्तर भगवच्चिन्तन के प्रभाव से उसका स्वभाव निर्मल बन जाता है। वेदों में

विधान है कि परमार्थ के पथ से भ्रष्ट हुआ पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्रायश्चित करे। किन्तु यहां ऐसा कोई विधान नहीं किया गया है, क्योंकि भक्त के हृदय में निरन्तर भगवच्चिन्तन रूपी शुद्धि का साधन पहिले ही विद्यमान है। अतएव उस के लिए यह पर्याप्त है कि 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करता रहे। इसके द्वारा सभी प्रासंगिक पतनों से रक्षा हो जायगी और वह सम्पूर्ण प्राकृत विकारों से सदा मुक्त रहेगा।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिं ॥३२॥

माम्=मेरे; हि=निस्सन्देह; पार्थ=हे पृथापुत्र अर्जुन; व्यपाश्रित्य=अनन्य भाव से शरणागत होकर; ये=जो कोई; अपि=भी; स्युः=हों; पाप योनयः=पाप योनि वाले; स्त्रियः=स्त्रियां; वैश्याः=वैश्य; तथा=भी; शूद्राः=शूद्र; ते अपि=वे भी; यान्ति=प्राप्त होते हैं; परम्=परम; गतिम्=गति को।

अनुवाद

हे पार्थ ! मेरी शरण होकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं ॥३२॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में स्पष्ट घोषणा की है कि भक्तियोग में सभी का समान अधिकार है, इसमें जाति-पांति का भेद नहीं है। उच्च-निम्न जातियों के भेद देह को अपना स्वरूप समझने से है; परन्तु भगवद्भक्त के लिए ऐसा कोई भेद-भाव नहीं रहता। परम गति की प्राप्ति में सभी का अधिकार है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि अधम योनि चाण्डाल तक शुद्ध भक्त के सत्संग से शुद्ध हो जाते हैं। भगवद्भक्ति एवं शुद्धभक्त की आश्रयता इतनी शक्तिसम्पन्न है कि इसमें ऊँच-नीच

कोई भी मनुष्य इस श्लोक के बल पर पापाचार में प्रवृत्त होते हुए भी अपने को भक्त न समझे। यदि भगवद्भक्ति के साधन से भी चरित्र शुद्ध नहीं होता तो यह समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ भक्त नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

क्षिप्रम्=अति शीघ्र; **भवति**=हो जाता है; **धर्मात्मा**=धर्म परायण; **शश्वत्-शान्तिम्**=सदा रहने वाली परम शान्ति को; **निगच्छति**=प्राप्त होता है; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **प्रतिजानीहि**=निश्चयपूर्वक उद्घोष कर; **न**=कभी नहीं; **मे**=मेरा; **भक्तः**=भक्त; **प्रणश्यति**=नष्ट होता।

अनुवाद

वह शीघ्र ही धर्मात्मा बनकर सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक घोषिणा कर कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता ॥३१॥

तात्पर्य

इस का भ्रान्त अर्थ नहीं लगाना चाहिए। सातवें अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं कि दुष्ट कर्म करने वाले उनके भक्त नहीं बन सकते। जो भक्त नहीं है, उसमें कोई सद्गुण नहीं होता। अतएव इस प्रकार यह प्रश्न रहता है कि स्वेच्छा से, अर्थात् दुर्घटना के कारण पापकर्म में प्रवृत्त हुआ मनुष्य शुद्ध भक्त कैसे हो सकता है? वर्तमान सन्दर्भ में यह जिज्ञासा समीचीन भी है। सातवें अध्याय के अनुसार, जो दुष्ट सदा भगवद्भक्ति से विमुख रहते हैं, उनमें कोई सद्गुण नहीं होता, जैसा श्रीमद्भागवत में कहा गया है। नवधा भक्ति करने वाला समस्त प्राकृत दोषों से हृदय को शुद्ध करने में प्रवृत्त रहता है। वह श्रीभगवान् को अपने हृदय-कमल पर अभिराजित कर लेता है, जिससे सभी पापमय दोषों का स्वतः परिमार्जन हो जाता है। निरन्तर भगवच्चिन्तन के प्रभाव से उसका स्वभाव निर्मल बन जाता है। वेदों में

विधान है कि परमार्थ के पथ से भ्रष्ट हुआ पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्रायश्चित करे। किन्तु यहां ऐसा कोई विधान नहीं किया गया है, क्योंकि भक्त के हृदय में निरन्तर भगवच्चिन्तन रूपी शुद्धि का साधन पहिले ही विद्यमान है। अतएव उस के लिए यह पर्याप्त है कि 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करता रहे। इसके द्वारा सभी प्रासंगिक पतनों से रक्षा हो जायगी और वह सम्पूर्ण प्राकृत विकारों से सदा मुक्त रहेगा।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिं ॥३२॥

माम्=मेरे; हि=निस्सन्देह; पार्थ=हे पृथापुत्र अर्जुन; व्यपाश्रित्य=अनन्य भाव से शरणागत होकर; ये=जो कोई; अपि=भी; स्युः=हों; पाप योनयः=पाप योनि वाले; स्त्रियः=स्त्रियां; वैश्याः=वैश्य; तथा=भी; शूद्राः=शूद्र; ते अपि=वे भी; यान्ति=प्राप्त होते हैं; परम्=परम; गतिम्=गति को।

अनुवाद

हे पार्थ ! मेरी शरण होकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते है ॥३२॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने इस श्लोक मे स्पष्ट घोषणा की है कि भक्तियोग में सभी का समान अधिकार है, इसमें जाति-पांति काभेद नही है। उच्च-निम्न जातियों के भेद देह को अपना स्वरूप समझने से हैं; परन्तु भगवद्भक्त के लिए ऐसा कोई भेद-भाव नही रहता। परम गति की प्राप्ति में सभी का अधिकार है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि अधम योनि चाण्डाल तक शुद्ध भक्त के सत्संग से शुद्ध हो जाते हैं। भगवद्भक्ति एवं शुद्धभक्त की आश्रयता इतनी शक्तिसम्पन्न है कि इसमें ऊँच-नीच

जातियों का भेद नहीं है; कोई भी जीव भक्ति-मार्ग को ग्रहण कर सकता है। सर्वथा विद्याहीन मनुष्य भी यदि शुद्धभक्त का आश्रय ग्रहण करे, तो उसके मार्ग दर्शन में शुद्ध हो सकता है। प्राकृतिक गुणों के अनुसार मनुष्यों को चार वर्गों में वर्गीकरण किया गया है; सत्त्वगुणी (ब्राह्मण), रजोगुणी (क्षत्रिय), रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त (वैश्य) और तमोगुणी (शूद्र)। इनसे भी अधम मनुष्य पापयोनि चाण्डाल कहलाते हैं। सामान्यतः इन अन्त्यजों को उच्च वर्ण अंगीकार नहीं करते। किन्तु भगवद्भक्तियोग एवं शुद्ध-भक्त इतने अधिक समर्थ हैं कि इनकी कृपा से नीच-वर्ण भी मानव-जीवन की परम कृतार्थता को प्राप्त हो सकते हैं। श्रीकृष्ण के शरणागत होने से यह स्थिति सम्भव हो जाती है। अतएव अनन्य भाव से श्रीकृष्ण का आश्रय लिया जाय, यह सभी के लिए अनिवार्य है। ऐसा करने वाला ज्ञानियों और योगियों से कहीं अधिक गौरवान्वित होगा।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

किम्=क्या; पुनः=फिर; ब्राह्मणाः=ब्राह्मण; पुण्याः=सदाचारी; भक्ताः=भक्तजन; राजर्षयः=राजऋषि; तथा=और; अनित्यम्=क्षण-भंगुर; असुखम्=दुःखमय; लोकम्=लोक को; इमम्=इस; प्राप्य=प्राप्त होकर; भजस्व=भज; माम्=मुझे (ही)।

अनुवाद

फिर क्या कहना है कि पुण्यात्मा ब्राह्मण और राजर्षि परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए इस क्षणभंगुर और दुःखमय संसार को प्राप्त होकर मेरा ही भजन कर ॥३३॥

तात्पर्य

इस संसार में मनुष्यों के विविध वर्ग हैं, परन्तु अन्तिम परिणाम में यह किसी के लिए सुखद स्थान सिद्ध नहीं होता। यहां स्पष्ट उक्ति है;

'अनित्यमसुखं लोकम्' : क्षणभंगुर और दुःखमय होने से यह संसार किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के लिए निवास के योग्य नहीं है। स्वयं श्रीभगवान् ने इस जगत् को अनित्य और दुःखमय कहा है। कतिपय दार्शनिक, विशेषरूप से गौण दर्शनवेत्ता कहते हैं कि जगत् मिथ्या है। किन्तु 'भगवद्गीता' से स्पष्ट है कि संसार मिथ्या नहीं है, अपितु अनित्य है। 'अनित्यत्व' और 'मिथ्यापन' में गम्भीर भेद है। यह जगत् अनित्य है, परन्तु एक अन्य नित्य जगत् भी है। यह जगत् दुःखालय है, जबकि वह (वैकुंठ जगत्) सच्चिदानन्दमय है।

अर्जुन का जन्म राजर्षि-कुल में हुआ था। अतएव श्रीभगवान् उसका आह्वान करते हुए कहते हैं—"हे अर्जुन! मेरी भक्ति को अंगीकार करके शीघ्र अपने यथार्थ आवास—मेरे धाम में लौट आ।" यह दुःखमय जगत् किसी के भी रहने योग्य नहीं है। अतएव जीव-मात्र को चाहिए कि भगवान् के परिरम्भण में आसक्त होकर शाश्वत् सुख को प्राप्त हो जाय। भगवद्भक्ति ही सभी वर्गों के मनुष्यों के सम्पूर्ण दुःखों को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अतएव प्रत्येक मनुष्य कृष्णभावना को अंगीकार कर अपने जीवन को कृतार्थ और सार्थक करे।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मत्-मनाः=मन से नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाला; भव=हो; मत्=मेरा; भक्तः=भक्त (हो); मत्=मेरा; याजी=पूजन कर; माम्=मुझे; नमस्कुरु=दण्डवत् प्रणाम कर; माम्=मुझको; एव=ही; एष्यसि=प्राप्त होगा; युक्त्वा एवम्=इस प्रकार तन्मय हुआ; आत्मनम्=अपने आत्मा से; मत्परायणः=मेरे शरण हुआ।

अनुवाद

मन से नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा चिन्तन कर, मेरा ही पूजन कर और अतिशय प्रेम सहित मुझको ही प्रणाम कर। इस प्रकार मुझमें तन्मय हुआ तू मुझ को ही प्राप्त होगा॥३४॥

तात्पर्य

इस श्लोक में निश्चित कथन है कि इस दूषित संसार के बन्धनों से मुक्ति का एकमात्र साधन कृष्णभावना है। यद्यपि यहां स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण भक्तियोग के लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश, असाधु व्याख्याकार इस अति स्पष्ट तथ्य को तोड़-मरोड़ कर पाठक का चित्त सर्वथा असाव्य कुपथ में लगा देते हैं। ये व्याख्याकार नहीं जानते हैं कि श्रीकृष्ण के चित्त और स्वयं श्रीकृष्ण में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे परतत्त्व पुरुषोत्तम है। उनके देह, चित्त और स्वयं वे अद्वय एकतत्त्व हैं। श्री चैतन्यचरितामृत, आदि-लीला, अध्याय पांच, श्लोक ४१-४८ पर अपने अणुभाष्य में श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने 'कूर्म पुराण' में यह प्रमाण उदधृत किया है: **'देह देहि विभेदोऽयं नेश्वरे विभेद्यते क्वचित्'** अर्थात्, परमेश्वर श्रीकृष्ण में और उनके देह में भेद नहीं है। इस कृष्ण-तत्त्व को न जानने वाले व्याख्याता और अपने वाग्चातुर्य से श्रीकृष्ण को छिपाते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप उनके देह और मन से अलग है। यद्यपि ऐसा कहना कृष्ण-तत्त्व के नितान्त अज्ञान का द्योतक है, कुछ मनुष्य इस प्रकार जनता को भ्रान्त करके ही बड़ा धन अर्जित कर लेते है।

कुछ आसुरी-भाव वाले मनुष्य भी श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं, परन्तु उनका चिन्तन कंस की भांति द्वेषपूर्वक होता है। कंस वैरी-रूप में श्रीकृष्ण के चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहता था। उसे सदा यही चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं श्रीकृष्ण इसी क्षण न आ जायें। इस प्रकार के प्रतिकूल चिन्तन से लाभ नहीं हो सकता। अतएव श्रीकृष्ण का चिन्तन प्रेम-भाव से करे; इसी का नाम 'भक्ति' है। श्रीकृष्ण-तत्त्व का नित्य अनुकूल अनुशीलन करते रहना चाहिए। प्रामाणिक गुरु के आश्रय में शिक्षा ग्रहण करना ही वस्तुतः श्रीकृष्ण-तत्त्व का अनुकूल अनुशीलन है। हम बहुधा विवेचन कर चुके हैं कि कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनका विग्रह प्राकृत नहीं है, वरन् सच्चिदानन्दघन है। इस प्रकार की वार्ता भक्त बनने में सहायक होती है। दूसरी ओर, अवांछित व्यक्तियों से श्रीकृष्ण के तत्त्व का समझना तो निरर्थक ही है।

अस्तु, चित्त को श्रीकृष्ण के नीलोत्पलश्यामल सर्वगुणनिलय माधुर्य सार-सर्वस्व, आद्य, नित्य श्रीविग्रह में ही निवेशित रखे और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं—इस हार्दिक विश्वास के साथ उन की पूजा में तत्पर रहे। इस भक्तियोग का एक अंग श्रीकृष्ण को प्रणाम करना भी है। भगवत्-विग्रह के समक्ष दण्डवत् प्रणाम करते हुए चित्त, देह और क्रिया-कलाप, आदि सब कुछ श्रीकृष्ण के ही परायण रखे। इससे श्रीकृष्ण में अविचल तन्मयता और अन्त में कृष्णलोक की प्राप्ति सुलभ हो जायगी। असाधु व्याख्याकारों के वाग्चातुर्य से पथभ्रष्ट न होकर श्रीकृष्ण श्रवण, कीर्त्तन, आदि नवधा भक्ति में निष्ठ रहे। वस्तुतः शुद्ध कृष्णभक्ति ही मानव-समाज की परम उपलब्धि है।

सातवें और आठवें अध्याय में ज्ञानयोग, ध्यानयोग और सकाम कर्मों से स्वतन्त्र, शुद्धभक्तियोग का प्रतिपादन हुआ है। जो पूर्णतया शुद्ध नहीं हुए हैं, वे ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति, एकदेशीय परमात्मा आदि श्रीभगवान् के अन्यान्य रूपों की ओर आकृष्ट होते हैं। शुद्ध भक्त तो सीधे ही भगवत्-सेवा का पथ अंगीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण विषयक एक अति मधुर कविता में उल्लेख है कि देवोपासना करने वाला मनुष्य परम अज्ञानी है, उसे भक्ति के परम फल-श्रीकृष्ण की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यद्यपि भक्तियोग के प्रारम्भिक भक्त का कदाचित् पतन हो सकता है, फिर भी वह सब दार्शनिकों और योगियों से उत्तम ही मान्य है। नित्य निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहने वाला निस्सन्देह परम सन्त है। उसके द्वारा प्रसंग होने वाली भक्ति के प्रतिकूल क्रियाएं शनैः शनैः समाप्त हो जायंगी और वह शीघ्र ही परम संसिद्ध को प्राप्त हो जायगा। शुद्ध भक्त के पतन का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं अपने शुद्ध भक्त का ध्यान रखते है। अतएव, यथार्थ में सुखी वही है, जो इस कृष्ण-भावना-वीथि को अंगीकार कर इस संसार में ही सुखी हो जाय। इससे उसे यथासमय श्रीकृष्ण रूपी परम फल की प्राप्ति हो जायगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये नवमोऽध्यायः ॥